संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन

डॉ० भोलाशङ्कर व्यास
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

द्वितीय संस्करण
१९६१ ई०
मूल्य पाँच रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

प्राक्कथन

विश्वके भाषा-परिवारोंमें भारत-यूरोपीय भाषा-परिवार बृहत्तम परिवार है, जिसकी भाषाएँ यूरोपसे लेकर भारत तक व्यवहृत होती है। संस्कृत इसी परिवारकी मुख्य भाषा है। इस दृष्टिसे संस्कृतका ग्रीक, लैटिन, प्राचीन चर्च स्लावोनिक-जैसी प्राचीन भाषाओंसे घनिष्ठ सबन्ध है। पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्ताकी भाषा तथा वैदिक संस्कृतकी प्रकृति तो परस्पर इतनी निकट है कि उन्हें एक ही भाषाकी दो विभाषाएँ घोषित किया जा सकता है। यूरोपीय जगत्‌को संस्कृत भाषाका परिचय मिलनेपर १६ वीं शतीमें यूरोपमें भाषाविज्ञानके क्षेत्रमें जो उन्नति हुई, उसने ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता तथा संस्कृतकी प्रकृतियोंका तुलनात्मक अध्ययन कर इस विषयका अन्वेषण किया कि इन भाषाओंके बोलनेवाले पूर्वज आरम्भमें एक-सी ही भाषाका व्यवहार करते होंगे। इसीके आधारपर आदिम भारत-यूरोपीय जैसी कल्पित भाषाकी अवतारणा की गई। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतमें नि.सन्देह इतनी अधिक ध्वन्यात्मक और पदरचनात्मक समानताएँ पाई जाती है कि उपर्युक्त निर्णयपर पहुँचना स्वाभाविक है। भारत-यूरोपीय भाषाशास्त्रकी दिशामें श्लेगेल, रास्क, ग्रिम, फ्रेंज बॉप, श्लेखर, ब्रुगमान, मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख-जैसे यूरोपीय विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस दिशामें अधिकतर कार्य फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओंके माध्यमसे हुआ है, तथा आंग्ल भाषामें भी इस विषयमें कुछ पुस्तकें दृष्टिगोचर होती है। अब तककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंको ध्यानमें रखकर लिखी गई दो पुस्तकें अंगरेजीमें पाई जाती है, जो खास तौरपर संस्कृत भाषापर लिखी गई हैं; एक डॉ० घोषकी पुस्तक, दूसरी प्रोफेसर बरोकी पुस्तक। प्रोफेसर बरोकी पुस्तक अभी दो-तीन वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुई है। इस

दृष्टिसे हिन्दीमें ऐसी पुस्तककी कमी खटक रही थी, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत भाषापर लिखी गई हो। डॉ० भोलाशङ्कर व्यासकी पुस्तक "संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन" ने इस कमीको पूरा कर दिया है। इस पुस्तकमें डॉ० व्यासने अबतककी समस्त भाषाशास्त्रीय गवेषणाओं और मान्य कृतियोंका उपयोग करते हुए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय रूपरेखा प्रस्तुत की है। साथ ही संस्कृत भाषाका प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें किस प्रकार विकास हुआ है, इसे भी अन्तिम परिच्छेदमें निबद्धकर संक्षेपमें भारतीय आर्य भाषाओंके विकासकी गतिविधि प्रदर्शित कर दी है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंके विद्यार्थीके लिए संस्कृतकी भाषाशास्त्रीय प्रकृति तथा उसकी भावी गति-विधिका सम्यक् ज्ञान आवश्यक हो जाता है, अतः यह पुस्तक भारतीय भाषाशास्त्रके अध्येताके लिए बड़ी उपयोगी होगी। साथ ही इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दीके महान् अभावकी पूर्ति भी हो रही है। पुस्तक गवेषणा तथा विद्वत्तापूर्ण है और डॉ० भोलाशङ्कर व्यासका यह प्रयास सर्वथा सराहनाके योग्य है।

रमाशङ्कर त्रिपाठी
प्रिंसिपल, सेण्ट्रल हिंदू कालेज
तथा डीन, फैकल्टी आफ आर्ट्स

काशी विश्वविद्यालय
७, जनवरी १९५७

निवेदन

पिछले डेढ सौ वर्षोंमें यूरोपीय भाषाशास्त्रियोंने भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमें कई उद्भावनाएँ की हैं। इन खोजोंने संस्कृत भाषाके महत्त्वको और बढा दिया है। भारतीय आर्य भाषाओंके भाषाशास्त्रीय अध्ययनके लिए तो संस्कृतका दुहरा महत्त्व है, एक ओर यह इन भाषाओंकी जन्मदात्री है, दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रतकके आवश्यक ज्ञानके लिए इसका परिचय अपेक्षित है। इधर कई दिनोंसे हिन्दीमें इस प्रकारके ग्रन्थकी आवश्यकताका अनुभव किया जा रहा था, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृतका परिचय दे सकें, जिससे हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओंके अध्येता लाभ उठा सकें। इस विषयपर अधिकांश ग्रन्थ फ्रेंच तथा जर्मनमें लिखे हुए हैं, तथा आंग्ल भाषामें भी गिनी-चुनी ही पुस्तकें उपलब्ध हैं। वैसे डॉ० बटकृष्ण घोषकी अँग्रेजी पुस्तक एक दृष्टिसे संस्कृतका भाषाशास्त्रीय परिचय प्रस्तुत करती है, किन्तु अँग्रेजी भाषा न जाननेवाले उसका लाभ नहीं उठा सकते। यही सोचकर आजसे लगभग छ वर्ष पूर्व मैंने इस पुस्तककी रूपरेखा तैयार कर ली थी। उस समय मैं लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल आव् ओरियण्टल स्टडीजके भाषाविज्ञान-विभागमें काम कर रहा था। मूलरूपमें पुस्तक वहीं लिखी गई थी, यद्यपि बादमें इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर कर देना पड़ा। उस समय तक प्रो० टी० बरोकी 'संस्कृत लैंग्वेज'का प्रकाशन न हुआ था, किन्तु जिस रूपमें यह पुस्तक छप रही है, उसमें मैंने प्रो० बरोकी पुस्तकसे समुचित लाभ उठाया है। विशेषतः क्रियाओंके परिच्छेदमें मैंने उनकी पुस्तकका उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त मैं मेये, ज्यूल ब्लॉस, वाकेरनागेल तथा डॉ० घोषका भी ऋणी हूँ, जिनसे मुझे सदा पथप्रदर्शन मिलता रहा है। यदि इस पुस्तकसे भारतीय आर्य भाषाओंके अध्येताका कुछ भी लाभ हो सका, तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

काशी
१४, जनवरी १९५७

—भोलाशङ्कर व्यास

द्वितीय संस्करण का वक्तव्य

पुस्तकका द्वितीय संस्करण यथापूर्ववत् ही छप रहा है। कुछ स्थानोंपर आवश्यक परिवर्तन अवश्य कर दिया गया है। सिर्फ तीन बरसमें इस पुस्तकके पहले संस्करणका खप जाना लेखकके सौभाग्यका परिचायक है। अनेक भारतीय भाषावैज्ञानिकोंने पुस्तककी प्रशंसा भी की है और सुझाव दिया है कि इसे कुछ और विस्तृत आकार दिया जाता और इसी ढंगपर एक-एक पुस्तक 'प्राकृत-पालि', 'अपभ्रंश' तथा 'नव्य भारतीय आर्य भाषाओं' पर भी प्रस्तुत की जाती, तो सुंदर होता। लेखककी मूल योजना भी यही थी, जिसकी पहली खेप यह पुस्तक थी। अगली खेपें कब पेश कर सकूँगा, कह नहीं सकता। इधर कई कार्योंमें व्यस्त रहा हूँ, और अभी भी उनसे फुरसत नहीं मिली है। इतना वादा जरूर करता हूँ कि अन्य योजनाओंसे छुट्टी पानेपर 'मध्य भारतीय आर्य भाषा' से संबद्ध दोनों अध्ययनों—'प्राकृत-पालि' और 'अपभ्रंश'—को हाथमें लूँगा। अगले संस्करणमें प्रस्तुत पुस्तकको भी विस्तृत आकार देनेकी चेष्टा की जायगी।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
अनन्त चतुर्दशी
२०१८ विक्रम

—भोलाशङ्कर व्यास

विषय-सूची



आमुख

[अ]

भाषाशास्त्रके अध्ययनका विषय जैसा कि स्पष्ट है, भाषा है। भाषासे हमारा तात्पर्य मानवकी उस प्रक्रियासे है, जिसके अन्तर्गत वह अपने कतिपय ध्वनियन्त्रोंका प्रयोग कर उनसे कई प्रकारकी ध्वनियोंका उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारोंका प्रकाशन करता है। इस प्रकार भाषा भाव-विनिमयका ध्वन्यात्मक साधन है।[1] भाषाशास्त्र मानव-भाषाके समस्त रूपों, चाहे वे असभ्य जातियोंके द्वारा व्यवहृत होते हों, या सभ्य जातियोंके द्वारा, का अध्ययन करता है। 'वह एक ओर प्राक्-ऐतिहासिक कालकी भाषाका अध्ययन करता है, दूसरी ओर प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों, तथा आजकी प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओंका अध्ययन करता है। भाषाका यह अध्ययन वह भाषाको भाव-व्यंजनाका साधन मानकर करता है।'[2]

'भाषाशास्त्र [Linguistics] का अध्ययन करनेकी प्रायः तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं —१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली [Descriptive method], २. ऐतिहासिक प्रणाली [Historical method], ३. तुलनात्मक प्रणाली [Comparative method]' इन तीनों प्रणालियोंमें भी हम पहली दो प्रणालियोंको विशेष महत्त्वपूर्ण मानेंगे। तृतीय प्रणालीमें दो या दोसे अधिक भाषाओंको लेकर उनके भाषाशास्त्रीय

---

१ Marcel Cohen Le Langage (Structure Et Evolution) P. I

२. Ferdinand de Saussure, Cours de Linguistique Generale. chapitre 11 Page 20.

तत्त्वोंकी तुलना की जाती है, जो विवरणात्मक दृष्टिको भी लेकर हो सकती है, दूसरी ओर ऐतिहासिक दृष्टिको लेकर भी। वैसे जब हम किसी भाषाका ऐतिहासिक अध्ययन करते हैं, तो वहाँ हम विवरणात्मक प्रणालीकी सर्वथा अवहेलना नहीं करते, जब कि कोरी विवरणात्मक प्रणालीमें भाषाके ऐतिहासिक विकासपर नजर नहीं डाली जाती। तुलनात्मक प्रणालीमें किसी भाषाके विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक दोनों ढगके अध्ययनको प्रस्तुत करते हुए उससे सम्बद्ध अन्य भाषाओंसे तुलना करते हुए उसका वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। प्राचीन संस्कृत [Classical] भाषाओं [जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन] के अध्ययनमें हमें इसी तरहकी तुलनात्मक प्रणालीका प्रयोग करना होता है, जिसमें तुलनाके साथ ही साथ विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धतिका समन्वय होता है। प्रस्तुत पुस्तकमें हमने इसी पद्धतिपर संस्कृतका भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है।

इस भागमें वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक प्रणालीकी विशेषताओंका परिचय देते हुए, हम भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त परिचय तथा उनमें संस्कृतके महत्त्वका संकेत करेंगे।

१–विवरणात्मक पद्धति

किसी भी भाषाको एक कालकी स्थितिको लेकर उसके यथास्थित स्वरूपका अध्ययनकर उसके आधारपर कुछ निश्चित नियम बना देना विवरणात्मक ढंगका अध्ययन है। एक भाषाको लेकर उसकी ध्वनियों, पदरचना तथा वाक्यरचनाका अध्ययन करते समय इस पद्धतिका प्रयोक्ता उसके पूर्ववर्ती रूपोंकी ओर ध्यान नहीं देता, साथ ही न वह उससे सम्बद्ध संघटना [Structure] वाली अन्य भाषा या भाषाओंसे उसकी तुलना ही करता है, जैसा कि ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धतिमें पाया जाता है। यही कारण है कि सोस्यूरने इस प्रकारके भाषाशास्त्रीय अध्ययनको भाषाशास्त्रका स्थित्यात्मक रूप [Static linguistics] कहा है। इस पद्धतिको एकप्रणालिक भाषाशास्त्रीय पद्धति [Monosystemic or Synchronic]

भी कहा जाता है, क्योंकि इस ढगके विश्लेषणमें भाषाके निश्चित देश तथा निश्चित कालवाले रूपका ही अध्ययन किया जाता है। दूसरे ढगके अध्ययनको द सौस्यूरने विकासशील भाषाशास्त्र [Evolutional Linguistics] माना है। इस गत्यात्मक अध्ययन-पद्धतिको बहु प्रणालिक अध्ययन [Polysystemic or dichronic] भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी भाषाके अनेक कालोंम गतिशील रूपोंका विश्लेषण किया जाता है। आग्ल भाषाशास्त्री इन्होंको क्रमश विवरणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति कहते हैं।

विवरणात्मक पद्धतिका ढग भी दो तरहका होता है, एक वह जब कि किसी भाषाका विवरणात्मक व्याकरण अन्य भाषामें लिखना है, तथा दूसरा वह जब कि उसी भाषामें उसी भाषाका शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना होता है। विवरणात्मक पद्धतिका एक ढगका सकेत हमे हिन्दी आदिपर अँगरेजीमें लिखी गई पुस्तकोमे मिल सकता है। उदाहरणके लिए, केलागकी 'हिन्दीग्रामर' इसी ढगकी विवरणात्मक शैलीमें लिखी गई है। दूसरे प्रकारके विवरणात्मक अध्ययनका सबसे ज्वलन्त उदाहरण पाणिनिका व्याकरण लिया जा सकता है। विवरणात्मक अध्ययनके निर्णयोको प्रस्तुत करनेके लिए अध्येताको एक विशेष प्रकारकी वैज्ञानिक भाषाका प्रयोग करना पड़ता है। वह उसी भाषाका प्रयोग अपने सिद्धान्तोके लिए नही कर पाता। फलत वह एक सूत्रात्मक भाषाका निर्माण करता है। इसी भाषाको भाषावैज्ञानिक "एकभागीय अध्ययन" [Metalaguage study] के निर्णयोको सामने रखनेके लिए अपनाते हैं। पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करते हुए वे भाषाकी विवरणात्मक विशेषताओंको सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूत्रो [Formulae] के रूपमें रखते हैं, तथा उनके द्वारा एक ही भाषाके ध्वन्यात्मक परिवर्तनो, पदरचनात्मक विशेषताओंको उपन्यस्त करते है।

विवरणात्मक पद्धतिका प्रयोक्ता कभी-कभी वैभाषिक रूपोंका भी इसी तरह अध्ययन करता है। वह स्त्रियो, बच्चो आदिकी विभाषा तथा अलग

अलग फिरकेकि द्वारा बोली जानेवाली "स्लैंग"का भी अध्ययन करता विवरणात्मक पद्धतिके अध्ययनका एक संकेत हमें ओत्तो येस्पर्सनके अध्ययन-में दिखाई पड़ता है। अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें, विशेषत: "लैंग्विज", "फिलोसोफी आव् ग्रामर" तथा "मैनकाइण्ड, नेशन एण्ड इण्डिविडुअल"में उसने विवरणात्मक अध्ययनके सिद्धान्तोंको रखते हुए इस अध्ययनकी निश्चित दिशा दी है। किन्तु आज विवरणात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेकी कई दिशाएँ देखी जाती हैं। अमेरिकाके भाषाशास्त्रियोंका विवरणात्मक अध्ययन कुछ यान्त्रिक प्रकारका देखा जाता है। इसका आभास हमें ब्लूमफील्डकी "भाषा" [Language] शीर्षक पुस्तकसे मिल सकता है। अमेरिकन भाषाशास्त्री भाषाशास्त्रको एक स्वतन्त्र विज्ञान मानकर चलते हैं, तथा अपने अध्ययनमें मनोविज्ञान आदिसे कोई सहायता लेना ठीक नहीं समझते। जिस प्रकार मनोविज्ञानकी एक शाखा, व्यवहारवादी मनोविज्ञान [Behaviouristic psychology], में यान्त्रिकता पाई जाती है, वैसी ही यान्त्रिकता इस पद्धतिमें भी पाई जाती है। इसी विशेषताके आधारपर यह प्रणाली यान्त्रिक [Machinistic] कहलाती है। अमेरिकन प्रणालीमें प्रमुख दोष यह है कि ये भाषाको प्रमुखतः उच्चरित रूपकी दृष्टिसे ही देखते हैं; साथ ही इनमें-से कई भाषाशास्त्री तो उच्चारण मात्रको ही अध्ययनका विषय बनाते देखे जाते हैं। उच्चारण तथा अर्थ; शब्द एवं अर्थके अभिन्न सम्बन्धको न मान-कर ये अर्थकी आत्माको गौण समझते जान पड़ते हैं, तथा शब्दके कलेवरपर ज्यादा जोर देते जाते हैं। साथ ही शब्दका विश्लेषण करते समय ये ध्वनियोंके श्रोतृगत संस्कारपर ध्यान देते नहीं दिखाई देते। वस्तुतः भाषा-का अध्ययन वक्ता तथा श्रोता दोनोंकी दृष्टिसे करनेकी जरूरत है, तथा इस दृष्टिसे शब्दों तथा उनके अर्थोंका श्रोतृगत संस्कार एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

जिस प्रकार दर्शनकी विधिवादी [Positivistic] पद्धति आत्मा तथा शरीरको अभिन्न मानकर विषयी तथा विषयके तादात्म्यकी ओर बढ़ती है,

तथा उसी दृष्टिसे भौतिक पदार्थोंका विश्लेषण करती है, ठीक उसी तरह सोस्यूर भी भाषाशास्त्रके क्षेत्रमें कुछ विधिवादी ढग अपनाता है। वैसे यान्त्रिक तथा भौतिकवादी पद्धतिके भाषाशास्त्री उसकी पद्धतिको "आदर्शवादी" [Idealistic] पद्धति मानते है। सोस्यूरके मतानुसार भाषाशास्त्रको वैयक्तिक भाषा [Parole] का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य न बनाकर, समस्त एकभाषाभाषी समाजकी वैयक्तिक भाषाओंके अतस्में अनुस्यूत भाषा [La langue] का अध्ययन करना होगा। वैयक्तिक भाषाका मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक दोनो ढगका रूप है, किन्तु सामाजिक भाषाका केवल "मनोवैज्ञानिक" रूप होता है। यही कारण है, भाषाका विश्लेषण करते समय द सोस्यूरने भाषाके प्रमुख आधार प्रतीक [La sign] तथा प्रतीत्य [La signifie'] माने है, तथा उनका श्रोतृगत रूप वासना या सस्कारनिष्ठ माना है। ध्वनियोको सुननेसे श्रोताके मानसपर अन्तश्चित्र प्रतिबिम्बित हो जाता है, जिसे सोस्यूरने "इमाज आकूस्तीक" कहा है। जब श्रोता पुन वही ध्वनि या ध्वनिसमूह सुनता है, तो वह अन्तश्चित्र उसे अर्थप्रत्यायनमे सहायता वितरित करता है। चूँकि सोस्यूर भी एक तथाकथित "आदर्श" भाषाका—एक भाषाभाषी समाजके अनेक व्यक्तियोकी भाषाके आदर्शरूपका अध्ययन करता है, अत उसे भी सूत्रपद्धतिवाली पारिभाषिक भाषाका प्रयोग करना अभीष्ट है।

२—ऐतिहासिक पद्धति

ऐतिहासिक पद्धति किसी भी भाषाके गत्यात्मक रूपोका अध्ययन करती है। इसके अन्तर्गत एक ही भाषाके पुरातन रूपोसे आज तकके रूपोकी प्रवहमान गतिका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणके लिए आजकी हिन्दी [खड़ी बोली] का अध्ययनकर्ता उसके पुराने रूपोका भी अध्ययन करता है, तथा अपभ्रश कालसे आजतक, बल्कि और अधिक विस्तृत क्षेत्र चुना जाय, तो सस्कृत कालसे आजकी हिन्दी तक ऐतिहासिक क्रमके आधारपर किस

तरहका ध्वन्यात्मक, पदरचनागत या वाक्यरचनागत परिवर्तन होता रहा है, इसका वैज्ञानिक लेखा-जोखा देनेकी चेष्टा की जाती है, तो यह ऐतिहासिक प्रणालीका आश्रय होगा। लेकिन अगर कोई अध्येता हिन्दी [खड़ी बोली] के यथास्थित रूपको लेकर ही उसकी ध्वनियोंका, या पदरचनाका लेखा-जोखा देना चाहे, तो वह विवरणात्मक पद्धति होगी। ऐतिहासिक प्रणालीके अध्ययनमें सबद्ध भाषाका विवरणात्मक अध्ययन स्वत. समाविष्ट हो जाता है।

३-तुलनात्मक पद्धति

तुलनात्मक पद्धतिके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों पद्धतियोंका समाहार करते हुए ऐतिहासिक दृष्टिसे या पदरचनात्मक दृष्टिसे परस्पर सम्बद्ध दो या अधिक भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृति-की भाषाओंका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। वैसे तुलनात्मक पद्धतिका प्रयोग अधिकतर एक ही भाषासे निकली हुई भाषाओंकी ध्वनियों, पदरचना, शब्द कोष तथा वाक्यरचनाकी समानताओं तथा असमानताओंके अध्ययनके लिए किया जाता है, जैसे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोलीका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, या मैथिली और बगालीका। इसी तरह संस्कृत, ग्रीक और लैटिनका भी तुलनात्मक अध्ययन उदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है।

तुलनात्मक पद्धतिके अध्ययनने ही वस्तुत भाषाशास्त्रको १९ वी शती-में जन्म दिया है। ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृतकी अत्यधिक समानताओंने ही भारत-यूरोपीय परिवारके तुलनात्मक व्याकरण [Comparative philo-logy] को जन्म दिया था। इस प्रकारकी तुलनात्मक पद्धतिमें कुछ भी दोष रहे हों, किन्तु इसका महत्त्व निषिद्ध नही किया जा सकता। आजके भाषा-वैज्ञानिकोंके मतानुसार जब हम अनेक भाषाओंकी तुलना करते समय उनकी समानताओंके आधारपर उनके परस्पर सम्बद्ध होनेकी बात करते

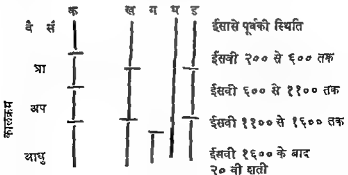
भ्रान्तिको जन्म देते हैं। इन नव्य भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार सम्बन्ध [Relation] भाषाओंमें न होकर भाषाओंकी संघटना [System] में पाया जाता है। इसलिए "संबन्ध भाषाओंका नहीं, उनकी संघटनाका है" [Relationship—is not of languages, but of systems] यह कहना ज्यादा ठीक होगा। साथ ही, किन्हीं दो भाषाओंमें परस्पर सम्बन्ध है या नहीं, इसकी अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है, अथवा कम सम्बन्ध है, इस बातको मानना अधिक संगत है। उदाहरणके लिए खडी बोली [हिन्दी] तथा राजस्थानीकी संघटनामें परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि हम यह कह बैठते हैं दोनों एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। इसी तरह राजस्थानी तथा गुजरातीकी संघटना परस्पर अधिक संबद्ध है, जब कि राजस्थानी तथा पंजाबीकी संघटना कम संबद्ध है, तथा राजस्थानी और बंगालीकी संघटना एक दूसरेसे बहुत कम संबद्ध है। अतः भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धतिका अध्ययन करते समय, इस बातको कभी नहीं भूलना होगा कि संबन्ध मुख्यतः भाषाओंकी संघटनाका होता है।

तुलनात्मक अध्ययन दो या अधिक भाषाओंको लेकर किया जा सकता है। इस तरहका अध्ययन कोरा विवरणात्मक भी हो सकता है। हिन्दी तथा अँगरेजीकी संघटनाके यथास्थित रूपको लेकर तुलनात्मक दृष्टिसे लिखे गये व्याकरणमें इस तरहकी पद्धति पाई जा सकती है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययनमें प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्पर संबद्ध भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यह एक ही भाषाके परवर्ती रूपोंके साथ तुलनात्मक दृष्टिसे किया गया हो, या अनेकोंके साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशका तुलनात्मक अध्ययन एक ढंगका होगा, संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिनका दूसरे ढंगका। ऐतिहासिक क्रमको ध्यानमें रखते हुए एक साथ कई भाषाओंकी विकसित दशाका भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जहाँ तक भाषाओंके आजके रूपका प्रश्न है, उनका कथ्य [Spoken] रूप ही अपनाना ठीक होगा। पुरातन रूपोंके लिए प्राचीन साहित्यकी शरण लेनी पडती

हैं, यद्यपि पुरातन कथ्य रूपका पूरा पता उससे नही चलता और कभी-कभी तो भ्रान्ति भी होनेकी सभावना होती है। हम एक उदाहरण ले लें, प्राकृत व्याकरण, प्राकृत साहित्य तथा अपभ्रंश साहित्यके अनुसार सस्कृत न परवर्ती कालमें ण [मूर्धन्य या प्रतिवेष्टित] हो गया था। आज जिन भाषाओंमें—सिन्धी, पजाबी, गुजराती व राजस्थानीमें 'ण' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ यह ध्वनि प्राय स्वरमध्यगतरूपमें पाई जाती है, तथा राजस्थानी कथ्य रूपकी साक्षीपर मैं यह भी कह सकता हूँ कि जहाँ कहीं यह ध्वनि पदान्त [Final] पाई जाती है, वहाँ भी इसके बाद 'अ' (ə) श्रुति उच्चरित होती है। इन भाषाओंमें जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ण ध्वनि पदादि [initial] रूपमें नही पाई जाती। प्रश्न होना सभव है, कि पदादि ण ध्वनि प्राकृत तथा अपभ्रशमें कथ्य [Spoken] रूपमें पायी जाती थी, या नही ? लिखित रूपमें चाहे वह पदादि ध्वनि ण ही रही हो, पर क्या उसका उच्चारण मधन्य था ? जहाँ आज ण ध्वनि पायी जाती है वहाँ पदादिमें यह ध्वनि नही पायी जाती, जब कि पदादिम वर्त्स्य न पाया जाता है, जब कि प्राकृत और अपभ्रशमें ण मिलता है। प्राकृतका एक देशज शब्द है णवर [स० केवल], इसका विकसित रूप राजस्थानीकी मेवाडी विभाषामें नवरो [बेकाम, आलसी, ठाला] है, जहाँ प्रथम ध्वनि मूर्धन्य न होकर वर्त्स्य है। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राकृत-अपभ्रशमें सस्कृतका स्वर मध्यगत [Intervocalic] न तो ण हो गया था, किन्तु पदादि न का उच्चारण वर्त्स्य ही था। लिपि तथा प्राकृत व्याकरणके नियमोंमें समानता लानेके लिए इसे भी ण ही लिखा जाने लगा हो, तथा इस प्रकार पदादि सस्कृत न भी ण के रूपमें विकसित माना जाने लगा हो। कुछ भी हो, हम केवल अनुमान भर कर सकते हैं, प्राचीन उच्चारणोंके बारेमें कुछ निश्चित मत देना, कभी-कभी खतरेसे खाली नही।

तो, अनेक भाषाओंके क्रमिक विकासका तुलनात्मक अध्ययन करते

समय हम कई तरहकी भाषाएँ पा सकते है। कई भाषाएँ आरम्भसे अवतक अविच्छिन्न रूपमे मिलती है, कई बीच तक आती हैं पर वादमें रुक जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं, कई भाषाओका विकास सर्वथा नवीन हैं, तथा कई प्राचीन है किन्तु उनका साहित्य बहुत वादसे उपलब्ध होता हैं। तुलनात्मक अध्ययनमें हमें इन सबका समुचित प्रयोग करना पडता है। इसे हम एक रेखाचित्रसे स्पष्ट कर दें। हमे क, ख, ग, घ, ड, इन पाँच भाषाओका तुलनात्मक अध्ययन करना हैं, इन्हें हम क्रमश हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, भोजपुरी और बँगला समझ लें। इसमे प्रथमका अखण्ड प्रवाह सस्कृतसे शौरसेनी, अपभ्रश होता हुआ आज तक माना जाता है, किन्तु मध्यकालीन साहित्यपर क, ख, ग तीनो भाषाओंका समान अधिकार है, साथ ही ग का साहित्य, जहाँ तक उसकी भाषागत निजी विशेषताका प्रश्न है, १६ वी शतीसे उपलब्ध है। भाषा घ तथा ड की परम्परा सर्वथा भिन्न है। एक मागधीसे प्रभावित कोसलीकी परवर्ती प्रकृति है, दूसरी मागधीकी प्रतिनिधि। साथ ही घ साहित्यशून्य-सी है, इसके लिखित पुरातन साहित्यका अभाव ही है, जब कि ड का प्राकृतकालीन साहित्य न होनेपर भी अपभ्रश कालसे साहित्य उपलब्ध है और चौदहवी शतीसे निरन्तर साहित्यिक धारा बहती रही है।



यहाँ हमने क, ख आदि भाषावाली रेखाको बीचमें—रेखासे काटा है, जो लिखित साहित्य किस कालका उपलब्ध होता है, इसका संकेत करती है। घ भाषाका लिखित साहित्य नहीं मिलता, इसलिए वह रेखा कहीं नहीं कटी है।

तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें दो तरहकी सरणियाँ अपनाई जाती हैं। प्रथम सरणि प्राचीन [संस्कृत] भाषाओंसे नीचेकी ओर आती है। उदाहरणार्थ, हिन्दीका अध्ययन करनेके लिए संस्कृतसे हिन्दीकी ओर बढ़ना। दूसरी पद्धति यह है कि पहले हिन्दीका विवरणात्मक दृष्टिसे वैज्ञानिक अध्ययन कर लें, तदनन्तर उसके ऐतिहासिक विकासके लिए संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके विकासका अध्ययन कर हिन्दीकी प्रकृतिको तदनुरूप विवेचनाका विषय बनायें। आजके भाषावैज्ञानिक इस द्वितीय पद्धतिका उपयोग ही विशेष वैज्ञानिक मानते हैं। यह बात निश्चित है कि इस तरहकी प्रणालीका आश्रय हम आज बोली जानेवाली भाषाओंके अध्ययनके लिए ही ले सकते हैं। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंशके लिए तो हमें पहली पद्धतिका ही आश्रय लेना होगा। साथ ही दूसरी पद्धति जीवित भाषाके व्यवहृत तथा कथ्य रूपको प्रधानता देगी, प्रथम पद्धतिका एकमात्र आधार लिखित साहित्य होता है। लिखित साहित्यके आधारपर की गई भाषाशास्त्रीय गवेषणाको इसीलिए नव्यतम भाषाशास्त्री, 'लिंग्विस्टिक्स' कहना ठीक नहीं समझते। साथ ही वे 'लिंग्विस्टिक्स' तथा 'फाइलोलोजी' को परस्पर पर्यायवाची भी नहीं मानते। लिखित साहित्यके आधारपर भाषाओंके तुलनात्मक व्याकरण अथवा तुलनात्मक पदरचनाशास्त्रको ये 'फाइलोलोजी' कहते हैं, उच्चरित भाषाके आधारपर की गई गवेषणाको 'लिंग्विस्टिक्स"। प्रस्तुत पुस्तिकामें अब तक अधिकतर विद्वानोंके द्वारा आदृत इस मतको ही माना गया है कि 'फाइलोलोजी' तथा 'लिंग्विस्टिक्स' को पर्यायवाची माननेमें कोई गल्ती नहीं। भाषा-शास्त्रियोंके बहुमतकी ऐसी ही धारणा है। संस्कृतका अध्ययन यहाँपर प्रथम पद्धतिका आश्रय लेकर उपस्थित किया गया है।

भाषाशास्त्रके तीन अग हैं—(१) ध्वनिविज्ञान, (२) पदविज्ञान, तथा (३) अर्थविज्ञान। किसी भी भाषाका अध्ययन इन तीन अगोंके आधारपर किया जाता है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार अर्थविज्ञानकी दिशा स्वतन्त्र विज्ञानके रूपमें मानी जानी चाहिए। यही कारण है कि किसी भाषाके विश्लेषणमें अधिकतर भाषाशास्त्री ध्वनि तथा पदरचनाका ही विचार करते हैं, अर्थविज्ञानको छोड़ देते हैं। वाक्यरचना वैसे पदरचनाका ही अग है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे अलग तत्त्व मानते हैं।

१–ध्वनिविज्ञान

ध्वनिविज्ञानके अन्तर्गत तीन भाग माने जाते है —(१) ध्वनियन्त्रोंका अध्ययन, (२) ध्वनियोका अध्ययन, (३) ध्वनियोंके परिवर्तन सम्बन्धी नियमोंका अध्ययन। ध्वनियन्त्रोका अध्ययन सामान्य भाषाशास्त्र [General linguistics] के अन्तर्गत होना है। ध्वनियोंके उच्चारणमें मुखके कौन-कौन भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी किस-किस दशामें कौन-कौन ध्वनि उच्चरित होती हैं, इसका अध्ययन होता है। इसीके साथ ध्वनियोंके उच्चारणके समय किये गये बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नो तथा ध्वनियोके स्थान तथा करणका विवेचन होना है। नाद, श्वास, घोष, अघोष, महाप्राण तथा अल्पप्राण आदि ध्वनियोंका परस्पर भेद ध्वनियोके उद्भावक यन्त्रोंकी तत्तत् स्थितिके कारण ही होना है। दूसरे भागके अन्तर्गत किसी निश्चित भाषाकी ध्वनियोंकी विवेचना की जाती है। किसी भाषाके अन्तर्गत कितनी ध्वनियाँ पाई जाती हैं ? उनमें स्वर तथा व्यञ्जन तथा अन्य अवान्तर भेदोंका विश्लेषणकर उनके स्थान तथा करणकी विवेचना की जाती है। जीवित भाषाओंमें ध्वनियोंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृतिको उपन्यस्त करनेके लिए कृत्रिमतालु, कायमोग्राफ आदि यान्त्रिक साधनोंका उपयोग किया जाता है। इसी अगके अन्तर्गत व्यस्त ध्वनियां तथा उनके सयुक्त रूपोंका भी अध्ययन किया जाना है, तथा अनेक (दो या अधिक) ध्वनियाँ समस्त रूपमें एक दूसरी ध्वनिको

कैसे विकृत कर देती है, इसका अध्ययनकर तत्तत् भाषाके सम्बन्धमें नियमों-की अवतारणा की जाती है।

ध्वनिविज्ञानका तीसरा अंग ऐतिहासिक दृष्टिसे किसी भाषाकी ध्वनियोंका अध्ययन तथा उसके अनुकूल नियम निबद्ध करना है। इसीके अन्तर्गत हम ध्वनियोंके अनेक प्रकारके परिवर्तनकी मीमांसा करते हैं। वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविकार, वर्णविपर्यय, समीकरण, विषमीकरण जैसे रूपोंका अध्ययन किया जाता है। संस्कृतसे प्राकृतमें, या संस्कृतसे हिन्दीमें कौन-कौन ध्वनियों-का किस किस प्रकारका परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधारपर निश्चित ध्वनिनियमोंकी अवतारणा की जा सकती है। वैसे भाषाशास्त्रके ध्वनिनियम अन्य वैज्ञानिक नियमोंकी भाँति नितान्त अपवादरहित नहीं होते, यह बात ध्यान देनेकी है।

२–पदरचना

पदरचनाके अन्तर्गत किसी भी भाषाकी पदसंघटनाका अध्ययन किया जाता है। इस विभागके अन्तर्गत भाषाके व्याकरणका अध्ययन होता है, पर इतना होनेपर भी परम्परागत व्याकरणकी शैलीमें, तथा इसमें महान् अन्तर होता है। परम्परागत व्याकरण, किसी भी भाषामें कौन-कौन रूप पाये जाते हैं, अमुक शब्दके एकवचन, द्विवचन या बहुवचनके रूप कैसे होते हैं, तथा अमुक धातुके अमुक लकारके रूप कैसे होते हैं, यहीं तक सीमित रहता है। भाषाशास्त्रका पदविज्ञान प्रमुख महत्त्व इस ओर देता है कि अमुक भाषामें इस तरहके रूप क्या निष्पन्न होते हैं। यही कारण है, कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण अधिक उपादेय समझता है, उसके लिए उपेक्षित होती हैं, तथा कई ऐसी बातें जिन्हें वैयाकरण उपेक्षित समझता है, उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं। यही पद्धतिभेद व्याकरण तथा पदरचनाशास्त्रके अध्य-यनको भिन्न बना देता है। इस पुस्तिकामें संस्कृत भाषाका अध्ययन इसी दृष्टिसे है। अतः यहाँ संस्कृतकी पदरचनापर भाषाशास्त्रीय ढंगसे ही संकेत मिलेगा। संस्कृत व्याकरणकी दृष्टिसे न लिखी जानेके कारण इस पुस्तिकामें

शब्दों या धातुओंके रूपोंकी पूरी उद्धरणी न मिलेगी, वह कहीं व्याकरण ग्रन्थसे देखी जा सकती हैं। संस्कृत पदरचनामें संस्कृत सुप्, तिङ्, कृदन्त, तथा तद्धित प्रत्यय, उनके अनेक रूप कहाँसे आये हैं, किस प्रकार इनके समान या समानान्तर रूप ग्रीक, लॅटिन तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं, इसीका विशद विवेचन पुस्तिकाके आगामी पृष्ठोंमें मिलेगा। अतः संस्कृत व्याकरण-की पद्धतिपर ग्रन्थकी रचना अपेक्षित न थी।

प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रा० भा० यू०के कल्पित रूपकी विशेषताओंका संकेत करते हुए, उस आदि-स्रोतकी प्रकृति उपन्यस्त की गई है, जो संस्कृत तथा अन्य भारत-यूरोपीय भाषाओंकी एकसूत्रता है। तदनन्तर भाषाशास्त्रीय दृष्टिके आधारपर ही अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी भाषाओंकी तुलना की गई है। अभी हाल ही में डॉ सी कुन्हन राजाने अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना करते हुए उनकी संस्कृतिको समान माननेकी प्रचलित भ्रान्तिका उल्लेख किया है, तथा ऐसी भ्रान्तिको अहितकर बताया है। पर जहाँ तक इन दोनोंके शुद्ध भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययनका प्रश्न है, वे इसका विरोध नहीं करते। इस पुस्तकमें अवेस्ता तथा ऋग्वेदकी तुलना भाषाको दृष्टबिन्दु बनाकर ही की गई है, संस्कृतिको नहीं, तथा संस्कृतिकी समानता वाली बातें, जिन्हें डॉ कुन्हन राजाने भ्रान्त कहा है, यहाँ न आने पाई है। वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ताकी सभ्यता निःसन्देह भिन्न थी, किन्तु उनकी भाषा एक-दूसरेके बड़ी नजदीक है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसी सम्बन्धमें डॉ राजा-ने ऋग्वेदकी तिथिके प्रश्नको फिरसे उठाया है। ऋग्वेदकी तिथिके विषयमें अनेक मत होनेके कारण निश्चित मत अभी तक स्थिर न हो सका है। यही कारण है, मैंने यहाँ तुलनात्मक भाषाशास्त्रियोंके द्वारा आदृत मतको ही लिया है। यह मत मेरा अपना तो है नहीं, और न इस मतका संतोषपूर्ण खण्डन ही हो सकता है।

संस्कृतकी भागीरथीके आदिस्रोतसे लेकर आज तक बहते हुए अखण्ड प्रवाहकी रूपरेखा प्रस्तुत करना ही यहाँ लक्ष्य रहा है। उसका विशाल

अध्ययन तो कठिन, दुरूह तथा वर्षोंका कार्य है। संस्कृतकी ध्वनि सम्बन्धी तथा पदरचना सम्बन्धी खास-खास विशेषताओंका परिचय तथा उनके परवर्ती विकासका परिचय देनेका कारण भारतीय आर्य भाषाओंकी अखण्ड परम्पराका संकेत करना है।

ध्वनिविज्ञान तथा पदरचना [पदविचार]के अतिरिक्त कुछ लोग वाक्य-विचारको अलगसे विषय मानते हैं, किन्तु अधिकतर विद्वान् इसका समावेश पदरचनाके अन्तर्गत ही करते हैं तथा इसे पदविज्ञान [Morphology] का ही एक अंग समझते हैं। प्रा भा यू की कल्पित वाक्यरचनाको वैज्ञानिक मानना भ्रान्ति होगा, फिर भी कुछ समानताएँ ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत वाक्य रचनाओंमें, उनके कारक प्रयोगोंमें, उपसर्गों, परसर्गों, परस्मैपदी या आत्मनेपदी प्रयोगोंमें ढूँढी जा सकती हैं, जो बड़ी मनोरंजक है। संस्कृतका वाक्यविचार करते समय बड़े संक्षेपमें कारक तथा पदोंका विचार तथा इन कथित समानताओंका संकेत आवश्यक हो जाता है।

३-अर्थविज्ञान

भाषाविज्ञानका तीसरा अंग अर्थविज्ञान है। अर्थविज्ञानके अध्ययनको कुछ भाषाशास्त्री अलग अध्ययनका क्षेत्र मानते हैं, तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें उसे सम्मिलित नहीं करते। जहाँ तक सैद्धान्तिक भाषाशास्त्रका प्रश्न है, अर्थविज्ञानका अध्ययन उन्हें अभीष्ट है, किन्तु किसी भाषाके विवरणात्मक, ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययनमें अर्थ विचार प्रायः छोड़ दिया जाता है। इसके दो कारण हैं, भाषाकी बाह्य संघटना प्रमुखतः ध्वनि तथा पदरचनासे ही सम्बद्ध है, [यद्यपि अर्थ भाषाका आत्मतत्त्व है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता], दूसरे भाषाके अर्थविचारमें भाषाशास्त्रीको अपने क्षेत्रका छोड़कर मनोविज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य आदि अनेक क्षेत्रोंका आश्रय लेना पड़ता है, तथा अर्थविचार प्रमुखतः समाजविज्ञानका [तथा मनोविज्ञानका] रूप ले लेता है। तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी अध्ययन प्रणालीके कारण इस पुस्तिकामें भी अर्थतत्त्वका विचार नहीं है।

अर्थविज्ञानके साधारणतः दो अंग माने जा सकते हैं।—१. सैद्धान्तिक अर्थविज्ञान, २. व्यावहारिक अर्थविज्ञान। सैद्धान्तिक अर्थविज्ञानके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा अर्थके सम्बन्धपर उपस्थित होता है, दोनोंमें कोई साक्षात् सम्बन्ध है भी या नही। कई विद्वान् शब्द तथा अर्थमें कोई साक्षात् सम्बन्ध नही मानते। दूसरे विद्वान् इस सम्बन्धको नित्य मानते है। अर्थ-प्रतीतिका कारण मनोवैज्ञानिक है या सामाजिक, यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, तथा भाषाशास्त्री अधिकतर इसके सामाजिक एवं प्राकरणिक [Contetxual] महत्त्वपर ही ज़ोर देते हैं। इसके अनन्तर अर्थविज्ञान-का दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय अर्थ-प्रकार तथा शब्द-शक्तियोंसे सम्बद्ध है, तथा इसी सम्बन्धमें अर्थ जातिनिष्ठ होता है या व्यक्तिनिष्ठ इसपर भी दो विरोधी मत देखे जाते हैं।[1]

भाषाशास्त्रके क्षेत्रमे अर्थविज्ञानको प्रतिष्ठापित करनेका श्रेय फ्रेंच भाषा-शास्त्री ब्रेआल [Breal] को है। ब्रेआलने अर्थविचारके अन्तर्गत भाषाके परवर्ती विकासमें होनेवाले अर्थ-परिवर्तनोंके प्रकारों तथा उनके मनोवैज्ञानिक कारणोंको उपन्यस्त किया है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्थविज्ञानपर निबन्ध" [Essai sur la Semantique] में लैटिन भाषाके शब्दोंको लेकर आधुनिक रोमान्स भाषाओं, फ्रेंच, इतालियन, स्पेनिश आदिमें होने-वाले आर्थिक परिवर्तनोंका अध्ययन किया। इसके आधारपर उसने अर्थ-

---

१. शब्द तथा अर्थके सम्बन्धका यह विचार भाषाशास्त्रमें इतना अधिक नहीं पाया जाता, जितना दर्शन, न्याय तथा मनोविज्ञानके ग्रन्थो-मे। भारतमे इसका विचार दर्शन, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्रमे हुआ है। इस विषयका विशेष विवेचन लेखकने अपने पी एच. डी. के लिए स्वीकृत प्रबन्ध "शब्दशक्ति-विवेचन" मे किया है, जो नागरीप्रचारिणी सभा, काशीसे प्रकाशित हुआ है। इसमें पाश्चात्योंके एतत्सम्बन्धी विचारोंका भी विवेचन किया गया है।

परिवर्तनके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए, अर्थविस्तार, अर्थसंकोच, अर्थ-विपर्यय, अर्थादेश, अर्थापदेश आदिका संकेत किया है।

४-शब्द-भाण्डार

कुछ विद्वानोंके मतानुसार भाषाशास्त्रका एक और अंग है, शब्द-भाण्डार। पर अधिकतर भाषाशास्त्री तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इसको भी विशेष महत्त्व नहीं देते। वैसे शब्द-भाण्डारका वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषाकी अपनी संघटना जाननेमें बड़ा काम देता है। यही नहीं, किसी भाषामें कितने विजातीय तत्त्व हैं, इनका संकेत भी प्रमुखतः शब्द-भाण्डारसे ही लगता है। संस्कृतमें ही कई मुण्डा तथा द्राविड शब्द पाये जाते हैं। विद्वानोंने इसका अध्ययनकर उन शब्दोंकी तालिका भी उपन्यस्त की है। संस्कृतके अध्ययनमें अन्तिम परिच्छेदमें इन शब्दोंका परिचय दिया गया है। प्रत्येक भाषामें कई कारणोंसे, जिनमें प्रमुख कारण ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक होते हैं, नये शब्द स्थान पाते जाते हैं। जब वे आम बोल-चालकी भाषाके अंग बन जाते हैं, तो भाषावैज्ञानिकके अध्ययनके विषय बन जाते हैं। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि किसी भाषाके कोश-भाण्डारका अध्ययन भाषाशास्त्री उस रूपमें नहीं करता, जिस रूपमें कोषकार [Lexicographer] उसका अध्ययन करता है।

[आ]

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाओंका संक्षिप्त विवरण

समस्त विश्वकी भाषाओंको कई परिवारोंमें विभक्त किया जाता है। एक परिवारकी सभी भाषाएँ एक दूसरेसे इतिहास तथा पदरचना दोनों दृष्टियोंसे घनिष्ठतम सम्बन्ध रखती हैं। विश्वकी इन भाषाओंमें अपनी अपनी विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरणके लिए चीनी भाषा एकाक्षर भाषा है, तथा उसमें सभी शब्द अर्थतत्त्वके ही बोधक हैं, सम्बन्धतत्त्वके बोधनके लिए वहाँ शब्दका वाक्यगत स्थान ही साधन बनता है। चीनी ही नहीं, अन्य

कई भाषाएँ तिब्बती, स्यामी, बर्मी आदि भी इसी परिवारकी भाषाएँ है। इन भाषाओंको परिवारकी दृष्टिसे एकाक्षर परिवारकी, तथा पदरचनाकी दृष्टिसे अयोगात्मक या व्यासप्रधान भाषाएँ [Isolating languages] कहा जाता है। दूसरे ढंगकी भाषाएँ द्राविड परिवारकी हैं, जो भारतके दक्षिण भागमें बोली जाती हैं, ये भाषाएँ पदरचनाकी दृष्टिसे प्रत्ययप्रधान या अश्लिष्ट भाषाएँ [Agglutinating languages] होती हैं। इन भाषाओंमें अर्थतत्त्व या शब्द तथा प्रत्यय (सवन्धतत्त्व) मिलाकर किसी भाव-की प्रतिपत्ति कराते हैं। इस प्रकार इन भाषाओंमें पद = शब्द + प्रत्यय। किन्तु शब्द [अर्थतत्त्व] तथा प्रत्यय [सम्बन्धतत्त्व] पदमें स्पष्टत भिन्न भिन्न परिलक्षित होते हैं। तीसरी कोटिकी भाषाएँ प्रश्लिष्ट कोटिकी होती है। इन भाषाओंमें शब्द एक दूसरेसे इतने श्लिष्ट हो जाते हैं कि कभी पूरा वाक्य ही समासान्त पद हो जाता है। इन भाषाओंमें समासान्तपद [या वाक्य] = शब्द + शब्द + शब्द + । इन भाषाओंको इसी विशेषताके कारण समास-प्रधान भाषाएँ भी कहा जाता है। अमेरिकाके आदि निवासियों [रेड-इण्डियन्स]की भाषाएँ इसी कोटिकी हैं।

इनके अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग विभक्तिप्रधान [Inflexional] भाषाओंका है। इन भाषाओंमें अर्थतत्त्वके साथ विभक्ति रूप सम्बन्धतत्त्वको जोडकर 'पद'की निष्पत्ति की जाती है। यह विभक्ति किन्ही किन्ही भाषाओंमें आभ्यन्तर होती है, किन्हीमें बाह्य। जिनमें यह आभ्यन्तर होती है, वे अन्त-र्विभक्तिप्रधान भाषाएँ होती है, जैसे सेमेटिक हेमेटिक परिवारकी भाषाएँ। अरबीमें अन्तर्विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वके अन्दरके स्वरोंका परिवर्तन करनेसे अलग-अलग सम्बन्धतत्त्वोंका भावबोधन करा दिया जाता है। बहिर्विभक्ति-प्रधान भाषाओंमें विभक्तियाँ अर्थतत्त्व (शब्द) के बादमें जुडती है, तब सुबन्त तथा तिङन्त पदोंकी निष्पत्ति होती है। विभक्तिप्रधान भाषाओंमें अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्धतत्त्व एक दूसरेके साथ इतने घुलमिल जाते है कि अलग दिखाई नही देते, साथ ही विभक्तिके कारण अर्थतत्त्वमें भी (कभी-कभी)

विकार हो जाता है। भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इसी द्वितीयकोटि-को विभक्तिप्रधान भाषाएँ है।

अगले परिच्छेदमें हमने इसको स्पष्ट किया है कि भारतयूरोपीय परिवार-की कल्पना क्यो की गई है, तथा इस परिवारमें कौन-कौन-सी समानताएँ पाई जाती है, जो इन्हें एक ही परिवारके अन्तर्गत रखती है। यहाँ हम केवल इस परिवारके वर्गों तथा उन वर्गोंकी प्रमुख भाषाओंका सकेत दे देना ठीक समझते है। भारत-यूरोपीय परिवारको कई नाम दिये जाते हैं। पहले इसे भारत जर्मनी नाम दिया गया था, कुछ लोगोंने इसे 'आर्य'-परिवार भी कहा था किन्तु ये नाम सकुचित है। आजकल इसे भारत-यूरोपीय [Indo-European] परिवार ही कहा जाता है। हिन्दीमें इसका सक्षिप्त रूप भारोपीय भी चलता है, पर मै भारत-यूरोपीय शब्दका प्रयोग करना ही विशेष ठीक समझता हूँ। इस परिवारकी भाषाएँ विश्वमें सबसे अधिक सख्याके द्वारा बोली जाती है, तथा भौगोलिक विस्तारकी दृष्टिसे इसका बहुत बडा महत्त्व है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे इस परिवारका अत्यधिक महत्त्व है। वैसे इससे भी पुरानी भाषाएँ थी, जिनके पास साहित्य रहा होगा, पर वे या तो स्वय लुप्त हो गई है, या उनका साहित्य लुप्त हो गया है। सस्कृतकी वैदिक निधि इसीलिए सबसे पुराना साहित्य है, जो इस परिवारकी भाषावैज्ञानिक महत्ताका अन्यतम प्रतिष्ठापक है। इसके साथ ही आज भी विश्वमे इस परिवारकी भाषाओका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है तथा वे सभ्य जातियोंकी भाषाएँ मानी जाती हैं। अगरेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिन्दी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी है। अगरेजी तो जैसे आज भी समस्त विश्वकी उप भाषा-सी बनी हुई है। मध्यएशियामें ठीक यही स्थान फ्रेंचने, दक्षिण अमेरिकामे स्पेनिशने तथा उत्तरी एशियामें रूसीने प्राप्त कर रक्खा है। इस दृष्टिसे हिन्दी पिछडी कही जा सकती है। किन्तु हिन्दीकी सास्कृतिक परम्परा उसके विस्तार तथा विकासमें निश्चय ही योग देगी तथा वह दिन दूर नही, जब हिन्दी अन्त-र्राष्ट्रीय विश्वमें अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सकेगी।

भारत-यूरोपीय परिवारकी भाषाओंको निजी-निजी विशेषताओंके आधारपर दस शाखाओंमे विभक्त किया गया हैं। इनमेंसे दो वर्गोको छोड़कर बाकी अन्य शाखाओंकी भाषाएँ आज भी बोली जाती हैं। इनमेंसे कई वर्गोंकी भाषाएँ पुन. उपशाखाओंमे विभक्त की जाती है। सर्वप्रथम इन समस्त भाषाओंको दो वर्गोंमें बाँटा जाता है —सतम् वर्ग तथा केन्तुम् वर्ग। भारत-यूरोपीय परिवारमें कतिपय शाखाओंकी भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थानपर 'क' पाया जाता है, जहाँ संस्कृतमें 'श' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओंमें 'स' पाया जाता हैं। प्रा० भा० यू० तालव्य कय, ग्य आदि ध्वनियाँ भारत-ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदिमें सोष्म श [श], ज, ज़ का रूप ले लेती हैं। ऐसा प्रतीत होता हैं कि प्रा० भा० यू० में दो तरहकी विभाषाएँ रही होंगी तथा इस विभाषाके बोलनेवाले आस-पास रहते थे तथा इनके ही वंशजोंकी भाषाएँ भारत, ईरान, आर्मीनिया, रूस आदि स्थानोंपर बोली जाती हैं। किन्तु इस वर्गके दूसरी विभाषाओंमें इन ध्वनियोंका विकास नही हुआ और वहाँ वे कण्ठ्य रूपमें स्पर्श ही बनी रही हैं। उदाहरणके, लिए लैटिनमें 'सौ'के लिए प्रयुक्त 'केन्तुम्' [Centum] शब्दमें 'क' ध्वनि पाई जाती हैं, जबकि संस्कृत तथा अवेस्तामें यह क्रमश सोष्म 'श' तथा 'स' हो गई है तथा वहाँ इसका 'शतम्' तथा 'सतम्' रूप देखा जाता है। इन दोनो वर्गोंकी भाषाएँ निम्न हैं .—

१. सतम् वर्ग—भारत ईरानी शाखा, अल्बेनियन शाखा, आर्मेनियन शाखा, बाल्तोस्लाविक शाखा।

२. केन्तुम् वर्ग—ग्रीक शाखा, इतालिक शाखा, केल्तिक शाखा, हित्ताइत, जर्मनिक या ट्यूटोनिक शाखा, तोखारी।

हम इन्हीका संक्षिप्त विवरण यहाँ देंगे।

१. भारत-ईरानी शाखा—इस शाखामें दो उपशाखाएँ हैं—भार-

तीय आर्य शाखा तथा ईरानी शाखा। वैसे एक तीसरी शाखाकी भी कल्पना की जाती है,—दरदशाखा।

भारतीय आर्य शाखाकी प्राचीनतम भाषा संस्कृत है, जिसके प्राचीन साहित्यके रूपमें वैदिक मन्त्र उपलब्ध हैं, जो इस परिवारकी प्राचीनतम साहित्यिक निधि हैं। इस शाखाका साहित्य ईसासे लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पुराना प्राप्त होता है। भारतीय आर्यशाखाकी परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंशकी स्थितिसे गुजरती हुई आजकी भारतीय आर्य भाषाओंके रूपमें विकसित हुई है, जिनका विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिकाके अन्तिम परिच्छेदमें देखा जा सकता है।

ईरानी उपशाखाके अन्तर्गत प्राचीनतम भाषा अवेस्तामें उपलब्ध होती है। अवेस्तामें वैदिक मन्त्रोंकी तरह हीं अनेक कालकी भाषा है तथा इनमें प्राचीनतम भाषा ईसासे लगभग ८०० वर्ष पूर्वकी कही जा सकती है। प्राचीन ईरानीको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक उसका प्राचीनतम रूप जो अवेस्तामें उपलब्ध होता है, दूसरा उसके पासका रूप जो अकेमेनिद राजाओंके क्यूनिफोर्म शिलालेखोंमें प्राप्त होते हैं। इनमेंसे दारिउस प्रथमके शिलालेख ५२१ ई० पू० के माने जाते है। ईरानी शाखाकी परवर्ती भाषा पहलवी है। इसके भी सोग्दी, साका, पार्थियन आदि वैभाषिक भेद पाये जाते हैं। यह स्थिति ई० पू० तीसरी सदीसे ईसाकी दसवीं सदी तक मानी जा सकती है। पहलवीकी अवेस्ताकी टीकाएँ तथा स्वतन्त्र साहित्यिक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। आजकी भाषाओंमें इस वर्गमें आधुनिक फारसी, कुर्दिश, ओसेतिक, पश्तो तथा बल्ची मुख्य हैं। इनमें साहित्यिक दृष्टिसे आधुनिक फारसीका प्रमुख स्थान है तथा उसका प्राचीनतम साहित्य ग्यारहवी सदी तक जाता है, जिसमें फिरदौसीका शाहे-नामा प्रसिद्ध है।

२ अल्बेनियन—अल्बेनियन भाषाका प्राचीनतम साहित्य ईसाकी चौदहवी शताब्दीका मिलता है। यही कारण है कि अल्बेनियनके प्राचीनकालिक तथा मध्यकालिक रूपोंका कुछ भी पता नहीं चलता।

३. आर्मेनियन शाखा—आर्मेनियन शाखाका साहित्य भी उतना पुराना नही मिलता, जितना अन्य शाखाओंका। फिर भी अल्बेनियन शाखा-की अपेक्षा इसका साहित्य अधिक पुराना मिलता है। अल्बेनियन भाषाका साहित्य ईसाकी पांचवी सदीसे निरन्तर उपलब्ध होता है। यही कारण है कि अल्बेनियन भाषाकी अपेक्षा आर्मेनियन भाषाकी मध्यकालीन स्थितिके विषयमें हमलोग बहुत अधिक जान सकते हैं। इधर कुछ दिनोंसे भाषा-शास्त्रियोंका अल्बेनियन तथा आर्मेनियन भाषाओंकी ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। वैसे इन भाषाओंकी ओर सबसे पहले फ्रेंच विद्वान् मेयेका ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उसने इन भाषाओंका वैज्ञानिक अध्ययन किया था।

४. बाल्तो-स्लाविक—बाल्तो-स्लाविक या बाल्तो-स्लावोनिक सतम् वर्गकी अन्य शाखा है। इसके अन्तर्गत भारत ईरानी शाखाकी तरह ही युगल उपशाखाओंका अस्तित्व है। एक उपशाखा बाल्तिक है, दूसरी स्ला-वोनिक। बाल्तिक उपशाखाकी प्राचीनतम प्रकृतिका पता नहीं लगता, किन्तु मध्यकालमे इसकी तीन विशेषताएँ रही है —प्राचीन लियुआनियन, प्राचीन लैतिश तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियनमे साहित्य उपलब्ध होता है, तथा यह भाषा १७ वी शताब्दी तक प्रचलित थी, किन्तु बादमे सम्भवत जर्मनके प्रभावसे इसका लोप हो गया। लियुआनियन तथा लैतिश आज भी बोली जाती हैं। भाषाशास्त्रीके लिए इनमें लियुआनियन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतयूरोपीय वर्गकी आजकी भाषाओमे लियुआनियनने प्राचीन प्रकृतिको अत्यधिक सुरक्षित रक्खा है। इस दृष्टिसे इसे 'आर्ष' प्रकृतिकी भाषा कहा जा सकता है। इसमें आज भी द्विवचनके चिह्न सुरक्षित रक्खे हैं तथा विभक्तियोंका अत्यधिक प्रयोग पाया जाता है। लियुआनियनमे आज भी ■ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। ध्वनियोंकी दृष्टिसे भी लियुआनियनने आ० भारतयूरोपीय ध्वनियोंको भी अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंकी अपेक्षा अधिक सुरक्षित रक्खा है, उदाहरणके लिए हम निम्न शब्दोंको ले लें —

लियुआ० एस्ति [Fsti]	, ग्रीक एस्ति [Esti],	संस्कृत	अस्ति
,, एइमि [Eimi],	,, एइमि [Eimi]	,,	एमि
,, उग्निस् [Ugnis],	लैटिन इग्निस् [Ignis]	,,	अग्नि

स्लावोनिक उपशाखाको पुनः तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है—दक्षिणी स्लावोनिक, पश्चिमी स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाकी भाषाएँ बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूसमें बोली जाती हैं। इन तीन भागोंमेंसे मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या "प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्त्व है। प्रा० च० स्ला० दक्षिणी स्लावोनिकका मध्यकालीन रूप है। इसमें ईसाकी नवीं शतीसे लेकर १२ वीं शती तकका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। बाल्तोस्लाविक शाखाकी मध्यकालीन प्रकृतिके उदाहरण उपयुक्त करनेके लिए भाषाशास्त्री इसी साहित्यका आश्रय लेते हैं। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ बल्गेरियन, सर्वो क्रोट तथा स्लोवन हैं। पश्चिमी उपशाखाकी मध्यकालीन भाषा 'पोलेबियन' थी, किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इस शाखाकी आधुनिक भाषाएँ—जेक, स्लोवाक, पोलिश तथा सोर्बियन हैं। सोबियन पूर्वी जर्मनीमें लगभग दस लाख आदमियोंके द्वारा बोली जाती है तथा इस शाखाकी सबसे बड़ी भाषा है। पूर्वी स्लावोनिककी मध्यकालीन प्रकृतिका पता नहीं चलता। इसकी आधुनिक भाषाएँ [बड़ी] रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियन [या छोटी रूसी] हैं। रूसी रूस देशकी राष्ट्रीय भाषा है। सफेद रूसी पोलैण्डके कुछ भागमें बोली जाती है तथा छोटी रूसी यूक्रेनमें। सोवियटकी स्थापना होनेके बाद रूसकी अन्य सभी भाषाएँ जो अब तक गिरी पड़ी अवस्थामें थीं, साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध होती जा रही हैं।

५ हित्ताइत—केन्तुम वर्गकी एक भाषा हित्ताइत है, जिसके ईंटाके लेख तुर्कीके बोगाजकुई स्थानपर प्राप्त हुए हैं। बोगाजकुई हित्ताइत साम्राज्यकी राजधानी थी तथा यह साम्राज्य ईसासे १४ वीं शताब्दी पूर्वतक

रचनाका सकेत देंगे, तो हमारा तात्पर्य प्राचीन "क्लैसिकल" ग्रीकसे ही है, आधुनिक ग्रीकसे नहीं।

७ इतालिक—यूरोपके पश्चिमी भागकी आधुनिक भाषाओंमें इतालिक शाखा तथा ट्यूटोनिक [जर्मन] शाखाकी भाषाओंका ही अधिक विस्तार पाया जाता है। इतालिक शाखाकी प्रमुख भाषा लैतिन रही है, जो यूरोपमें ग्रीकके समान ही आदृत रही है, अपितु मध्यकालमें तो ग्रीकसे भी अधिक सम्मानित रही है। प्रा० भा० यू० के अध्येताके लिए लैतिनका महत्त्व भी संस्कृत व ग्रीकके समान ही है। लैतिनने संस्कृत व ग्रीककी तरह प्रा० भा० यू० पदरचना [Morphlogy] को सुरक्षित रक्खा है। इतालिक शाखाको दो उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है —[१] लैतिन फालिस्कन, [२] ओस्कन-उम्ब्रियन। इनमें द्वितीय उपशाखाके प्राचीन रूप शिलालेखोंमें मिलते हैं, किन्तु बादमें ये विभाषाएँ लुप्त हो गई है। प्रथम उपशाखामें दो विभाषाएँ थीं, लैतिन तथा फालिस्कन। लैतिनका साहित्य ईसासे पहलेका प्राप्त होता है। लैतिनकी परवर्ती स्थिति "वल्गर लैतिन" [भ्रष्ट लैतिन] के नामसे उसी तरह विख्यात है, जैसे पतञ्जलिने अपाणिनीय प्रयोगोंको "अपभ्रंश" कहा था। वस्तुतः "वल्गर लैतिन" साहित्यिक "क्लैसिकल" लैतिनकी प्राकृत थी। इसीसे फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज, प्रोवाँसाल, इतालियन तथा रूमानियन भाषाओंका विकास हुआ है।

८. केल्तिक—केल्तिक शाखामें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती है जो लैतिन [इतालिक शाखा] में भी उपलब्ध होती है। इसीलिए कुछ विद्वानोंने इतालिक व केल्तिकको एक ही शाखाकी दो उपशाखाएँ माना था। इतालिक तथा केल्तिक दोनोंमें ही दो तरहके भाषावर्ग पाये जाते है, एक वर्गमें प्रा० भा० यू० 'क' परिवर्तित नहीं होता तथा 'क' ही बना रहता है, तथा दूसरेमें वह 'प' के रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इतालिक तथा केल्तिक शाखाओंकी दूसरी समानता यह है कि इन शाखाओंमें कर्मवाच्य रूपोंमें 'र्' का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणके लिए आयरिश

'बेरी' [Beri] का अर्थ 'ले जाना' [सं० भरति] है। इससे कर्मवाच्य रूपमें बेरी-र् [Beri-r] [वह ले जाया जाता है], बेर्ती-र् [Berti-r] [वे ले जाये जाते हैं], रूप बनते हैं। इसी प्रकार लैटिनमें भी कर्मवाच्य रूपमें 'र्' पाया जाता है। वैसे 'र्'का प्रयोग तोखारिश, हित्ताइत तथा आर्मिनियनमें भी पाया जाता है।

केल्टिक शाखामें तीन उपशाखाएँ है—[१] गैलिक या गोइदेलिक, [२] ब्रितेनिक, [३] गॉलिश। इनमें अन्तिम शाखाकी भाषाके कुछ शिला-लेख प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ स्थानों व व्यक्तियोंके नाम तथा लैटिनसे गृहीत शब्दोंका प्राचुर्य है। गॉलिश ईसाकी छठी शतीके लगभग लुप्त हो गई थी। गैलिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ आयरिश, स्कॉट, गैलिक, तथा मांक्स हैं। ब्रितेनिक उपशाखाकी आधुनिक भाषाओंमें वेल्श तथा ब्रेतन हैं। ब्रेतन फ्रांसके ब्रितेनी प्रदेशमें बोली जाती है। साहित्यिक दृष्टिसे इनमें आयरिशका साहित्य ईसाकी पाँचवी शतीमें उपलब्ध होता है तथा वेल्शका ईसाकी नवी शतीसे। बाकी भाषाएँ साहित्यिक दृष्टिसे समृद्ध नहीं हैं।

६. **जर्मन या ट्यूटोनिक शाखा**—जर्मन या ट्यूटोनिक शाखाकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, आइसलैंड, हालैण्ड तथा इङ्गलैण्डमें बोली जाती है। जर्मन शाखाको तीन उपशाखाओंमें विभक्त किया जाता है—[१] पूर्वी जर्मन, [२] उत्तरी जर्मन तथा [३] पश्चिमी जर्मन। **पूर्वी** जर्मन शाखाकी कोई भी जीवित भाषा विद्यमान नहीं है। प्राचीन साहित्यिक दृष्टिसे इसके अन्तर्गत गाथिक भाषाके लिखित साहित्यका महत्त्व है, जो ईसाकी चौथी शताब्दीके बादसे प्राप्त होता है। भाषाशास्त्रीके लिए भारतयूरोपीय परिवारके तुलनात्मक अध्ययनमें जर्मन-शाखाकी विशेषता जाननेके लिए गॉथिक ही प्रमाणस्वरूप है। अन्य उपशाखाओंका इतना प्राचीन रूप उपलब्ध नहीं। उत्तरी जर्मनका प्राचीन रूप र्‌यूनिक शिला-लेखों [Runic Inscription] में उपलब्ध होता है। उसका परवर्ती साहित्यिक रूप प्राचीन नोर्स या प्राचीन आइसलैंडिक भाषाके रूपमें मिलता

हैं। इस उपशाखाकी आधुनिक भाषाएँ स्वीडिश, डेनिश, नोर्वेजियन तथा आइसलैंडिक हैं।

पश्चिमी जर्मन उपशाखाका साहित्य तथा प्रचारकी दृष्टिसे बड़ा महत्त्व है। इस परिवारकी जर्मन भाषा तथा अँगरेजीने साहित्यिक समृद्धिके कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। पश्चिमी जर्मनको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है, [१] हाई जर्मन, [२] लो जर्मन। हाई जर्मनके अन्तर्गत प्राचीन हाई जर्मन तथा आधुनिक जर्मन, डच तथा फ्लेमिश [बेल्जियमकी भाषा] आती है। दूसरी कोटिके अन्तगत आग्ल-फ्रीजियन भाषा-युगल आता है, जिसमें साहित्यिक दृष्टिसे प्राचीन अँगरेजी या एग्लो-सैक्सन भाषा भी महत्त्वपूर्ण है। अँगरेजी तथा फ्रीजियन इस उपवर्गकी आधुनिक भाषाएँ हैं।

जेकब ग्रिमने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जर्मन भाषाके व्याकरण' [Duetsch Grammar] में हाई जर्मन तथा लो जर्मनके ध्वनिपरिवर्तनकी क्लैसिकल कालकी भाषा–ग्रीक तथा लैटिनसे तुलना करते हुए एक नियमको जन्म दिया था, जो भाषाविज्ञानमें "ग्रिमनियम" के नामसे विख्यात है। ग्रिम-नियमका सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषाओंसे किंचिन्मात्र भी नहीं है, न संस्कृत-से ही। इसका महत्त्व इस दृष्टिसे है कि प्रा० भा० यू० ध्वनियाँ गाथिक तथा परवर्ती जर्मन भाषाओंमें किस रूपमें परिवर्तित हुई हैं। वैसे ग्रिमके नियमका वर्नरवाला उपनियम एक दृष्टिसे थोड़ा बहुत संस्कृतके लिए उप-योगी कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण प्रा० भा० यू० स्वर [accent] का अनुमान लगाया जा सकता है।

१०. तोखारी—१९०४ में चीनी तुर्किस्तानमें कुछ हस्तलेख मिले थे, जो भारत-यूरोपीय परिवारकी किसी भाषामें थे। ये हस्तलेख ईसाकी छठी शतीके लगभगसे प्राप्त होते हैं। इस भाषाको 'तुषार' या 'तुखार' जातिके नामपर तोखारी, तोखारिन, तोखारेन, तोखारियन, तोखारिश कई नामोंसे पुकारा जाता है। यह भाषा यद्यपि भौगोलिक दृष्टिसे 'सतम्'

वर्गकी भाषाओंके द्वारा घिरी है, तथापि केन्तुम् वर्गकी है। इसमें "सौ" के लिए "कान्त" [Kant] शब्द पाया जाता है। तोखारी भाषासे अन्य उदाहरण ये दिये जा सकते हैं —

पातर	सं०	पितृ
मातर	सं०	मातृ
ओक्त	सं०	अष्ट

भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाकी मूल प्रकृति जाननेके लिए सस्कृत, ग्रीक तथा लैटिनका अत्यधिक महत्त्व है। इन तीनोंने प्रा० भारतयूरोपीय भाषाकी पदरचनात्मक विशेषताओंको अधिकाधिक रूपमें सुरक्षित रक्खा है। ध्वनियोंकी दृष्टिसे सस्कृत प्रा० भा० यू० की प्रकृतिको अधिक सुरक्षित रख सकी है, यद्यपि प्रा० भा० यू० स्वरध्वनियाँ सस्कृतमें अत्यधिक सकुचित हो गई हैं। सस्कृतने पाँच प्रकारकी प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंको आज भी किसी-न-किसी रूपमें सुरक्षित रक्खा है, जब कि ग्रीक व लैटिनमें वे तीन प्रकारकी कवर्ग, तवर्ग तथा पवर्गवाली ध्वनियोंमे ही समाहित हो गई हैं। इसी प्रकार सस्कृतने प्रा० भा० यू० अघोष महाप्राण तथा सघोष महाप्राण दोनों प्राण ध्वनियोंको सुरक्षित रक्खा है। इसी प्रकार ग्रीक तथा लैटिनमें शब्द रूपोंकी विभक्तियाँ भी कम हो गई है, जब कि संस्कृतने प्रा० भा० यू०की आठों विभक्तियोंको अक्षुण्ण बनाये रखा है। यही नहीं, वैदिक सस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वर [Accent] को भी अधिकाश तक सुरक्षित रक्खा है। इन सब कारणोंसे प्रा० भा० यू० के अध्येता ही नहीं, अपितु भा० यू० परिवारकी किसी भी शाखाके प्राचीनतम रूपके अध्येताके लिए, चाहे वह ग्रीक हो, या लैटिन या गॉथिक या प्राचीन चर्च स्लाविक या प्राचीन फारसी, संस्कृतकी आवश्यक प्रकृतिका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। भारतीय आर्य भाषाके विद्यार्थीके लिए तो सस्कृत मूल उत्सभूमि है, इस उद्गम स्रोतकी प्रकृतिको जाने बिना उसके लिए एक पैर भी आगे बढना कठिन होगा। इतना ही नहीं, भाषाशास्त्रके सामान्य नियमोंके ज्ञानके लिए

भी संस्कृतका थोड़ा-बहुत परिचय आवश्यक हो जाता है। १८वीं शतीके अन्तसे लेकर आजतक भाषाशास्त्रके विकासका इतिहास संस्कृतके अध्ययनसे अनुस्यूत रहा है तथा भाषाशास्त्रके इतिहासको समझनेके लिए संस्कृतका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। जब हम भाषाशास्त्र तथा संस्कृत भाषाके घनिष्ठ संबन्धकी बात करते हैं, तो हमारा अर्थ यह है कि भाषाशास्त्रको जन्म देनेमें प्रमुख हाथ संस्कृतका ही रहा है। एकमात्र संस्कृतके परिचयने ही यूरोपमें भाषा-विज्ञानको जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा, चाहे ओत्तो येस्पर्सन इसे अतिशयोक्ति माने। फिर भी येस्पर्सन संस्कृतके महत्त्वका तथा भाषाविज्ञानमें उसकी प्रबल प्रेरणाका निषेध नहीं करते।[1]

तो भाषाशास्त्रके जन्ममें निःसन्देह संस्कृतका प्रमुख हाथ रहा है। जब हम भाषाशास्त्रके जन्मकी बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य १९वीं शतीके आरंभमें यूरोपमें विकसित तुलनात्मक व्याकरण [Comparative Grammar, Philology] की प्रणालीसे है। जैसा कि यूरोपमें संस्कृतके परिचयके सम्बन्धमें विख्यात है, यूरोपीय विद्वानोंने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारोंमें एक आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। पुराने यूरोपीय विद्वान् समस्त विश्वकी भाषाओंको [यूरोप तथा एशियाकी भाषाओंको] हिब्रूसे उत्पन्न मानते थे तथा कुछ विद्वानोंने हिब्रूको आधार मानकर यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन भी उपस्थित किया था, जिसमें वे असफल ही हुए थे। जबसे यूरोपीय विद्वानोंको संस्कृतका पता लगा, तबसे वे इस भ्रान्त धारणाको छोड़कर भाषाशास्त्रकी वैज्ञानिक दिशाकी ओर बढ़ने लगे।

यूरोपीय जगत्को संस्कृतका परिचय देनेका श्रेय सर विलियम जान्सको है। वैसे सर जॉन्सके पूर्व भी कोर्दो [Coeurdoux] नामक फ्रेंच पादरीने सन् १७६७में फ्रेंच इन्स्टिट्यूटके पास भारतसे एक लेख भेजा था, जिसमें

---

१. Otto Jespersen, Language P 33.

उसने संस्कृत तथा लैतिनकी समानताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने संस्कृत अस् धातुके वर्तमानके रूपोंको उदाहृत करते हुए लैतिनके रूपोंसे इनकी तुलना की थी। किन्तु कोर्दोको संस्कृतके परिचय देनेका श्रेय न मिल सका, उसका लेख भी लगभग चालीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा उससे पहले ही अनेक विद्वानोंने इस समानताकी ओर यूरोपीय जगत्का ध्यान आकृष्ट करा दिया था। सर जॉन्सने सन् १७९६ में संस्कृतके विषयमें जो शब्द कहे थे, वे आज भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रके उदयके बीज माने जाते हैं :—

"संस्कृत भाषाकी पदरचना अत्यधिक अद्भुत है चाहे उसका मूल उद्गम कुछ भी रहा हो। यह भाषा ग्रीकसे भी अधिक पूर्ण, लैतिनसे अधिक समृद्ध तथा दोनोंसे अधिक परिष्कृत है, इतना होते हुए भी यह उन दोनोंसे क्रियाओंके मूलरूपों [धातुओं] तथा व्याकरणके रूपोंकी दृष्टिसे घनिष्ठतया सम्बद्ध है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता। यह सम्बन्ध इतना दृढ़ है कि कोई भी भाषाशास्त्री उन तीनोंका अध्ययन यह माने बिना नहीं करेगा कि वे सब किसी एक ही स्रोतसे उत्पन्न हुई हैं, जो अब नहीं पाया जाता। ऐसे ही कारणके आधारपर—यद्यपि यह कारण इतना दृढ़ नहीं है—यह भी कहा जा सकता है कि गॉथिक तथा केल्तिक भी, संस्कृतकी समान-स्रोत हैं, तथा प्राचीन फारसीको भी इसी परिवारसे जोड़ा जा सकता है।"

१९ वीं शतीके आरम्भमें भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणको अग्रेसर करनेवाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेलकी 'उबेर दी स्प्राख़ उन्द वीज़ेन दर इन्देर'' [भारतकी भाषा तथा ज्ञान-सम्पत्ति पर] १८०८ में प्रकाशित हुई। इस पुस्तकके अन्तर्गत श्लेगेलका प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक संपत्तिकी ओर संकेत करना था, किन्तु संस्कृत भाषापर भी उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। यह दूसरी बात है कि कई भाषाशास्त्रीय अनुमानोंमें वह भ्रान्त दिशाका आश्रय लेता है, उदाहरणके लिए फारसी तथा जर्मनको अत्यधिक घनिष्ठ माननेकी उसकी धारणा भ्रान्त है। संस्कृतको ही आधार बनाकर

श्लेगेलने समस्त विश्वकी भाषाओंको दो भागोंमें विभक्त किया था, [१] संस्कृतसे सम्बद्ध भाषाएँ तथा [२] अन्य भाषाएँ।

श्लेगेलके बाद यद्यपि रास्क तथा ग्रिमने भारत-यूरोपीय परिवारकी यूरोपीय भाषाओंका तुलनात्मक अध्ययन किया, किन्तु संस्कृतकी परम्पराका उत्थान करनेवाला फ्रेंज बॉप था। उसने १८१६ में अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "संस्कृत भाषाकी पदरचना तथा ग्रीक, लैतिन, फारसी और जर्मन भाषाकी पदरचनाके साथ उसकी तुलनापर" [उबेर देस कोजुगाशान्ससिस्तेम देर संस्कृत स्प्राख इन वर्ग्लेखुंग मित येनेम देर ग्रीसिस्खेन, लैतिनिस्खेन, पेरिशिस्खेन, उन्द जेर्मानिस्खेन स्प्राख] को प्रकाशित कराया, जो आज भी भारत-यूरोपीय पदरचनाशास्त्र [Philology] का दीपस्तम्भ माना जाता है।

संस्कृतकी दृष्टिसे बॉपकी परम्पराको बढानेवाला श्लेखर था। प्राचीन भारत यूरोपीय भाषाके काल्पनिक रूपकी अवतारणा करनेका श्रेय श्लेखरको ही दिया जा सकता है। श्लेखरने तो इस भाषामें "एक भेड और घोडेकी कहानी" भी लिखी थी, जिससे एक वाक्य इस पुस्तकके सप्तम अध्यायमें उद्धृत किया गया है। काल्पनिक प्रा० भा० यू० के पुनर्निर्माण [Reconstruction] के अतिरिक्त श्लेखरका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पदरचनाकी दृष्टिसे भाषाओंका आकृतिमूलक वर्गीकरण है। श्लेखरने ही सर्वप्रथम तीन तरहकी भाषाएँ मानी हैं—

१. व्यासप्रधान भाषाएँ [Isolating languages]
२. प्रत्ययप्रधान भाषाएँ [Agglutinating languages]
३. विभक्तिप्रधान भाषाएँ [Inflexional languages]

श्लेखरके परवर्ती कालमें, जिसे नव्य वैयाकरणों [न्यू ग्रेमेरियन्स] का काल कहा जाता है, भारत-यूरोपीय तुलनात्मक व्याकरणका अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रुगमान, मैक्समूलर, ह्विटनी, सोस्यूर आदि कई विद्वानोंने प्रा० भा० यू० के कई अपवादरूपोंको वैज्ञानिक सिद्ध किया।

प्रा० भा० यू० के परवर्ती अध्येताओंमें ए मेये, वाकेरनागेल, ज्यूल ब्लॉख तथा स्टर्टवेंट प्रमुख हैं। मेयेने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की कि प्रा० भा० यू० कल्पित रूपोको वस्तुतः किसी बोली जानेवाली प्राचीन भाषाका रूप मानना भ्रान्त है तथा वे केवल सूत्र रूप है, जो ग्रीक, लैतिन, सस्कृत आदि भाषाओंके परस्पर सम्बन्धके सकेत या प्रतीक हैं। वाकेरनागेल-ने 'अल्तिन्दिश्के ग्रामतीक' नामसे सस्कृत भाषाका तुलनात्मक व्याकरण उपस्थित किया, जिसे कोई भी संस्कृत भाषाका अध्येता अपनी गवेषणा करते समय नही छोड सकता। प्रस्तुत, पुस्तिकाके लिखनेमे वाकेरनागेलका यह महार्घ ग्रन्थ सदा पथप्रदर्शक रहा है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉखकी "लॉदो आर्यां" [L' Indo Aryen] भी सस्कृतके तुलनात्मक अध्ययनमे नया कदम है। वाकेरनागेलका ग्रन्थ जहाँ सस्कृतका तुलनात्मक, अध्ययन उपस्थित करता है, वहाँ ब्लॉखका ग्रन्थ वैदिक सस्कृत तथा अवेस्तासे लेकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ तक बडा सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। इन तीनो ग्रन्थोको बीसवी शतीके महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय ग्रन्थ कहना अनुचित न होगा। भारतीय आर्य भाषाओंके अध्ययनके लिए डॉ० चाटुर्ज्याका विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ "बगाली भाषाका उद्‌भव व विकास" एक दीपस्तम्भ है, जिसने अनेको विद्वानोको निश्चित दिशा प्रदान की है।

यहाँ हमारा लक्ष्य भाषाशास्त्रीय गवेषणाओंकी उद्धरणी देना न होकर भाषाशास्त्रके विकासमें सस्कृतके योगका सकेत भर करना था। संस्कृतके भाषाशास्त्रीय महत्त्वका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि यूरोपके विश्व-विद्यालयोंमें भाषाशास्त्रीय अध्ययनमें प्रवृत्त गवेषकके लिए कमसे-कम सस्कृतका सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। इस पुस्तकमें सस्कृतके सामान्य परिचयको ही लक्ष्य बनाया गया है। संस्कृत भाषाका सर्वांगीण [भाषा-शास्त्रीय] अध्ययन तो इतनेसे क्षेत्रमें सम्भव नही।

संस्कृत भाषा-उत्पत्ति [आदिम भारतयूरोपीय]

संस्कृत भाषा भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मनीय परिवारकी प्रमुख भाषाओंमें है। इस परिवारको आर्य-परिवारके नामसे भी अभिहित किया जाता है। किन्तु यह नाम प्रायः समस्त परिवारके लिए प्रयुक्त न किया जाकर, इस परिवारकी एक विशेष शाखा, भारतेरानी [हिन्द ईरानी], के लिए प्रयुक्त होता है। यह परिवार आठ या अधिक [दस] शाखाओंमें विभाजित है। इनमेंसे प्रत्येक शाखा पुनः उपशाखाओंमें विभाजित है, यह हम आमुखके अन्तर्गत देख चुके हैं। ये शाखाएँ हैं—[१] भारतेरानी शाखा, जिसके अन्तर्गत वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत तथा इससे उद्भूत हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि आर्य भारतीय भाषाएँ तथा प्राचीन ईरानी भाषा, जिसका रूप हमें पारसियोंकी धर्मपुस्तक अवेस्तामें मिलता है तथा उससे उत्पन्न नव्य फारसी, पश्तो आदि हैं, [२] बाल्तो-स्लाविक शाखा, जिसके अन्तर्गत प्राचीन रूसी, पोलिश, बोहेमियन, लिथुआनियन आदि भाषाएँ हैं, [३] आर्मेनियन शाखा, [४] अल्बेनियन शाखा¹, [५] ग्रीक शाखा, इसके अन्तर्गत प्राचीन यूनानकी प्रसिद्ध साहित्यिक भाषा ग्रीक तथा उससे उत्पन्न आजकी ग्रीक है, [६] इतैलियन शाखा, जिसमें प्राचीन ओस्कन तथा उम्ब्रियन भाषाएँ, लैतिन तथा आजकी रोमान्स भाषाएँ- फ्रेंच, इतैलियन, स्पेनिश आदि हैं, [७] केल्टिक शाखा, जिसका प्रचार एक समय सारे पाश्चात्य यूरोपमें था, किन्तु आज इससे उद्भूत आयरिश

---

[1]. आर्मेनियन तथा अल्बेनियन दो भिन्न शाखाएं हैं, जो एशिया-माइनरमें पाई जाती हैं।

तथा वेल्शके बोलनेवाले बहुत थोडे हैं[1]; [८] जर्मनीय शाखा, जिसमे अंगरेजी, डच, जर्मन, स्केण्डिनेवियन आदि भाषाएँ है। अन्वेषकोंने कुछ ऐसी भी भारतयूरोपीय भाषाओंका पता लगाया है, जो एक समय बोली जाती थी, किन्तु आज सर्वथा लुप्त हो गई है। इन भाषाओंमे कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ है, जिनके कारण इन्हें भिन्न शाखाएँ स्वीकार किया गया है। ये तोखारी तथा हित्ताइत वर्ग हैं, जिन्हें हम भारतयूरोपीय परिवारकी नवी तथा दसवी शाखा मान सकते हैं।

इन समस्त शाखाओंमे कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवारमे सम्मिलित किया गया है। उदाहरणके लिए संस्कृत 'पितृ' [पितर्] शब्दको ले लीजिए। यह शब्द ग्रीक शब्द 'पतेर' [pater], लैटिन 'पतेर' [pater], जर्मन 'फाटर' [vater] तथा अँगरेज़ी 'फादर' [father] से मिलता है। इन सभी शब्दोमें एक-सी पदान्वता पाई जाती है। ग्रीक तथा लैटिनमे तो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी संस्कृतके समान ही हैं। जर्मन तथा अँगरेजीमें व्यञ्जन ध्वनियाँ परिवर्तित हो गई है, किन्तु ये परिवर्तन ध्वनि-नियमोंके आधारपर हुए है। संस्कृतकी अघोष अल्पप्राण ध्वनि, अँगरेज़ीमें महाप्राण तथा जर्मनीमे सघोष अल्पप्राण पाई जाती है।[2] यद्यपि ये भाषाएँ अपनी-अपनी निजी विशेषताओंसे युक्त हैं, फिर भी इन सब समानान्तर रूपोमे हम एक समान सूत्रकी कल्पना कर सकते है, जिसे हम "*प्तेर" [*pəter] रूप देते है। यह तुलनात्मक रूप भारत-यूरोपीय परिवारकी काल्पनिक आदिम भाषा [Ursprach] का माना गया है। आदिम भारत-यूरोपीय जैसी भाषा थी भी या नही, इसपर हम आगे

---

१. फ्रांसके ब्रिटेनी प्रदेशकी ब्रेतन [Breton] भी इसी शाखाकी भाषा है।

२. भाषाशास्त्रमे यह नियम "ग्रिमके नियम" [Grimm's Law] के नामसे प्रसिद्ध है।

प्रकाश डालेंगे। संस्कृतसे एक दूसरे और उदाहरणको ले लीजिए। संस्कृत 'भरामि' के समानान्तर ग्रीक 'फेरो' [phero], लैटिन 'फेरो' [fero], अँगरेजी 'बीयर' [bear], प्राचीन चर्च स्लावोनिक 'बेरन' [beran] को देखिए। इन सभीका अर्थ "मैं ले जाता हूँ" है। इन सभीमें हम समान सूत्र "*भेर्–" [*bher–] की कल्पना कर सकते हैं। विश्वके अन्य भाषा परिवारोंमें यह समानता नहीं मिलती।

इस परिवारकी भाषाओंका विशेष अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि इनमें व्याकरणात्मक सम्बन्धोंको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक पदमें प्रायः तीन तत्त्व होते हैं, मूल रूप [शब्द या धातु], प्रत्यय तथा विभक्तिचिह्न। उदाहरणके लिए संस्कृत पद "गच्छता" को हम क्रमशः "गम्" [*गच्छ्], "शतृङ्" [मत् < *मन्त] तथा "टा" [आ] में विभक्त कर सकते हैं। इसी तरह संस्कृतके "दातरि" तथा ग्रीक "दोत्रि" [dotri] में क्रमशः "दा", "तर्" [तृ] तथा "इ" [ङि] एवं 'दो' [do] "तोर" [tor], तथा 'इ' [i] इन तीन तत्त्वोंको मान सकते हैं। तुर्की तथा द्रविड-परिवारकी प्रत्यय प्रधान भाषाओं-की भाँति यहाँ इन तीन तत्त्वोंमेंसे किसी भी तत्त्वको अलग नहीं किया जा सकता। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमें प्रत्यय अपना निश्चित रूप तथा अर्थ रखते हैं, किन्तु यह बात भारत-यूरोपीय भाषाओंके विषयमें नहीं। यद्यपि क्रियासे बने नाम-शब्दोंमें [कृदन्त] प्रत्यय किसी विशेष भावका बोध अवश्य कराते हैं, जैसे ऊपरका "तर्" [तोर्] प्रत्यय, तथापि यहाँ भी वह "दातर्" [दातृ] या ग्रीक "दोतोर्" का अविभाज्य अंग ही है। नव्य भारोपीय भाषाओंमें, अधिकतर भाषाओंमें, ये विभक्तियाँ न्यून होती गई हैं। संस्कृतमें जहाँ आठ विभक्तियाँ हैं, वहाँ हिन्दी व नव्य भारतीय भाषाओंमें दो ही विभक्तियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः अविकारी तथा विकारी कह सकते हैं। ठीक यही बात क्रियाओंके विषयमें कही जा सकती है। संस्कृतके दस [अथवा ग्यारह, यदि लेट्को भी माना जाय तो] लकार आज मनु-

चित होकर किसी भाषामे तीन तथा किसीमे चार रह गये है। ठीक यही बात यूरोपमे ग्रीक तथा लैतिनकी छ विभक्तियोके विषयम कही जा सकती है, जो फ्रेच, अँगरेजी आदिमे केवल एक ही विभक्तिके रूपमे देखी जाती है।

उपर्युक्त इन सभी शाखाओमें व्याकरणात्मक सबध विभक्तियासे व्यक्त किये जाते थे, जिनके रूप प्राय एक से होते थे। आदिम भारोपीय भाषामे आठ विभक्तियाँ थी। इनमेसे कई भाषावर्गोमे अधिकतर ■ ही विभक्तियाँ पाई जाती है। इन भाषाओंके विभक्तिरूपोंकी समानताके लिए "वृक" शब्दके द्वितीया बहुवचनको ले लीजिए। स० 'वृकान्', ग्रीक 'लुकोउस' [प्राचीनरूप –लुकोन्स] [lukous—>luk-ons] गोथिक 'वुल्फोन्स' [wulf-ons][1], लैतिन 'लुपोस' [lup-os], ये सब समान सूत्र "*वल्क्" [*wlk–] की ओर सकेत करेंगे, जिसमे द्वितीया बहुवचनका विभक्ति चिह्न "*ओन्स' [–*ons] लगा हुआ है। पूरा प्राचीन रूप *वल्कोन्स [*walk-ons] होगा। इस समस्त परिवारकी भाषाओमें "अ कारान्त", "आ-कारान्त", अन्य स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त [हलन्त] शब्द पाये जाते है। इन भाषाओंके तिङन्त [क्रिया] रूप भी इसी प्रकार समानान्तर है। क्रियाओके सबधमें इस परिवारम एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य भाषा परिवारोमें नही। यह विशेषता सस्कृत तथा ग्रीक दोनोम स्पष्ट है। कई गणाम तथा प्राय परोक्षभूते लिट्मे, हम देखते है, कि धातुमे द्वित्व हो जाता है। सस्कृत √धा दधाति, दधौ, सस्कृत √मन् मन्नाते, √दा–ददौ। इन्हीं के समानान्तर ग्रीकरूप 'तेथेतइ' [tethetai],[2] ममोन [memona], 'देदोतइ' [dedotai] को देखिए।

---

१. मिलाइए, अँगरेजी 'वुल्फ' [wolf] २. ग्रीकमे सघोष महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। सस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनि वहाँ अघोष महा-प्राण हो जाती है।

भारत-यूरोपीय परिवारकी दूसरी प्रमुख विशेषता "अपश्रुति" है, जो अधिकतर जर्मन पारिभाषिक संज्ञा "अब्लाउट" [Ablaut] के रूपमें प्रसिद्ध है। एक ही मूल रूप, कई भाषाओंमें कभी एक स्वरसे युक्त तथा कभी दूसरे स्वरसे युक्त पाया जाता है। इस प्रकारकी अपश्रुतिको "गुणात्मक अपश्रुति" कहते हैं। कभी-कभी मूल रूप विभिन्न मात्रावाले [शून्य, ह्रस्व तथा दीर्घ रूप] एक ही स्वरसे युक्त रूपोंमें पाया जाता है, जिसे "मात्रिक अपश्रुति" कहा जाता है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे, संस्कृतमें गुणात्मक अपश्रुति नहीं पाई जाती। संस्कृतसे मात्रिक अपश्रुतिके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं—भार, भरामि, भृति ; अश्रौषीत्, श्रोता [श्रोतृ], श्रुतम् जिनमें एक ही स्वरका क्रमशः दीर्घ, साधारण [ह्रस्व] तथा शून्य रूप पाया जाता है। इन्हींको संस्कृत व्याकरणकी परिभाषामें वृद्धिरूप, गुणरूप तथा मूल रूप कह सकते हैं। जैसा कि हम आगे बतायेंगे संस्कृत व्याकरणका गुणरूप ही तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका मूल स्वर है तथा उनका मूल रूप तुलनात्मक भाषाशास्त्रीका शून्य रूप [स्वराभावरूप] है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि प्रथम त्रिवर्गके उदाहरणोंमें मूल रूप "भर्" [*भेर्] है, जिसमें संस्कृत स्वर "अ" [अ०भा०यू०*ए] है। यही 'अ' दीर्घ रूपमें 'भार.' में पाया जाता है, 'भृति' में यह 'अ' लुप्त हो गया है, अर्थात् इस स्वरका शून्य रूप [zero-vowel] यहाँ पाया जाता है।

इन भाषाओंकी इस प्रकारकी समानताएँ इस परिणामकी ओर ले जाती हैं कि ये भाषाएँ किसी एक ही प्राचीन भाषासे उत्पन्न हुई हैं। यद्यपि इस प्रकारकी कोई भी भाषा विद्यमान नहीं, जिसे इन सब भारोपीय भाषाओंकी जननी कहा जा सके तथापि भारोपीय परिवारकी विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धके आधारपर इस भाषाकी कल्पना की गई है। कल्पित रूप होनेके कारण इस भाषाके शब्दोंको तारकचिह्नित [Star-formed] रूपमें लिखा जाता है। इस आदिम भाषाके कल्पित रूपने कई विद्वानोंमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि ऐसी

भाषा अवश्य रही होगी, जो ग्रीक, लैटिन, वैदिक संस्कृत आदिकी जननी थी, किन्तु इस भाषाकी वास्तविक सत्ता मानना निर्भ्रान्त नहीं। यही कारण है कि कई विद्वान् तो आदिम भारोपीय भाषाके अस्तित्वपर जोर देनेवाले पुराने खेवेके जर्मन भाषाशास्त्रियोंको, जो अभिनव वैयाकरण [Neo-grammarians] के नामसे भी प्रसिद्ध हैं, शुद्ध भाषाशास्त्री न मानकर केवल "तुलनात्मक पदरचनाविद्" मानते हैं। फिर भी एक दृष्टिसे इन कल्पित रूपोंका महत्त्व तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें अवश्य है। ये रूप एक प्रकारसे सूत्ररूप [Formulae] हैं, जो विभिन्न सम्बद्ध भाषाओंके समान रूपोंका संकेत करते हैं, चाहे वे सब रूप इसी सूत्र रूपसे उद्‌भूत न हुए हों। ग्रीक तथा संस्कृतमें पाई जानेवाली विशेषताएँ इनमें आरम्भसे ही हैं। यदि दोनों भाषाभाषी जातियोंका उद्भव एक ही स्थानपर मान भी लिया जाय, तो ये दो विभाषाएँ थीं, जिनमें अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ पाई जाती थीं। प्रसिद्ध फ्रेंच भाषाशास्त्री मेये [Meillet] ने इसीलिए इन तारकचिह्नित भारतयूरोपीय रूपोंको सूत्र रूप माना है। कुछ विद्वानोंके मतानुसार आदिम भारतयूरोपीय रूप भाषाओंके विकासमें बादकी सीढ़ी है। स्टर्टेवन्टके मतानुसार बोगाजकुईके लेखोंमें अन्विष्ट हित्ताइत भाषा आदिम भारतयूरोपीयकी पुत्री न होकर भगिनी है, और इस प्रकार वह प्राचीन भारत-हित्ताइत भाषाकी कल्पना करता है, जो काल्पनिक भारोपीय तथा हित्ताइत दोनोंकी जननी रही होगी।[1]

प्रसिद्ध रूसी भाषाशास्त्री मारके मतानुसार भारत-यूरोपीय परिवार अलग से परिवार न होकर काकेशियन भाषाओंसे सम्बद्ध है। इनके तुलनात्मक आधारपर उसने अपनी अलगसे सिद्धान्तसरणि स्थापित की थी। यह काल्पनिक भाषा-परिवार "जफेतिक" के नामसे प्रसिद्ध है। मारके मतानुसार

---

१. देखिए Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals Ch. I. साथ ही Sturtevant : Indo-Hittite. ['Languge' 1926, Vol. II, P. 30.]

जफेतिक परिवारकी भाषाएँ यूरोपके पिरेनीज पहाड़ोंसे लेकर मध्य एशियामें पामीरतक बोली जाती थी। उसने सारी आर्य तथा काकेशियन भाषाओंको एक चतु सूत्री जफेतिक भाषाकी बोतलमें भरनेकी चेष्टा की है। उसके ये चार सूत्र हैं —सल् [Sal], बेर् [Ber], योन [Yon] तथा रोश् [Rosˇ]। पर मारकी सरणि त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। स्वय उसके शिष्य ही उसकी त्रुटियोको स्वीकार करने लग गये है।[1]

इन भाषाओंकी समानता देखकर अनुमान होता है कि आरम्भमें इनके बोलनेवाले एक ही स्थानपर रहते होंगे। यद्यपि उस समय विभिन्न वर्गोंकी विभाषाओंमें परस्पर कुछ ध्वन्यात्मक विभेद रहा होगा, तथापि वे विभाषाएँ प्राय एक-सी ही थी। ये आदिम भारोपीय भाषाका व्यवहार करनेवाले लोग, जिन्हे भाषा-शास्त्रियोंने 'वीरोस्' [wiros] नाम दिया है, आरम्भमें कहाँ रहते थे, इस विषयमें विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। स्व० बाल गगाधर तिलकके मतानुसार ये उत्तरी ध्रुवसे मध्यएशियामें आये थे। मध्यएशियासे ही यह आर्य-जाति दो प्रमुख वर्गोंमें विभाजित हो गई थी। एक वर्ग यूरोपकी ओर चल पड़ा, एक ईरान और भारतकी ओर। मैक्समूलर आदि विद्वान् मध्यएशियाको ही आर्योंकी आदिम जन्म-भू समझते हैं। ग्रोएवरके मतानुसार आर्योंकी आदिम जन्मभूमि वोल्गा नदीके आस-पास थी। वहींसे इनके विभिन्न वर्ग विभिन्न दिशाकी ओर चल पड़े। इन वर्गोंके पृथक् होनेके पूर्व ही आर्यजाति सभ्यताकी दृष्टिसे विकसित हो चुकी थी। पशुचारण तथा कृषि इनका मुख्य व्यापार था। ये लोग ग्राम बसाकर रहना सीख गये थे, किन्तु ये ग्राम फिर भी स्थिर न होकर यायावर थे। भेड़, घोड़ा, कुत्ता, गाय जैसे पालतू जानवर तथा रीछ एव भेडिये जैसे जगली पशुओसे

१. देखिए न्यूयार्कसे प्रकाशित Soviet Controversy in Linguistics नामक पुस्तक। साथ ही W. K. Mathews का विस्तृत लेख Soviet Contribution to Linguistics [Archivum Linguisticum vol 2. P. I II, PP 1-23, 97-121.]

ये लोग परिचित थे, क्योंकि इनके लिए इस परिवारकी प्रायः सभी भाषाओंमेंसे एकसे शब्द पाये जाते हैं। यथा,

१. सं० अविः—ग्रीक ओउइस् [ouis], रूसी ओउका कोरोना [ouka Korona] प्रा० भा० यू० *ओविस् [*owis]

२. सं० अश्वः—ग्रीक ह्प्पोस् [heppos], लिथुआनियन अश्व, [asva] प्रा० भा० यू० अएक्वोस् [aekʷos]

३. सं० श्वा (श्वन्)–ग्रीक कुओन् [kuon], लिथु० शुओ [s uo] प्रा० भा० यू० *कुनोस् [*kunos].

४. सं० गौ —ग्रीक बोउस् [bous], लै० बोस [bos], फ्रेंच बीफ [boeuf], रूसी गोव्यादिना [govyadina], प्रा० भा० यू० *ग्वोउस् [*gʷous][1]

इन शब्दोंके अतिरिक्त कई अन्य वस्तुएँ भी समान नामसे अभिहित की जाती हैं, जैसे धूम, शहद [मधु], रुधिर, मास आदि। माता, पिता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, देवर, जामाता, पति, श्वसुर, श्वश्रू आदिके नाम भी इनमेंसे कई भाषाओंमें समान हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, विभिन्न क्रियाओं तथा उपसर्गोंके रूप भी एक ही प्रकारके पाये जाते हैं।

भारत यूरोपीय भाषाओंका अध्ययन करनेपर ऐसा पता चलता है कि ये भाषाएँ दो वर्गोंमें बाँटी जा सकती हैं, जो भिन्न-भिन्न आर्योंकी विभाषाएँ रही होंगी। इसके पूर्व कि हम इन दो वर्गोंको लें, हमें यह देखना है कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके आधारपर आदिम भारत योरोपीय भाषाका काल्पनिक रूप कैसा माना जाता है।

---

१. भाषाशास्त्रियोंके मतानुसार *ग्वोउस् शुद्ध भा० यू० न होकर सुमेरी [अनार्य] भाषाके "गू" शब्दसे लिया गया है, जिसका अर्थ गाय है।

किसी भी भाषाके अध्ययनको तीन अंगोंमें विभाजित किया जा सकता है, प्रथम उसकी ध्वनियोंका अध्ययन, दूसरे उसकी पदरचनाका, तीसरे वाक्य-रचनाका। इनके अतिरिक्त एक चौथा भाषाशास्त्रीय तत्त्व और है जिसके अन्तर्गत भाषाके शब्द-कोष तथा अर्थ-प्रक्रियापर विचार किया जाता है, जो 'अर्थ-विज्ञान' कहलाता है। आदिम भारतयूरोपीय भाषाकी वाक्यरचनाके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। शब्दकोषका विचार हम कल्पित रूपोंके अन्तर्गत कर ही लेते हैं।

आदिम भारत यूरोपीय ध्वनियाँ:—भारत यूरोपीय परिवारकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भाषाशास्त्रियोंने कल्पना की है कि आदिम भा० यू० भाषामें शुद्ध स्वर सात थे—अ, आ, ऍ, ए, ऑ, ओ, तथा 'ə' [ə]। अ, ऍ तथा ऑ ह्रस्व स्वर थे, एव ə एक प्रकारका दुर्बल स्वर था। आ, ए, ओ क्रमशः ह्रस्व अ, ऍ, ऑ के दीर्घ रूप थे। जैसा कि हम आगे देखेंगे संस्कृतमें भा० यू० स्वर संकुचित हो गये हैं। ग्रीकमें ये स्वर इसी रूपमें पाये जाते हैं, हाँ दुर्बल स्वर वहाँ नहीं पाया जाता। ग्रीकमें ह्रस्व अ, ऍ, ऑ तथा दीर्घ आ, ए, ओ दोनों प्रकारके वर्गके सम्पूर्ण स्वर हैं किन्तु संस्कृतमें आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध भारोपीय स्वरके रूपमें हैं। संस्कृतमें आकर आदिम भा० यू० ह्रस्व ऍ, ऑ ने अ का रूप तथा दीर्घ ए, ओ, ने आ का रूप धारण कर लिया है। उदाहरणके लिए देखिए—

संस्कृत भरामि, ग्रीक फेरो [phero] प्रा० भा० यू० *भेर् [*bher]
सं० अष्ट, ग्रीक ऑक्तो [octo] प्रा० भा० यू० *ऑक्तो [*octo]
सं० अधात्, ग्रीक ऍथेके [ethēke] प्रा०भा०यू० *ऍ-धे [*e-dhē]
सं० ज्ञात, ग्रीक ग्नोतॉस [gnōtos] प्रा०भा०यू० ग्नतॉस [*gn-tos]

संस्कृत ए, ओ तथा ऐ, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनियुग्मोंसे जनित हैं, इसे हम आगे बतायेंगे। दुर्बल स्वर ə [ə],—जिसे 'श्वा'

[Schwa] कहा जाता है—की कल्पना इसलिए आ० भा० यू० में की गई है कि जहाँ ग्रीक तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें ■ स्वर पाया जाता है, वहाँ कई समानान्तर शब्दोंमें भारतेरानी शाखामें इ हो जाता है। यदि आ० भा०यू०में अ ही माना जाय, तो भारतेरानी शाखामें अ अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणके लिए ग्रीक शब्द "पतेर्" [pater] का समानान्तर संस्कृत शब्द पितृ [पितर्] है, यह हम देख चुके हैं। यदि मूल भा० यू० भाषामें ■ स्वर होता, तो संस्कृतमें *पतृ [पतर्] रूप होना चाहिए था, वह नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दमें मूल भा० यू० स्वर अ [a] नहीं था। इसीलिए उसे अ [ə] माना गया है। इस शब्दका भा० यू० मूलरूप *प्अतेर् [pəter] रहा होगा।

इन शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त उस भाषामें छः अन्तःस्थोंकी कल्पना की गई है। अन्तःस्थ वे ध्वनियाँ हैं, जो वस्तुतः व्यञ्जन होते हुए भी कभी-कभी स्वरका भी काम करती हैं। हम देखते हैं कि स्वर अक्षर [सिलेबिल] की संघटनामें प्रमुख कार्य करते हैं। इन्हें व्यञ्जनकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु इनकी सहायताके बिना व्यञ्जनका उच्चारण स्वतन्त्र अक्षरके रूपमें नहीं किया जा सकता। अन्तःस्थ व अपवादपूर्ण व्यञ्जन हैं, जो कभी-कभी अक्षर संघटना[Syllabic function]में स्वरका कार्य करते हैं। आदिम भा०यू० भाषामें य्, व्, र्, ल्, न्, म् ये छः अन्तःस्थ माने गये हैं। इन्हींका अक्षर संघटनाकारी स्वर रूप इ, उ, ऋ, लृ, [अ-] न्, [अ-] म् पाया जाता है। मात्राकी दृष्टिसे इनके रूप ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य तीनों प्रकारके पाये जाते हैं। व्यञ्जन रूप तथा स्वर रूपके अतिरिक्त ये अन्तःस्थ एक ऐसा भी रूप रखते थे जो स्वर तथा समान व्यञ्जनका युग्म था, इसे हम इय्, उव्, ऋर्, लृल्, [अ-] नृन्, [अ-] मृम् मानते हैं। ये अन्तःस्थ शुद्ध स्वरोंके साथ युक्त होकर आ०भा०यू० ध्वनियुग्मोंके रूपमें भी पाये जाते थे, यथा अय्, एय्, ओय्, आय्, एय्, ओय् आदि। इसी तरह व्, र्, ल्, न्, म् वाले रूप भी पाये जाते होंगे। ह्रस्व मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म संस्कृतमें

आकर ए, ओ तथा दीर्घ मूल स्वरवाले ध्वनियुग्म ऐ, औ हो गये हैं। उदाहरणके लिए देखिए—

स० वेद, ग्री० [वों] ओइद [(w) oida], गॉ० वइत, जर्मन वेइस
प्रा०भा०यू० *वोयद [*Woyda]

स० रोचते, ग्री० लेउकोस [leukos], प्रा०भा०यू० लेवक्[*lewk etay]

स०अरैक्षम्,ग्री०एलेइप्स[eleipsa], प्रा०भा०यू०*लेय्यव[*leykw-sm̥]

स० द्यौ०, ग्रीक जेउस् [प्राचीन रूप, जेउस्] [zeus < zues]
अंगरेजी ट्यूस [Tues,Tues-day] प्रा०भा०यू० *द्येवस् [*dyew-s]

स० नौ, ग्रीक नाउस् [naus], लैटिन नाविस् [navis], अंगरेजी
नेवी [navy], प्रा०भा०यू० *नावस् [*naw-s],

व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे सबसे बडी विशेषता, जिसकी कल्पना आ०भा०यू० में की गई है, तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियोंका अस्तित्व है। यह तो सभी विभाषाओंमें देखा जाता है कि परवर्ती स्वरसे युक्त कण्ठ्य[१] [कोमल-तालु जन्य velar] ध्वनि प्राय उस स्वरसे प्रभावित हो जाती है। उदाहरणके लिए 'क' अक्षरकी 'क्' ध्वनि कि तथा कु अक्षरकी क् ध्वनिसे कुछ भिन्न-सी है। 'इ' के योगसे वह कुछ तालव्य-सी तथा उ के योगमें कुछ कण्ठोष्ठ्य-सी पाई जाती है। इनका उच्चारण करते समय जिह्वा तत्तत् दशामें अन्तर्मुखके तत्तत् भागका स्पर्श करती है। 'क-वर्गको

---

१. शुद्ध ध्वनिशास्त्रकी दृष्टिसे 'क' वर्गको कण्ठ्य मानना ठीक नहीं, इसके उच्चारणमें जीभका स्पर्श कोमलतालुसे होता है; अत इसे कोमलतालुजन्य कहना वैज्ञानिक है। पर कण्ठ्य चल पडनेके कारण हमने दोनोंका प्रयोग किया है।

शुद्ध, तालव्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंको हम क् [k] क्य् [k̂] क्व् [kʷ] से व्यक्त कर सकते हैं। सुविधाकी दृष्टिसे हम इस क्रमको न लेकर क्य्, क्, क्व् क्रमको लेंगे। जब हम आ॰भा॰यू॰के अन्तर्गत तीन कवर्गोंको मानते हैं, तो हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वर्गके साथ किसी भी स्वरका उच्चारण वहाँ पाया जा सकता था। तालव्य 'क्य्' पश्चस्वर [उ, ओ] से युक्त तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' अग्रस्वर [इ, ए] से युक्त भी पाया जा सकता था। यद्यपि भा॰यू॰ परिवारकी किसी भी भाषामें ये तीन प्रकारकी कवर्ग ध्वनियाँ नहीं पाई जाती, तथापि इस परिवारकी भाषाओंमें दो वर्गोंकी स्थितिके कारण यह कल्पना की गई है। शुद्ध कण्ठ्य ध्वनियाँ जहाँ एक वर्गमें तालव्योंमें समाहित हो गई हैं, वहाँ दूसरे वर्गमें कण्ठोष्ठ्यमें। भा॰यू॰ तालव्य ध्वनियाँ [क्य् आदि] इन दोनों वर्गोंमें भिन्न रूपसे विकसित हुई हैं। एक वर्गमें ये कण्ठ्य रही हैं, किन्तु द्वितीय वर्गमें ये ऊष्म बन गई हैं। उदाहरणके लिए आ॰ भा॰ यू॰ *क्यम्तोम् [k̂mtom] एक वर्गके अन्तर्गत ग्रीक, [हे] क्तोन् [he-kton], लैटिन, केन्तुम् [centum], तोखारी, कन्त [kant] के रूपमें विकसित हुआ है, जब कि दूसरे वर्गमें संस्कृत, शतम्, अवेस्ता, सतअम् [satam], प्रा॰ चर्च स्लाॅवोनिक, सूतो [suto], रूसी, स्तो [sto] के रूपमें। इसी आधारपर प्रथम वर्गको हम केन्तुम् वर्ग तथा द्वितीयको शतम् [सतम्] वर्ग कहते हैं। यह नाम "सौ" के लिए विभिन्न भाषाओंमें प्रयुक्त शब्दोंके आधारपर बनाया गया है। जहाँ तक शुद्ध कोमलतालुजन्य [कण्ठ्य] ध्वनियोंका प्रश्न है, जब तक उसका प्रतिरूप शब्द दोनों वर्गोंमें नहीं मिल जाता है, हम उस शब्दका आ॰ भा॰ यू॰ रूप क्या था इसकी कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणके लिए संस्कृत 'कृष्ण' का समानान्तर 'सत' वर्गकी प्रा॰ चर्च स्लाॅवोनिकमें चिनु [s̆ cinu] रूप मिलता है, किन्तु केन्तुम् वर्गका कोई समानान्तर रूप न मिलनेसे हम नहीं बता सकते कि 'कृष्ण' शब्द मूल भा॰ यू॰ है या नहीं, साथ ही इसकी पदादिध्वनि, यदि मूल

भा० यू० है, तो शुद्ध कण्ठ्य थी या कण्ठोष्ठ्य। यदि दोनों भाषाओंमें समानान्तर शब्द मिल जाते हैं तथा यह दोनों वर्गोंमें 'क' ही है, तो हम कह सकते हैं कि इसका मूल रूप शुद्ध कण्ठ्य रहा होगा। उदाहरणके लिए सं० क्रवि [क्रविस्], ग्रीक, क्रेअस् [kreas], लै० क्रुओर् [kruor] के आधारपर हम *क्रेव्अस् [*krewə-s] की कल्पना कर सकते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृतमें आ० भा० यू० शुद्ध 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व्' दोनोंका विकास एक-सा रहा है। ये दोनों ही ए, ए, इ, ई, य् [सं० अ, आ, इ, ई, य्] के पूर्व 'च' तथा अ, आ, ओ, औ [सं. अ, आ] के पूर्व 'क' रूपमें विकसित हुए हैं। सतम् वर्गमें शुद्ध कण्ठ्य 'क' ही रहा है तथा आ० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य लैटिन तथा जर्मन शाखामें 'क्व' ही बना रहा है, जो ओठोंको गोलाकार बनाकर उच्चरित किया जाता है। अँगरेजीकी 'क्वीन' [Queen,] क्विक [Quick] आदिमें यही 'क्व' ध्वनि है, पर यहाँ यह सदा 'उ' स्वरके साथ पाई जाती है। लैटिन तथा जर्मन समानान्तर शब्दोंकी संस्कृत आदि सतम् वर्गकी भाषाओंके शब्दोंसे तुलना करनेपर हम आ० भा० यू० ध्वनिकी प्रकृति बता सकते हैं। ग्रीकमें यह कण्ठोष्ठ्य 'क' अग्रस्वरके पूर्व 'त' तथा पश्च स्वरके पूर्व 'प' हो गया है। उदाहरणके लिए—

सं० क, कव, चित्, ग्रीक, तो-थेन [स. कस्मात्] [tothen], ग्रीक, तिस् [tis], लै० क्वो, क्वि [quo, qui], अँगरेजी, हू [who] ह्वाट [what] → प्रा० भा० यू० *क्वो-, *क्वि-[*kʷo-, *kʷi]। ध्यान दीजिए संस्कृतका 'क' अँगरेजी 'ह्व' हो गया है। [ग्रिम-नियमके अनुसार क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण 'क' लोजर्मन [अँगरेजी आदि] में महाप्राण [ह] बन जाता है।]

आदिम भारत यूरोपीय भाषामें इन तीन प्रकारके कण्ठ्यवर्गके अतिरिक्त दो और वर्ग थे—दन्त्य तथा ओष्ठ्य। प्रत्येक वर्गमें दो प्रकारकी ध्वनियाँ थीं,

एक अघोष [यथा क, त, प], दूसरी सघोष [ग, द, ब]। इनके महाप्राण रूप भी पाये जाते थे। किन्तु महाप्राण रूप केवल सघोष ध्वनियोंके ही पाये जाते थे या दोनोंके, इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। अधिकतर विद्वान् आ० भा० यू० में अघोष अल्पप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण ये तीन ही ध्वनिरूप मानते हैं। प्रो० प्रोकोस्च तथा हरमन कोल्लिजने एक नई सिद्धान्तसरणि प्रकट की है, उनके मतानुसार आ० भा० यू०में सघोष महाप्राण ध्वनियाँ सर्वथा नहीं थी किन्तु अघोष महाप्राण अवश्य थी[1]। हित्ताइतकी खोजने इन महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको थोड़ा-बहुत सुलझा दिया है। इसीके आधारपर स्टर्टेवन्टने आ० भा० यू०में दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियाँ मानी हैं, जो वस्तुत अल्पप्राण ध्वनियोंका, प्राचीन भारत हित्ताइत भाषामें पायी जानेवाली अघोष कण्ठनालिक [Non-voiced laryngeals]—[', ꭓ] तथा सघोष कण्ठनालिक [Voiced laryngeals] (, , ɣ) के सम्पर्कसे जनित विकसित रूप है।[2] अत आ० भा० यू० भाषामें चार प्रकारकी ध्वनियाँ प्रत्येक वर्गमें रही होंगी।

	अघोष अल्पप्रा०	अ० महा०	स० अल्प०	स० महा०
कण्ठ्य	क [k]	ख [kh]	ग [g]	घ [gh]
तालव्य	क्य [$\hat{k}$]	ख्य [$\hat{k}h$]	ग्य [$\hat{g}$]	घ्य [$g\hat{h}$]
कण्ठोष्ठ्य	क्व [k^w]	ख्व [kh^w]	ग्व [g^w]	घ्व [gh^w]
दन्त्य	त [t]	थ [th]	द [d]	ध [dh]
ओष्ठ्य	प [p]	फ [ph]	ब [b]	भ [bh]

---

१ Language. (American linguistic Journal) 1926, Vol II, P. 178.

२. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals. ch V pp. 66 and following.

आदिम भारत यूरोपीय भाषाकी दोनों प्रकारकी महाप्राण ध्वनियोंको संस्कृतने अक्षुण्ण बनाये रक्खा है। ग्रीकमें जाकर महाप्राण सघोष ध्वनियाँ केवल अघोष महाप्राण ख, थ, फ; [kh, th, ph] रह गई हैं। ईरानी, जर्मन तथा बाल्तोस्लाविकमें सघोष महाप्राण ध्वनियाँ, सघोष अल्पप्राण ग, द, ब हो गई हैं। लैटिन तथा केल्तिकमें इनमेंसे कुछ सोष्म रूप हो गई हैं। जैसा कि हम अगले परिच्छेदमें देखेंगे आ० भा० यू० ख, थ, फ, ध्वनियाँ ईरानीमें भी सोष्म ख, थ, फ हो गई हैं। आ० भा० यू० में एक ही पदमें एक साथ दो महाप्राण ध्वनियाँ पाई जाती थीं, किन्तु ग्रीक तथा संस्कृत आदिमें आकर प्रथम ध्वनिकी प्राणता लुप्त हो जाती है।[1] संस्कृतसे दधार, बभूव, बुभोज, जघान आदि कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ग्रीकमें आ० भा० यू० की प्राय: सभी स्वर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, वहाँ व्यञ्जन ध्वनियोंकी दृष्टिसे संस्कृत, आ० भा० यू० भाषाका सच्चा प्रतिनिधित्व करती है।

इन ध्वनियोंके अतिरिक्त आ० भा० यू० में एक सोष्म ध्वनि स भी थी। यह ध्वनि उस भाषामें परिस्थित्यनुकूल अघोष तथा सघोष [ज़] दोनों रूपोंमें पाई जाती थी। ग, द, ब आदि सघोष ध्वनियोंके पूर्व होनेपर यह सघोष ज़ के रूपमें उच्चरित होती थी। *ज़ का यह रूप अवेस्तामें मिलता* है, जब कि स ध्वनि वहाँ ह हो गई। संस्कृतमें स का अघोष रूप ही पाया जाता है। ग्रीकमें पदादि ध्वनि स,ह हो गई है, किन्तु पदमध्य या पदान्तमें वह 'स' ही रही है। लैटिनमें पदमध्य स ध्वनि 'रेफ' [र] हो गई है। इस सिद्धान्तके विभिन्नभाषीय उदाहरण यथावसर संस्कृत ध्वनियोंका विवेचन करते समय दिये जायँगे। आ० भा० यू०में दो प्रकारकी शुद्ध प्राणध्वनि—एक अघोष 'ह्' ध्वनि तथा दूसरी सघोष 'ह्' ध्वनि—रही होगी। स्वय

---

१. यही सिद्धान्त "ग्रासमानके उपनियम" [Grasmann's Corollary] के नामसे भाषाशास्त्रमें प्रसिद्ध है।

संस्कृतमें ही दोनों प्रकारकी प्राणध्वनि मिलती है—अघोष शुद्ध प्राणध्वनि "विसर्ग" [:] के रूपमें, सघोष प्राणध्वनि ह् के रूपमें।

हिन्द-हित्ताइत ध्वनियाँ.—स्टर्टेवन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आ० भा० यू० भाषाके पहले भी आदिम भारत-हित्ताइत या आदिम हिन्द-हित्ताइत [Proto Indo-hittite] भाषाकी कल्पना करते हैं। ईसा पूर्व १४वी शताब्दीके हित्ताइत साम्राज्यके इष्टिकालेख जो तुर्कीके बोगाज़-कुई स्थानसे प्राप्त हुए हैं, एक और आर्य भाषाका संकेत करते हैं, जिसे हित्ताइत नाम दिया गया है। यह भाषा, कल्पित आ० भा० यू०की बहिन मानी जाती है, और इस तरह एक द्वितारकचिह्नित [Double-starred] भाषाकी कल्पना करनी पड़ती है। यहाँ संक्षेपमें इस कल्पित हिन्द-हित्ता-इत भाषाकी ध्वनियोंका संकेत कर देना अनावश्यक न होगा।

स्वर.—ऍ [e], ए [ē], ऑ [o], ओ [ō], तथा ǒ [ə] [यह स्वर हीन [unaccented] ऍ [e] का रूप था।]

[विद्वानोंके मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियोंका मूल ऍ [e] ध्वनि ही थी, सब उसीसे विकसित हुए थे।]

अन्तःस्थ—य [y], व [w], र [r], ल [l], न [n], म [m]

कण्ठनालीय ध्वनि—, , , x, ४.

[प्राणध्वनि—अघोष ह [h h] तथा सघोष ह [h]–ये दोनों अलगसे ध्वनियाँ न होकर क्रमशः x तथा ४ के रूप थीं।]

स्पर्शव्यञ्जन—क [k], त [t], प [p], ग [g], द [d], ब [b], घ [gh], ध [dh], भ [bh]

सोष्म—स [s]

इन ध्वनियोंमें चार कण्ठनालीय ध्वनियोंका विशेष महत्त्व है। इनमें द्वितीय तृतीय अघोष कण्ठनालीय ध्वनियाँ हैं, इतर दो सघोष कण्ठनालीय।

प्रथम दोका वास्तविक अस्तित्व नही है, केवल कल्पनाके आधारपर उनकी सत्ता सिद्ध है।

१ ,—कण्ठनालीय ध्वनिकी सत्ता निषेधात्मक है। कई स्थानपर आ० भा० हि० ए–अ के रूपमे परिवर्तित नही होते। इसके कारण स्वरूप, वहाँ इस सघोष कण्ठनालीय ध्वनिका अनुमान किया गया है। जैसे—

हि० ऐप्प [epp-] [ले जाना], स० आप्नोति, आ० भा० यू० *'एप्' [*ep–]—आ० भा० हि **'e' p [? ए ? प]

हि० एस [बैठना], स० आस्ते, ग्रीक, हेस्ताइ [hestaı], आ० भा० यू० *एस्* [es–], आ० भा० हि० **'e's [? ए ? स]

२ , कण्ठनालीय ध्वनि भी निषेधात्मक है। यह ध्वनि भी लुप्त हो गई होगी। कई स्थलमे हित्ताइत अ लैटिन, ग्रीक तथा केल्तिकमे अ ही पाया जाता है। इसके आधारपर स्विस भाषाशास्त्री फर्दिनांद द सोस्यूर [Ferdinand de Saussure] ने यह अनुमान किया कि आदिम भाषामें कोई 'अ रंजित' [a-coloured] कण्ठनालिक ध्वनि रही होगी। यह ध्वनि ऐ को अ बना देती होगी। जैसे, 'हित्ता० मेम–इ' [mema-ı] [कहना], संस्कृत मन्यते [याद करना]।

३ ς–यह ध्वनि अघोष थी तथा ऐ को अ के रूपमे परिवर्तित कर देती होगी। हित्ताइतमे इसका रूप ḫ [ḫ] पाया जाता है जैसे हि० nehhı [नेहि] [मैं ले आता हूँ], भा० हि०** ne'ıka स नयामि।

इस ध्वनिका पता कुरिलोविसने चलाया था।

४ ४ यह सघोष कण्ठनालिक ध्वनि थी, इसका अस्तित्व हित्ताइतम स्पष्ट है। हित्ताइतमें इसका ḫ रूप पाया जाता है। यह स्वय हित्ताइत भाषामे ऐ के बाद अव्यवहित रूपमे प्रयुक्त होती है। ४ इस प्रकार ३ का सघोष रूप है। यथा,

हि० मेहुर् [mehur] [समय], सं० मति, मिमाति, मात्र, मित ; ग्रीक मेतिस् [metis] [बुद्धि] मेत्रोन् [metron] [माप] लै० मेतिओर [metior] [माप], गॉथिक मेल [mel] [समय], भा० हि०**मेर् [**mer–],

इन चार कण्ठ्यतालव्य ध्वनियोंके अन्वेषणका महत्त्व इसलिए है कि इसने एक ओर आ० भा० यू० भाषाकी स्वर-ध्वनियोंकी समस्याको, दूसरी ओर उसकी महाप्राण ध्वनियोंकी समस्याको सुलझाया है।

आदिम भारत यूरोपीय पद-रचना—भाषाशास्त्रके दूसरे तत्त्व पद-रचनाको लेते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत आ० भा० यू० रूपोंका पूर्ण-रूपसे प्रतिनिधित्व करती है। आ० भा० यू० सुप्-विभक्तियाँ प्रथम या तो किसी द्रव्य तथा क्रिया अथवा द्रव्य तथा द्रव्य [यथा षष्ठी, रामस्य पुत्र, में] के पारस्परिक सबंधको तथा दूसरे, द्रव्यके वचनको व्यक्त करती थी। इस प्रकार ये विभक्तियाँ क्रमशः कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण एवं सम्बोधन कारकको व्यक्त करती हैं, जिन्हें हम संस्कृतमें क्रमपर चाहें तो प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधन कह सकते हैं। वचनकी दृष्टिसे ये विभक्तियाँ एक-वचन, द्विवचन तथा बहुवचनमें विभक्त थी। इस परिवारकी समस्त भाषाओंमें ये आठ विभक्तियाँ तथा तीन वचन केवल संस्कृत भाषामें ही उपलब्ध हैं। इसमें भी ध्यान देनेपर पता चलेगा कि यद्यपि संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है तथापि यहाँ आठों विभक्तियोंके द्विवचनमें तीन ही रूप पाये जाते हैं, यथा, रामौ [कर्ता, कर्म, सम्बोधन द्वि०], रामा-भ्याम् [करण, सम्प्रदान, अपादान द्वि०] रामयोः [सम्बन्ध, अधिकरण द्वि०]। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतमें भी द्विवचन विशेष संकुचित रूपमें पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें प्राचीन ग्रीकमें यह पाया जाता है[1], किन्तु

---

[1] देखिए परिशिष्ट क में संस्कृत, ग्रीक व लैटिन शब्दोंके रूप।

लैतिनमें लुप्त हो गया है। प्राचीन चर्च स्लावोनिक एवं लियुआनियनमें यह अवश्य पाया जाता है, किन्तु अत्यधिक संकुचित रूपमें। जर्मनीय वर्गकी प्राचीन भाषा गॉथिकमें द्विवचन केवल सर्वनामके रूपोंमें पाया जाता है। विभक्तियोंकी संख्या भी संस्कृतमें आठ हैं, ग्रीक तथा चर्च स्लावोनिकमें ■, गॉथिकमें केवल चार हो।

सुप् विभक्तियोंके चिह्नोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि इन कई भाषाओंमें ये चिह्न एक-से हैं। उदाहरणके लिए प्रथमा विभक्ति एक-वचनका चिह्न *'स्' [संस्कृत सुप्], द्वितीया एकवचनका *'म्' [सं०, अम्] तथा षष्ठी बहुवचनका *ओम् [जो संस्कृतमें ध्वनिनियमसे 'आम्' हो गया है, जैसे रामाणाम्‌में] ले लें। इनमें संस्कृत वृक शब्दके क्रमशः वृकः, वृकम्, तथा वृकाणाम् रूप होंगे, जिनके आ० भा० यू० रूप *वृल्कोस् [wlkos], *वृल्कम् [wlkm], तथा *वृल्कोम् [wlkom] रहे होंगे। इसी प्रकार संस्कृतके 'भ' व्यञ्जन ध्वनिवाले विभक्तिचिह्न भ्याम्, भिस्, भ्यस् भी आ० भा० यू० से ही जनित है। यह 'भ' संस्कृत, लैतिन तथा आर्मीनियनमें पाया जाता है, किन्तु जर्मन तथा बाल्तो स्लाविकमें यह 'म' हो गया है।

१ सं० भ्यस् [भ्य], लैतिन, बुस् [bus], गॉथिक, म् [m] सम्प्रदान बहुव०, [Dative plural], लियुआ० मुस् [mus] आ० भा० यू०—*भ्यस् [*bhyas]। ग्रीकमें आकर यह *भ, फ हो गया है, किन्तु ग्रीकमें संस्कृत भिस्–भ्यस् के समानान्तर रूप केवल होमरकी भाषामें ही पाये जाते हैं, बादकी साहित्यिक ग्रीकमें नहीं। होमरमें हमें "नाउफि" [nāuphi] रूप मिलता है, जो संस्कृतके नौभि के समानान्तर है। इतना होते हुए भी एक ओर कुछ भाषाओंमें भ तथा दूसरी भाषाओंमें म पाये जानेसे यह भ–मकी समस्या पूरी नहीं सुलझती। यही कारण है कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानमें कई विद्वानोंने आ० भा० यू० में *म–वाले तथा *भ–वाले दो

तरहके द्विवचन, बहुवचन रूप माने हैं।[1] इस प्रकारकी कल्पना की गई है कि इन दोनोंमें आ० भा० यू०—*भ चिह्न संज्ञाओंमें (विशेषणोंमें भी) पाया जाता था, तथा—*भ चिह्न सर्वनामोंके रूपोंमें। किन्तु बादमें आकर सादृश्यके आधारपर कुछ भाषाओंमें सभी रूप म-वाले हो गये, तो कुछमें सभी भ-वाले। संस्कृतके तृतीया, चतुर्थी तथा पंचमीके द्विवचन तथा बहुवचनमें यह 'भ' (-भ्याम्,-भिस्,-भ्यस्) है।

वेदमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनके रूप "-आसस्" से भी बनते हैं, यथा "देवास"। मेयेके मतानुसार जिन शब्दोंके मूल रूपोंमें *ए, *ओ स्वर पाये जाते थे, उनके प्रथमा बहुवचनको अन्य मूल रूपोंवाले शब्दोंके समान अक्षरसंख्यावाले बनानेके लिए, वैदिकमें "आस्" को "आसस्" बना दिया गया था। उदाहरणके लिए संस्कृत द्व्यक्षर [disyllabic] शब्द "देव" के बहुवचन "देवा" को, जो द्व्यक्षर है, "अहि" जैसे इका-रान्त या "विष्णु" जैसे उकारान्त शब्दोंके प्रथमा बहुवचन अहय: या विष्णव के सादृश्यके आधारपर त्र्यक्षर [Trisyllabic] शब्द बनाकर 'देवास' रूप दे दिया गया। इस मतने एक बातकी और पुष्टि की कि संस्कृतके कई इकारान्त तथा उकारान्त शब्द भी आ० भा० यू० अनित माने जा सकते हैं।

सुप् विभक्तियोंकी भाँति संस्कृतकी तिङ् विभक्तियाँ भी आ० भा० यू० भाषाकी तिङ् विभक्तियोंका रूप देनेमें पूर्णत समर्थ हैं। इसके लिए पहले हमें यह समझ लेना होगा कि आ० भा० यू० क्रियाओंके रूपोंका साक्षात् सम्बन्ध व्यापार-विशेषके कालसे न होकर उस व्यापार-विशेषके प्रकारसे था। भूतकालको द्योतित करनेवाले आ० भा० यू० *ए के सिवाय, जो

---

[1] Meillet : Introduction et L'etude Comparative de Langues Indo-europeennes. pp. 259 60. also. Wackernagel : Altindische Grammatik Vol. 3. P. 13 § 4 [h].

ग्रीक, संस्कृत तथा अवेस्तामें पाया जाता है, अन्य कोई भी चिह्न ऐसा नहीं है, जो आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको किसी काल विशेषसे सीमित करता हो। उदाहरणार्थ, संस्कृतके '[परोक्षभूतें] लिट्'को ले लीजिए, जो परोक्षरूपमें अपूर्ण व्यापारके लिए प्रयुक्त होता है, वेदमें यह भूतकालके लिए प्रयुक्त न होकर क्रियाके प्रकार-विशेषका ही बोध कराता है, जैसे "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" इस ऋचामें "दाधार" का अर्थ "अधारयत्" न होकर "धारयति" है। वैदिक संस्कृतकी भाँति इसके समानान्तर रूपोंका प्रयोग होमरकी ग्रीकमें कालसीमित न होकर प्रकारबोधक ही है। किन्तु बादमें जाकर ये क्रियारूप वहाँ भी साहित्यिक [लौकिक] संस्कृतकी भाँति कालसीमित हो गये हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आ० भा० यू० भाषा बोलनेवाले "वीरोस्" आर्य भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्के कालभेदसे पूर्णत परिचित न थे। सभ्यताके विकासके कारण धीरे-धीरे वे इनके भेदसे परिचित हो गये, किन्तु इनके अभिव्यञ्जनके लिए वे उन्हीं क्रिया रूपोंका प्रयोग करते थे, जिनका व्यापार मूलरूपमें भिन्न था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मौलिक रूपमें आ० भा० यू० क्रियाओंकी पद्धति लौकिक संस्कृतकी क्रियापद्धतिसे सर्वथा भिन्न है, किन्तु यह भेद उनकी अर्थसम्बन्धिनी [सिमेंटिक] विशेषतासे सम्बद्ध है।

सर्वप्रथम हम आ० भा० यू० क्रिया रूपोंको निर्देशात्मक [Indicative] हेत्वात्मक [संस्कृत हेतुहेतुमत], [Conditional or subjunctive] विध्यात्मक [Optative] तथा आज्ञात्मक [Imperative] इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। निर्देशात्मक कोटिमें दो काल माने जा सकते हैं—भूत तथा वर्तमान। भूतकालका द्योतक [पुर सर्ग] *ए [सं० अ, ग्रीक ए [e]] क्रियाके मूल रूपकेपहले जोड़ दिया जाता था। संस्कृत अदिशत् तथा ग्रीक एदेको में इसे देखा जा सकता है। वर्तमानके संस्कृत 'लट्' तथा [परोक्षभूतें] लिट् दोनोंमें समानान्तर रूपोंका प्रयोग किया जाता था। हेत्वात्मक तथा विध्यात्मकमें धातु तथा तिङ् विभक्तिके बीचमें *ए–,

*,-अ, तथा -'*यू ऍ'-, *इ-को जोड दिया जाता था। आज्ञा रूपोंके लिए कोई विशेष प्रकारका चिह्न नही था। कभी-कभी कोरा धातु रूप ही आज्ञात्मक रूपमें प्रयुक्त होता था, इसका संकेत हम संस्कृत लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनके रूप 'भर', 'पठ' आदिसे पा सकते हैं। आ० भा० यू० भाषामें संस्कृतकी भाँति कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य दो रूप रहे होंगे। कर्तृवाच्य पुन संस्कृतकी भाँति ही परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी इन दो रूपोंमें पाया जाता होगा। ग्रीकमें भी परस्मैपदी [एक्टिव वॉयस], आत्मनेपदी [मिडिल वॉयस] तथा कर्मवाच्य [पेसिव वॉयस] ये तीन रूप पाये जाते है। इनमें परस्मै तथा आत्मने दोनों प्रकारके पदोंके भिन्न प्रकारके तिङ् विभक्ति-चिह्न थे। उन्हींसे बादके विभक्ति चिह्न विकसित हुए हैं। ये विभक्तिचिह्न पुन दो प्रकारके माने जा सकते हैं —मुख्य तथा गौण। मुख्य चिह्नोंका प्रयोग वर्तमान [निर्देशात्मक] तथा हेतुहेतुमत्के साथ होता था। जब कि गौण तिङ् विभक्तिचिह्न अपूर्ण भूत, लिट् [जो आ०भा० यू० मे वर्तमानमें प्रयुक्त होता था], तथा विध्यात्मक रूपोंमें जोडे जाते थे। संस्कृतके कई तिङ् विभक्तिचिह्नोंको हम आ० भा० यू० का ही विकसित रूप पाते है, यथा—

स०-मि,-ए	प्रा० भा० यू०	*मि [mi], *अइ [ai] [स० भरामि, दधे]
,,-सि,-से	,,	*सि [si], *सइ [sai] [स० भरसि, दत्से]
,,-ति,-ते	,,	*ति [ti] *तइ [tai], अइ [ai] [भरति, दत्ते]
,,-म ,-महे	,,	*मेस् *मोस् [*mes, *mos], *मेधअ [*medhə-] [भराम , दध्महे]
,,-थ,-ध्वे	,,	*ते [te] * × [भरथ, दध्वे]
,,-अन्ति,-न्ते	,,	*ऍन्ति [-न्ति] * [enti,-nti] *न्तइ [*-ntai] [भरन्ति, भावन्ते]

इसे और स्पष्ट करनेके लिए हम यहाँ नीचेके चतुरस्रमें आ० भा० यू०, ग्रीक व संस्कृतके वर्तमान निर्देशात्मक रूपोंको सोदाहरण स्पष्ट कर देते हैं—

तिङ् चिह्न, वर्तमान; कर्तृवाच्य, परस्मैपदी

आ० भा० यू० तिङ् चिह्न		
	संस्कृत रूप	ग्रीक रूप
*भेरे [bher-] एकवचन	भृ-[भर्]	फेरो [phero]-[ले जाना]
उ० पु० *मि [*mi], ओ [ō]	भरामि	फेरो [phero]
म० पु० *सि [*si]	भरसि.	फेरेइस् [phereis]
प्र० पु० *ति० [*ti]	भरति	फेरेइ [pherei]
बहुवचन		
उ० पु० *मेस्, मोस् [mes, mos]	भराम	फेरोमस् [pheromes]
म० पु० *ते [te]	भरथ	फेरते [pherete]
प्र० पु० *एन्ति, ओन्ति,–न्ति [enti, onti,–nti]	भरन्ति	फेरोन्ति [pheronti]

आदिम भारत-यूरोपीय भाषामें भविष्यत् सर्वथा नहीं था। इसकी व्यंजना निर्देशात्मक वर्तमानके द्वारा ही कराई जाती थी, जैसे "मैं जाऊँगा" के लिए "मैं जाता हूँ" का प्रयोग। कभी-कभी हेतुहेतुमत्‌के द्वारा भी भविष्यत्‌की व्यंजना कराई जाती थी। इसके रूप होमरकी भाषामें पाये जाते हैं। भविष्यत्‌की व्यंजनामें एक तीसरे प्रकारका प्रयोग भी मिलता है, जहाँ धातु तथा वर्तमानके तिङ् चिह्नोंके बीच कभी-कभी 'स्' जोड़ दिया जाता था। ग्रीक तथा संस्कृतके भविष्यत् रूप वर्तमानमें इसी 'स्' [स्य] को जोड़कर बनाये जाते हैं। यथा सं० भरामि-भरिष्यामि [*भरिस्यामि], ग्रीक् फ़ेरो [phero, I bear], फ़ेरसो [pherso, I shall bear], जो प्राचीन भारत यूरोपीय रूप* भेर-स् मि [ओ] [*bher-s-mi (-o)] की ओर संकेत करते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर ये चार विधियाँ [moods] तथा दो काल [tenses] ही तीन काल तथा दस लकारोंके रूपमें विकसित हो गये हैं।

भाषाशास्त्रियोंने तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर इस काल्पनिक भाषाकी ध्वनियाँ तथा पदरचनाका तो पता लगा लिया है, किन्तु वाक्यरचनाके आनुमानिक रूपकी पुनःसृष्टि [Reconstruction] करनेमें वे समर्थ नहीं हुए हैं। यह सफलता तभी हो सकती है जबकि इस परिवारकी विभिन्न भाषाओंकी वाक्यरचनाके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर सारक-चिह्नित शब्दोंसे निर्मित काल्पनिक वाक्योंकी रचना की जाय। वैसे कुछ विशेषताओंका पता भाषाशास्त्रियोंने लगाया अवश्य है। ये विशेषताएँ ऋग्वेदके मन्त्रोंकी पदरचनामें पाई जाती हैं। ऋग्वेदके मन्त्रोंमें प्रायः सर्वनाम वाक्यमें द्वितीय स्थानपर प्रयुक्त होते थे, यद्यपि कभी-कभी इस प्रकारका प्रयोग संदिग्धता भी पैदा कर सकता है। जैसे "नेत न मेऽग्निर्वैश्वानरो मुखान्निष्पद्यातै"। जिसमें "मे" का अन्वय अग्नि के साथ होनेका संदेह होता है, यद्यपि उसका सम्बन्ध मुखात्‌से है। इसका अर्थ यों है—"अतः अग्नि वैश्वानर मेरे मुखसे बाहर न गिरे।" इस विशेषताका सन्तोषजनक कारण तो पता

नही, किन्तु जर्मन विद्वान् वाकेरनागेलके मतानुसार यह विशेषता ग्रीक तथा अन्य भा० यू० भाषाओंमें पाई जाती है। सम्भव है, यह आ० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनात्मक विशेषताओंमेंसे एक रही हो।

जहाँ तक इस परिवारकी भाषाओंके आदिम शब्दकोषका प्रश्न है, सभ्यताके उप कालमें प्रयुक्त शब्द प्राय इन सभी भाषाओंमें एक-से पाये जाते हैं। पिता, माता, भ्राता, भगिनी, दुहिता, जामाता, उदक, आप, अग्नि, जनिता, क्ष्मा आदिके समानान्तर शब्द अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी मिल जाते हैं। सबसे बडी विशेषता, जिसका अनुमान आ० भा० यू० भाषाकी सज्ञाओंके लिंगके विषयमें किया जा सकता है, यह है कि वहाँ पुल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुसकलिंगका विभाजन पुरुष, स्त्री या अचेतन पदार्थसे सम्बद्ध नही था, अपितु लिंग तत्तद्भावका बोधक था, जो किसी भी व्यक्ति या वस्तुकी किसी विशेषतासे सम्बद्ध था। हम देखते है कि सस्कृत 'दार' शब्द पुल्लिग है, साथ ही बहुवचन भी, इसी तरह कलत्र तथा मित्र नपुसक है।

इस प्रकार हमने वैदिक सस्कृत तथा ग्रीक जैसी भारत यूरोपीय परिवारकी समस्त भाषाओंकी कल्पित जननीके भाषाशास्त्रीय रूपका सक्षिप्त अध्ययन किया। यद्यपि भाषाओंके पारस्परिक सम्बन्धको व्यक्त करनेके लिए माता, पुत्री, पौत्री, भगिनी, मातृष्वसा आदि औपचारिक शब्दोंका प्रयोग किया जाता है तथापि शुद्ध भाषाशास्त्रीय अध्ययनकी दृष्टिसे इस प्रकारके औपचारिक शब्दोंसे बचना ही श्रेयस्कर है। वैसे हम स्वय भी परम्परागत रूपमें इस प्रकारकी औपचारिक पदावलीका प्रयोग इसी परिच्छेदमें कर चुके हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे भाषाओंका जीवन 'विकासवाद' से अत्यधिक प्रभावित है। जिस प्रकार प्राणिशास्त्रके मतानुसार प्राणी [जन्तुविशेष] विकसित होकर विभिन्न स्थितियोंसे गुजरता है, ठीक उसी प्रकार भाषा भी उत्पन्न न होकर विकसित होती है। प्राकृत, वैदिक सस्कृतकी पुत्री न होकर वस्तुत किन्ही परिस्थितियोंके कारण उसका ही परिवर्तित या विकसित रूप है। कुछ विद्वान् इस 'विकास'को 'ह्रास' सज्ञा देते हैं। किन्तु भाषाका ह्रास

न होकर विकास ही होता है। इस विकासके नियामक तत्त्व भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं, जो किसी भाषाकी ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना तथा शब्दकोषमें परिवर्तन करती हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह भाषा उस पूर्व रूपसे सर्वथा भिन्न है। वस्तुत वह उसीका विकसित रूप है। भाषाके वास्तविक मूल तत्त्व उसमें भी ठीक उसी रूपमें विद्यमान है। हम यों कह सकते हैं कि भाषाके विकसित रूपोंके सम्बन्धमें सांख्य दर्शनका परिणामवाद या सत्कार्यवाद वाला सिद्धान्त मानना अनुचित नहीं होगा। प्राचीन संस्कृत विद्वान् भाषामें विकास न मानकर ह्रास मानते हैं। प्राकृत यथा अपभ्रंशको वे संस्कृतका 'पतित' रूप मानते हैं। इसीलिए कान्यकुब्जेश्वर गोविन्दचन्द्रके राजपण्डित दामोदर भट्टने अपने समयकी अपभ्रंश [प्राचीन कोसली अवधी[1]] के द्वारा राजकुमारोंको संस्कृत सिखानेके लिए बनाये गये ग्रन्थ "उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्" में लिखा है "हम थोडेसे परिवर्तनोंसे ही अपभ्रंश [देशभाषा] को संस्कृत बनाते हैं। यह [देशभाषा] ठीक उसी प्रकार संस्कृत बन जायगी जैसे कि पतित ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करनेसे पुन ब्राह्मणी बन जाती है।"[2]

पर फिर भी शुद्ध भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे किसी भाषाको भ्रष्ट, पतित या ह्रासोन्मुख कहना अवैज्ञानिक ही माना जायगा।



---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत है कि यह 'कोसली अवधी' न होकर प्राचीन भोजपुरी है। किन्तु डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याने जो इस ग्रन्थके सम्पादक हैं, अपनी विस्तृत भूमिकामें इसे प्राचीन कोसली अवधी ही कहा है।

२. पतिता ब्राह्मणी कृतप्रायश्चित्ता ब्राह्मणीत्वमिति चेति।
—उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् पृ० ३

संस्कृत तथा अवेस्ता [भारत-ईरानी शाखा]

आर्योंका एक दल मध्य-एशियासे चलकर ईरानकी ओर बढ़ा। यह दल सर्वप्रथम खीवाके शाद्वलमें आकर रुका। इस समय तक यह दल अविभाजित था। यहींसे यह दल दो वर्गोंमें विभक्त हो गया। एक दल पश्चिमकी ओर बढ़ा, दूसरा दक्षिण-पूर्वकी ओर। प्रथम वर्ग ईरानमें स्थित हो गया, दूसरा दल गान्धार देशको पारकर खैबर तथा बोलानके दर्रोंके द्वारा सप्तसिन्धु प्रदेशमें प्रविष्ट हुआ। यद्यपि खीवाके शाद्वल तक इन दोनों दलोंकी भाषाका एक ही रूप था तथापि बादमें भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक कारणोंसे दोनों वर्गोंका विकास अपने-अपने रूपमें हुआ। फिर भी थोड़े ध्वनिपरिवर्तनोंके अतिरिक्त, आरम्भमें ये भाषाएँ एक-सी ही थीं। आरम्भमें तो ईरानियों तथा वैदिक आर्योंके पितामह एक-सी ही भाषा बोलते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह सिद्ध हो चुका है कि ईरानियों तथा वैदिक आर्योंके पितामह चिरकाल तक एक ही समाजके व्यक्तिके रूपमें साथ-साथ रहे थे, उनकी सामाजिक रीति-नीति एक-सी ही थी, जो ऋग्वेद तथा अवेस्ताके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है। वेद तथा अवेस्ताकी भाषा तो परस्पर इतनी निकट है कि प्रायः ऐसा कहा जाता है कि अवेस्ताकी भाषा कालिदासकी संस्कृतकी अपेक्षा वैदिक संस्कृतके विशेष निकट है। अवेस्ता तथा वेदोंकी भाषाओंमें उससे कहीं अधिक भेद नहीं है, जितना कि ग्रीक भाषाके प्राचीन शिलालेखोंमें उपलब्ध विभाषाओंमें पाया जाता है। दोनों भाषाओंकी संघटना इतनी समान है कि अवेस्ताकी गाथाकी भाषाको कतिपय ध्वनिनियम सम्बन्धी परिवर्तनोंके आधारपर वैदिक संस्कृतके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरणके लिए अवेस्ताके दशम यस्नकी अष्टम गाथाको लीजिए। गाथाका मूल रूप यों है —

यो यथा पुथ्र॒म् तउरुनम् हओमम् वन्दएता मश्यो ।
[yo yaθa puθrəm taurunəm haoməm wandaeta maš'yo.]

फ्र आब्यो तनुब्यो हओमो वीसइते बएशज़ाइ ॥
[φra abyo tanubyo haomo wisaite baeš'azai]

इस गाथाको हम वैदिक संस्कृतमें इस प्रकार परिवर्तित कर सकते हैं —

यो यथा पुत्रं तरुणं सोमं वन्देत मर्त्यः ।
प्र आभ्य तनुभ्य सोमो विशते भैषजाय ॥

यहाँ हम देखते हैं कि दोनोंमे वास्तविक भेद ध्वन्यात्मक ही है ।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे भारतेरानी [Indo-Iranian] शाखाकी इन दोनो भाषाओंमे प्राचीन भारत-यूरोपीय *ए, *ओ, *अ, का भेद नही रहा है । यहाँ आकर ये सभी अ तथा इनके दीर्घ रूप आ हो गये है । ग्रीक भाषामे इनका भेद बना रहा है । अत यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन वैदिक आर्य तथा ईरानियोके पूर्वजोके द्वारा बोली जानेवाली प्राचीन भारत-ईरानी विभाषामे ही हो गया था । इस प्रकार ग्रीक एपि पेतेतइ [epi petetai] संस्कृतमें तथा अवेस्तामें क्रमश [स०] अपि पतति, [अवे०] अइपि अ-पत-त् [aipi a-pata-t] मिलेगा । प्रा० भा० यू० *अ इस शाखामें भी अ ही बना रहा है, यथा ग्रीक अक्मोन [akmon], स० अश्मन्, अवे० अस्मन् । अ की इस प्रकारकी बहुलताके कारण पहले ऐसा सोचा जाता था कि संस्कृत तथा अवेस्ताने प्रा० भा० यू० रूपोको अपरिवर्तित रूपमे सुरक्षित रक्खा है तथा ग्रीकमे यही 'अ' बादमें जाकर त्रिरूप [अ, ए, ओ] हो गया है, किन्तु जैसा कि हम प्रा० भा० यू० के तीन कण्ठ्योंके विकासमें देखते हैं, इन त्रिरूप स्वरोका बडा हाथ है । अत उस मतको छोड देना पडा तथा प्रा० भा० यू० में तीनो ह्रस्व स्वरो—*अ, *ए, *ओ की सत्ता माननी पडी । जहाँ भी ग्रीक तथा लैटिनमें कण्ठ्य ध्वनिके

बाद 'ए' पाया जाता है, वहाँ 'सत' वर्गकी भाषाओंमें तालव्य रूप [श, छ आदि] मिलता है । यह तालव्यीभाव हिन्द ईरानी शाखामें इ [य्] के पूर्व ही पाया जाता है, जैसे सं० ओजीयस्, किन्तु सं० उग्र, अवेस्ता उग्रोजिस्त, किन्तु उग्रोय—[सं० ग्राधिष्ठ][1] । अत यह कल्पना की गई कि वास्तविक रूपमें तालव्यीभावकारी भारत ईरानी अ, इ-रंजित [i coloured] था, अर्थात् प्रा० भा० यू० रूपमें यह *ए था । इसी आधारपर यह मत स्थापित किया गया कि प्रा० भा० यू० स्वरोंको ग्रीकने सुरक्षित रक्खा है, जब कि संस्कृत तथा अवेस्तामें ये सभी स्वरध्वनियाँ नही पायी जाती ।

यद्यपि भारत ईरानी अ प्रा० भा० यू० *ए, *ओ, *अ तीनोंसे निकला है तथापि इसका एक अपवाद पाया जाता है । प्राय प्रा० भा० यू० *ए, ओ, *अ संस्कृत तथा अवेस्तामें अ हो जाते है, किन्तु व ह्रस्व विस्वर, जो ग्रीकमें इनके दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपश्रुतिजनित रूप है, भारत ईरानी वर्गमें अ न होकर इ होते हैं । उदाहरणार्थ, ग्रीक शब्द 'ए-ते-थेन' [etethen] को लीजिए जो भूतकालका रूप है । यहाँ ते मे ह्रस्व ए दीर्घ ए का ही अपश्रुतिजनित रूप है, जो इसके वर्तमान कालके रूप तिथेमि मे पाया जाता है । इसमें वास्तविक धातु थे [the] [*धे, *dhe] है । इसीके दुर्बल रूपमें लैतिनमें अ पाया जाता है, यथा लैतिन फ़ासिओ [fasio] । किन्तु संस्कृतमें यह *धत [*हत] न होकर हित[2] [√धा + क्त] होता है । अर्थात् ग्रीकमें जहाँ प्रा० भा० यू० दीर्घ *ए का ह्रस्व रूप ऐ [e] पाया जाता है, वहाँ संस्कृत [भारत ईरानी शाखा] में 'इ' हो गया है । एक दूसरा उदाहरण और लीजिए । प्रा० भा० यू०

---

१ यहाँ 'ओजीयस्, उग्रोजिस्त, या राधिष्ठकी 'ज' तथा 'ष' ध्वनियाँ कण्ठ्य 'ग' 'घ' का विकास हैं, उग्रमें यह 'ग' ही रही है, इ के कारण अन्यत्र 'ज' हो गई है देखिए 'ग', 'ज' का विकास [अगले परिच्छेदमें] ।

२ दधातेहि ।

*दो [*do] धातुमें 'ओ' दीर्घ स्वर है, इसका वर्तमान रूप सबल स्थितिमें ग्रीकमें 'दिदोमि' [didomi] है। दुर्बलरूपमें ग्रीकमें यह भूतकालमें ए-दो-थेन् [edothen] हो जाता है, जो संस्कृतके 'अदाम्' के समानान्तर है। लैटिनमें यह दुर्बल रूपमें अ होता है, यथा दतुस् [datus]। किन्तु संस्कृतमें दुर्बल रूपमें इ पाया जाता है, जैसे सं० अदिथा। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ भारत ईरानीमें 'इ' ध्वनि है तथा अन्यत्र [ग्रीकके अतिरिक्त भाषाओंमें, क्योंकि ग्रीकमें तीनों ही स्वरोंका दीर्घ रूप दुर्बलस्थितिमें ह्रस्व हो जाता है] अ ध्वनि है, वहाँ वास्तविक [मूल] रूपमें इन तीनों दीर्घ स्वरोंका वह दुर्बल रूप रहा होगा, जिसका कारण अपश्रुति [Ablaut] है। इन दुर्बल रूपोंमें, वे धातु जिनमें स्वर ह्रस्व था, उस स्वरको सर्वथा खो देते थे, किन्तु दीर्घ स्वरवाले धातुओंमें इनका अवशेष एक अत्यधिक दुर्बल स्वरके रूपमें अवश्य रह जाता था। यही दुर्बल स्वर भाषाशास्त्रमें 'श्वा [schwa]'के नाममें प्रसिद्ध है तथा इसके चिह्नके लिए रोमन उल्टे ई [ə] का प्रयोग किया जाता है। हम इसके लिए देवनागरीमें अ का प्रयोग कर रहे हैं। यही अ भारत-ईरानीमें इ हो गया है, ग्रीकके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमें यह अ पाया जाता है, ग्रीकमें कभी तो यह भारत-ईरानी इ, अ रूपमें पाया जाता है, कभी नहीं पाया जाता[1], यथा सं० पिता, अवेस्ता [फारसी] पिता, ग्रीक पतेर [pater], सं० स्थित, ग्रीक स्ततोस् [statos], सं० हित., ग्री०-थ़ेतोस् [thetos]।

भारत ईरानी शाखाकी दूसरी विशेषता य् तथा व् अन्त स्थ ध्वनियोंका विशेष प्रकारका प्रयोग है जो अन्य भारोपीय भाषाओंमें नहीं पाया जाता। वेद तथा अवेस्ता दोनोंकी भाषामें ऐसा जान पड़ता है कि इ के पूर्व होनेपर य् ध्वनि तथा उ के पूर्व होनेपर व् ध्वनि लुप्त हो जाती

---

१. Wackernagel, Altindische Grammatik Vol.I.P.16, § 15.

थी। उदाहरणके लिए संस्कृत श्रेष्ठको लीजिए, अवेस्तामें इसके समानान्तर स्रएश्त [sraes̆ta] शब्द मिलता है। यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि ऋग्वेदमें श्रेष्ठ शब्द प्रायः त्र्यक्षर [trisyllabic] माना गया है। अतः स्पष्ट है कि इसका मूल रूप 'श्रय्' है। श्रेष्ठ तथा श्रीरमें ठीक वही सम्बन्ध है, जो शविष्ठ तथा शूरमें, एवं क्षयिष्ठ तथा क्षुरमें है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि कि श्रेष्ठका वास्तविक संस्कृत रूप *श्रयिष्ठ अवश्य रहा होगा, तभी यह त्र्यक्षर माना जा सकता है। यह *श्रयिष्ठ सर्वप्रथम *श्रइष्ठ हुआ होगा, बादमें श्रेष्ठ। इसी प्रकार ऋग्वेदके 'रेवत्' 'रयिवत्' रूपोंको लिया जा सकता है जो दोनों ही रूपमें ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। अवेस्ताका रएवत् [raevat] भारत-ईरानी प्राचीन रूप रयिवत्से *रइवत्के द्वारा विकसित हुआ है। इसी आधारपर संस्कृतमें वे धातुरूप जो प्राय प्राचीन रूपमें यि वाले थे, पदादिमें केवल इ ध्वनिसे युक्त पाये जाते हैं। यथा √यज् धातुके सनन्त रूप इयक्षाको ले लीजिए, जो ऋग्वेदमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें आकर सादृश्यके आधारपर इसमें फिरसे 'य्' जोड़कर यियक्षा रूप बना दिया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'य' वाला रूप पाया जाता है, यथा √यम् से 'यियंस—,' √यभ्' से 'यियप्स—'। कुछ रूपोंमें लौकिक संस्कृतमें भी प्राचीन इ-वाला रूप ही बचा रह गया, जैसे 'यज्' धातुके परोक्षभूत लिट्के रूप 'इयाज'में। किन्तु इस सबधमें व् ध्वनिके ऐसे विकासका उल्लेख नहीं किया जा सकता। अवेस्तामें इसके कोई उदाहरण नहीं मिलते, जहाँ उ के पूर्व होनेपर व् का इस प्रकारका लोप पाया जाता हो। साथ ही 'य्' 'व' जैसी ध्वनियोंका संयोग प्राचीन भारत-यूरोपीयमें न्यून था। संस्कृतमें यदि कहीं भा० यू० व् या उ रूप पाया जाता है तो 'र्' [रेफ] के स्वरीभूत रूप [ऋ] के कारण। यथा सं० उरु, ऊर्मि को क्रमशः प्रा० भा० यू० *वृरेन् [wr̥ren] देखिए ग्रीक वरेन [wāren] तथा *वृम [wr̥ma] प्रा० हाई जर्मन वउम

[wālm] से विकसित माना जा सकता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है। अवेस्तामें यह 'व' 'व' ही बना रहता है सं० उर, अवेस्ता वरो [waro], सं० ऊर्णा, अवे० वर्‌अन [waran] संस्कृत क्रियाके परोक्षभूते लिट्‌में यह व पदादिमें उ हो जाता है, यथा संस्कृत√ वच् तथा √वस् धातुसे क्रमशः उवाच एवं उवास रूप बनते हैं। किन्तु इनमें वास्तविक प्रथमाक्षर प्राचीन भारत यूरोपीय *व-था, *वु-नहीं था। अवेस्तामें यह व ही बना रहता है, तथा वहाँ ववश [wawas̆a] रूप पाया जाता है। इसीलिए अवेस्तामें संस्कृतके पदादि 'उ' वाले परोक्षभूत रूप जैसे रूप नहीं मिलते।

संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें ही प्रा० भा० यू० *स् ध्वनि इ,उ,र् तथा कण्ठ्य ध्वनियोंसे परे होनेपर परिवर्तित हो जाती है। इस स्थितिमें प्रा० भा० यू० *स् भारत ईरानी वर्गमें श [s̆] हो जाता है। संस्कृतमें यह श बदल कर ष हो गया है, जब कि अवेस्तामें श ही रहा है। यह परिवर्तन अ या आ ध्वनिसे परे होनेपर नहीं पाया जाता। उदाहरणके लिए संस्कृतके सप्तमी बहुवचनके सुप्प्रत्यय 'सु' को लीजिए, जिसका प्रा० भा० यू० रूप भी *सु [*su] है यह इ, उ [साथ ही ए, औ भी] से परे होनेपर संस्कृतमें षु हो जाता है कविषु, भानुषु। अवेस्तामें यह शु [s̆u] होता है, अवे० बूमिशु [būmis̆n] [सं० भूमिषु], गोउरुशु [gourus̆u] [सं० गुरुषु]। इसी प्रकार 'र' तथा कण्ठ्य ध्वनिके कारण भी यह संस्कृतमें 'ष' तथा अवेस्तामें 'श' हो जाता है।

सं० तृष्णा, अवे० तर्श्नो [tars̆no], गोथिक, थोर्स्यन् [θorsyan]

सं० उक्षितं, अवे० उख्शेइति [uxs̆eiti], ग्रीक अउखनो [aukhanō]

---

१. सं० क्ष = क् + ष [कषसंयोगे क्षः]

संस्कृत तथा अवेस्ताकी यह विशेषता बाल्तोस्लाविक जैसी 'सत' वर्गकी अन्य भाषामें पाई जाती है। वहाँ भी ऐसी परिस्थितियामें 'स' 'श' *हो जाता है। जहाँ प्रा० भा० यू० में 'श्वा' [श (ə)] था, वहाँ भारते-*रानीमे इ रूप के कारण *स ध्वनि श हो जाती है, किंतु यह विशेषता *बाल्तोस्लाविकमें नही पाई जाती, क्योकि वहाँ प्रा० भा० यू० 'श्वा' 'इ' न* होकर लैतिनकी भाँति 'अ' होता है।

स० क्रविष् [मास], अवे० ख्रविश्यन्त [xrawi'syanta] [रक्त-पिपासु] ग्रीक क्रेअस् [kreas] प्रा० स्ला० क्रुव्यस् [kruvas], प्रा० भा० यू० *क्रेव्अस् [krewəs]

पदरचनाकी दृष्टिसे संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंकी, सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इनमे भारत यूरोपीय 'इ' तथा 'ऍ' स्वर जो क्रमश वर्तमान *तथा परोक्ष भूतके द्वित्व* [reduplicated] *रूपमें पाये जाते थे भिन्न भिन्न* *रूपमें नही हैं। यहाँ दोना ही रूपामें 'इ' स्वर वाला ही द्वित्व रूप पाया जाता है, यथा—*

स० तिष्ठति, अवे० हिश्तन्ति [his'tanti], ग्रीक, हिस्तेमि [histemi]
स० शिषक्ति, अवे० हिशच्ति [his'acti]
स० इयर्ति, अवे० [उज्] यरात [(uz)-yerat]

इतना होनेपर भी प्रा० भा० यू० ऍ के भी अवशिष्ट चिह्न भारत-ईरानीमे पाये जाते हैं। स० ददाति, अवे० ददइति [dadaiti] को लीजिए, ये वर्तमानके रूप है, अत ध्यान रखिए प्रा० भा० यू० रूप *दिदोति [*didoti] होगा, *देदोति [*dedoti] नही। ग्रीकमे यह प्रा० भा० यू० 'इ' दिदोसि [didosi] में स्पष्ट है। यद्यपि यहाँ प्रा० भा० यू० 'ऍ' नही था, तथापि उसीके मिथ्यासादृश्यके आधारपर यह प्रा० भा० यू० 'इ' संस्कृत व अवेस्तामें इन शब्दामें 'अ' हो गया है, जो भाषा-

शास्त्रीय दृष्टिसे अपवाद है। यह मिथ्या-सादृश्य किसी परोक्षभूतके रूपके ही आधारपर हुआ होगा, जैसे स० बभूव [प्रा० भा० यू०* भेभूव *bhebhuwe] आदिके आधारपर। इसी प्रकार परोक्षभूतमें भी मिथ्या-सादृश्य या उपमानके आधारपर 'इ' पाया जाता है, जो भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे 'अ' होना चाहिए, यथा स० दिदेश [प्रा० भा० यू० *ददेश्य *dedeke]। इस सादृश्यके आधारपर सर्वप्रथम उन धातुओंके वर्तमानमें, जिनमें 'इ' पाया जाता था, द्वित्व रूपमें 'इ' हो गया। यह 'इ' संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें है। यह इ-ध्वनि वर्तमान रूपोंके आधारपर परोक्षभूतके द्वित्वरूपोंमें भी पाई जाने लगी, जैसे स० √ द्विष् से बने दिद्वेष तथा अवे० दिद्वएश [didwaes̆a] में। धीरे-धीरे यह 'इ' उन धातुओंके रूपोंमें भी पाया जाने लगा, जहाँ वस्तुतः धातुके मूलरूपमें 'इ' नहीं था, यथा संस्कृत √ वस् से विवस्वान्। इसी प्रकार अवेस्तामें भी दा [da] [स० √ धा, प्रा० भा० यू० *धो [*dhō] धातुके दिदार [didāra] ददार [dadāra] दोनों रूप पाये जाते हैं, जो संस्कृत 'दधार' [प्रा० वैदिक रूप दाधार] के समानान्तर हैं। इस 'इ' के उपमानके आधारपर संस्कृत 'उ' वाले धातुओंमें 'उ' स्वरका भी द्वित्व पाये जाने लगा। स० √ विश् से बने विवेश के सादृश्यपर √ जुष् से जुजोष बना, यद्यपि अवेस्तामें इसके द्वित्व रूपमें 'इ' ही पाया जाता है, जो अवेस्ता शब्द जिज़ुश्ते [zizus̆te] में स्पष्ट है। किन्तु यह सादृश्यजनित 'उ' किन्हीं किन्हीं रूपोंमें अवेस्तामें भी मिल जाता है, यथा संस्कृत, सुषुप्ति; अवेस्ता, सुष्रुश्मनो [susrūs̆mno]। वर्तमानके सादृश्यके आधारपर यह 'उ' परोक्षभूतमें पाया जाने लगा तथा रुरोध, पुपोष जैसे रूप बने। संस्कृतमें दीर्घ ऊकारान्त धातुओंमें केवल 'भू' तथा 'सू' इन धातुओंके परोक्षभूतमें ही द्वित्व रूपमें प्रथम स्वर अ [*e*ĕ] पाया जाता है, जो क्रमशः बभूव तथा ससूव [दूसरा रूप सुषुवे भी है] से स्पष्ट है।

धातुके कर्मवाच्य रूपके सामान्यभूतमें संस्कृत तथा अवेस्ता दोनोंमें इ पाया जाता है, जो अन्य किसी भारोपीय भाषामें नहीं पाया जाता, यथा सं० अवाचि [अवे० अवाचि [awas̄i]। संस्कृतमें इसका प्रयोग कर्मवाच्यमें अन्य पुरुषके चिह्नके रूपमें पाया जाता है। ठीक इसी रूपमें इसका प्रयोग अवेस्तामें होता है। किन्तु इस पदरचनात्मक विशेषताकी उत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। फिर भी यह तो निश्चित है कि यह भारत ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

इसी प्रकार इन दोनों भाषाओंके आज्ञार्थक [लोट्] रूपोंके अन्य पुरुष एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंमें भी ऐसी ही समानता पाई जाती है, संस्कृत भरतु, भरन्तु, अवेस्ता बरतु [baratu], बरन्तु [barantu] इसके अतिरिक्त उत्तम पुरुषके एकवचनमें भी दोनोंमें आ, तथा आनि दोनों प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं, संस्कृत, भवा, भवानि। लौकिक संस्कृतमें आकर भवा वाला रूप लुप्त हो गया है। यह आनि प्रा० भा० यू० विध्यात्मक [optative] तिङ् विभक्ति *आन से विकसित हुआ है। संस्कृतके आज्ञार्थक [imperative] रूपोंमें अत्यधिक पाये जानेवाले "-तात्" वाले रूप [यथा सं० भवतात्, भरतात्] प्रा० भा० यू० में तो रहे होंगे, किन्तु अवेस्तामें इनका सर्वथा अभाव है।

सुप् विभक्तियोंकी दृष्टिसे भी संस्कृत तथा अवेस्तामें कई समानताएँ पाई जाती हैं। सर्वप्रथम हम षष्ठी बहुवचनकी विभक्ति-नाम् को लेते हैं, जो दोनोंमें पाई जाती है। [प्रा० भा० यू० में यह सम्बन्धबोधक बहुवचन केवल *ओम् [ōm] था। यह हलन्त तथा अदन्त [अजन्त] दोनों प्रकारके शब्दोंमें प्रयुक्त होता था। यह *ओम् संस्कृतमें आकर आम् हो गया है। हलन्त शब्दोंमें तो संस्कृतमें यह आम् ही प्रयुक्त होता है, सं० गच्छताम् [गच्छत् + आम्], जगताम्, पयाम्। किन्तु अदन्त शब्दोंमें यह प्रायः नाम् हो गया है, सं० देवानाम् [देव + न + आम्], भानूनाम्,

हरीणाम्[1]। वेदमें केवल एक स्थानपर देवा जन्ममें अदन्त शब्दमें आम् का प्रयोग मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह देवाना जन्मके रूपमें प्रयुक्त होगा। नाम् सुप् विभक्तिचिह्न सर्वथा नया न होकर प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्न *नोम् से विकसित हुआ है। किन्तु यह प्रा० भा० यू० सुप् विभक्ति चिह्न केवल आ-कारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें ही था। संभव है, इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी प्रयुक्त होता हो। इसके चिह्न पुरानी हाई जर्मनके स्त्रीलिंग रूपोंमें पाये जाते हैं (उदा०—पु० हा० ज० 'गेबोनो' (प्रातिपदिक गेबा)—' दानोंका) फिर भी यह बात ध्यान देनेकी है कि अ-कारान्त शब्दोंमें अवेस्ता तथा संस्कृतमें पाया जाने वाला [आ] नाम् [दे० देवानाम्] भारत-ईरानी विशेषता ही है। यह बात अवश्य है कि यह चिह्न अवेस्तामें केवल एक ही स्थानपर पाया जाता है, सं० मर्त्यानाम्, अवे० मश्यानम् [mas̆yānam] बाकी सब स्थानोंमें यह अनम्, ही है। अकारान्त शब्दोंके षष्ठी बहुवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर इकारान्त, उकारान्त शब्दोंमें भी 'नाम्' पाया जाने लगा, सं० गिरीणाम्, अवे० गइरिनम् [gairinam], सं० वसूनाम्, अवे० वोहुनम् [wohunam]। कभी-कभी संस्कृतमें तो यह 'नाम्' पाया जाता है, पर अवेस्तामें प्राचीन 'आम्' ही पाया जाता है, सं० सखीनाम्, पशूनाम्; अवे० हशम् [has̆am] पश्वम् [pas̆wam]। संस्कृतमें अधिकतर अदन्त शब्दोंमें यह 'नाम्' पाया जाने लगा।[2]

स्त्रीलिंग शब्दोंके आकारान्त रूपोंमें संस्कृत तथा अवेस्तामें परस्पर बड़ी समानता है। इस प्रकारके शब्दोंमें तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी तथा सम्बोधनके एकवचनके रूप एकसे ही हैं। यह समानता अन्य भारत

---

१. ध्यान दीजिए, 'नाम्'के पहलेका ह्रस्व अ, इ, उ दीर्घ हो जाता है। देव+नाम्, हरि+नाम्, भानु+नाम्के रूप देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम् होते हैं।

२. ऐकारान्त, ओकारान्त एवं औकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'नाम्' न होकर 'आम्' ही होता है, जैसे रायाम्, गवाम् आदि रूपोंमें।

यूरोपीय भाषाओमे नही पाई जाती तृतीया एकवचनमे प्रा० भा० यू० *आ का ही प्रयोग होता था, यथा सं० मुकृत्या अवीरता में जहां ये तृतीयान्त है। [अ] या का प्रयोग सर्वनाम स्त्रीलिंगोमे होता था, धीरे-धीरे तया, यया, कयाके सादृश्यपर यह सज्ञाओमे भी प्रयुक्त होने लगा, सं० रमया, लतया। चतुर्थी, षष्ठी [पचमी] तथा सप्तमीके एकवचनोमें संस्कृतमे द्वयक्षर [disyllabic] विभक्तयन्त पाये जाते हैं। इन सभीमें आय् रूप समान पाया जाता है। इस प्रकार संस्कृतमें क्रमशः -आयै,-आया,-आयाम् [स० लतायै, लतायाः, लतायाम्] हैं। अन्य भा० यू० भाषाओमे इनके समानान्तर विभक्तिचिह्न द्वयक्षर न होकर एकाक्षर हैं। वस्तुत प्रा० भा० यू०में *आय् नही पाया जाता था और यह भारत-ईरानी वर्गमें ही आकर आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोमे प्रयुक्त होने लगा था। किन्तु अवेस्तामें संस्कृतके समानान्तर रूप देखे जा सकते हैं,-अयाइ,[ayāi],-अया,-अया [ayā] जिनमें 'अ'का ह्रस्व रूप तृतीया एकवचनके चिह्न 'अया'के सादृश्य-पर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू०में *आयवाला रूप नही था, भारत-ईरानीमें आकर यह इकारान्त या -आ अन्तवाले शब्दोंके सादृश्यके आधार-पर चल पड़ा होगा। इस आधारपर आयै, आयाः, आया को रुच्यै, रुच्या, रुच्याम् या देव्यै, देव्या, देव्याम् जैसे रूपोके आधारपर माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० भाषामें चतुर्थी तथा सप्तमी दोनोकी विभक्ति *-इ, थी, इस प्रकार आकारान्त शब्दोमे दोनो विभक्तियोमें *-आइ अन्त वाले रूप बनते थे। धीरे-धीरे सप्तम्यन्तको चतुर्थ्यन्तसे भिन्न बतानेके लिए 'आइ' के बादमें भारत-ईरानीमें 'आ' जोड़ दिया गया इस प्रकार *आया रूप बना। संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड़ दिया गया [आयाम् = *आ + *इ + आ + अम्]। इसी 'आयाम्'के सादृश्यपर चतुर्थी तथा पचमी-षष्ठी-में भी दोनो भाषाओमें 'आकारान्त' रूपोमें 'आय्'का समावेश हो गया।[1]

---

१. Wackernagel: Altindische Grammatik Vol. III P.43 §16 (e)

प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें ख़्रथ्वा [xraθ-wā], [मि० सं० क्रत्वा, जो संस्कृत क्रतु शब्दका तृतीया एकवचन है, वैदिक संस्कृतमें यह क्रत्वा रूप मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, यहाँ वह क्रतुना हो गया है।], को छोड़कर प्रायः 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते हैं, यथा अवेस्ता मइन्यू [mainyū] [सं० मन्युना]।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा अवेस्ताकी समानताओंपर ध्यान दिया। अब थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदोंपर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं। इन ध्वन्यात्मक विशेषताओंमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है। अतः यहाँ हम उन्हींका संक्षिप्त संकेत करेंगे।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय भाषाओंमें ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोंकी रक्षा की है। इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ हैं। अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है। अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ सोष्म ख़, थ, फ हो गये हैं। सघोष महाप्राण घ, ध, भका महाप्राणत्व वहाँ सर्वथा लुप्त हो गया है, इनके स्थानपर ग, द, ब रूप पाये जाते हैं।[1] यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [safa]
यथा	यथ [yaθa]
सखा	हख [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

१. Bloch: L'Indo Aryen pp. 50-51.

धेनु	दएनु [daenu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जइन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामें ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि श अवेस्ताम स होता है। संस्कृत घ अवेस्तामें ग पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज हो जाता है।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hindu]
शरद् [-द्]	सरअद [sarəda]
जोष-जोष्ट्र	जओश [zaos̆a]
हस्त	जस्त [zasta]
	[प्रा० फा० दस्त]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते है कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुत भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्ग के नामसे एक ही शाखा मान सकते है। इस सम्बन्धमें सबसे बड़ी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओंके एक ही रूपसे नही है। जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते है, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओ या बोलियाँ से है जो संस्कृत या अवेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गों द्वारा बोली जाती थी। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंसे है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ी बोली, ब्रज, बागड़, कन्नौजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमें संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

प्रकार उकारान्त शब्दोंके इस विभक्तिके रूपोंमें अवेस्तामें ख्रथ्वा [xraθ-wa], [मि० सं० क्रत्वा, जो संस्कृत क्रतु शब्दका तृतीया एकवचन है, वैदिक संस्कृतमें यह क्रत्वा रूप मिलता है, लौकिक संस्कृतमें यह रूप नहीं मिलता, वहाँ वह क्रतुना हो गया है।], को छोड़कर प्रायः 'ऊ' वाले रूप ही पाये जाते हैं, यथा अवेस्ता मइन्यू [mainyū] [सं० मन्युना]।

यहाँ तक हमने संस्कृत तथा अवेस्ताकी समानताओंपर ध्यान दिया। अब थोड़ा उन ध्वन्यात्मक भेदोंपर दृष्टिपात कर लें, जो संस्कृत तथा अवेस्तामें पाये जाते हैं। इन ध्वन्यात्मक विशेषताओंमें विशेष महत्त्व व्यञ्जनध्वनियोंके पारस्परिक भेदका है। अतः यहाँ हम उन्हींका संक्षिप्त संकेत करेंगे।

समस्त भारत यूरोपीय भाषाओंमें केवल संस्कृत तथा तज्जन्य भारतीय भाषाओंने ही प्रा० भा० यू० स्पर्श ध्वनियोंके चारों रूपोंकी रक्षा की है। इनमें अघोष अल्पप्राण, अघोष महाप्राण, सघोष अल्पप्राण तथा सघोष महाप्राण चारों प्रकारके रूप पाये जाते हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः क, ख, ग, घ हैं। अवेस्ता तथा फारसी वर्गकी भाषाओंमें यह बात नहीं पाई जाती, वहाँ महाप्राण रूपोंमें परिवर्तन हो गया है। अघोष महाप्राण ख, थ, फ वहाँ ऊष्म ख़, थ, फ़ हो गये हैं। सघोष महाप्राण घ, ध, भका महाप्राणत्व वहाँ सर्वथा लुप्त हो गया है, इनके स्थानपर ग, द, ब रूप पाये जाते हैं।[1] यथा,

संस्कृत	अवेस्ता
शफ	सफ [safa]
यथा	यथा [yaθa]
सखा	हख [haxa]
भूमि	बूमि [bumi]

---

१. Bloch: L'Indo Aryen pp. 50-51

धेनु	दएनु [daenu]
घर्म	गर्म [garm]
हन्ति	जइन्ति [zainti]

संस्कृत पदादि स अवेस्तामें ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि श अवेस्तामें स होता है। संस्कृत ष अवेस्तामें श पाया जाता है। संस्कृत पदादि ह वहाँ ज हो जाता है।

संस्कृत	अवेस्ता
सप्त, सिन्धु	हप्त [hapta], हिन्दु [hindu]
शरत् [-द्]	सरअद [sarəda]
जोष-जोष्टृ	जओश [zaos̆a]
हस्त	जस्त [zasta]
	[प्रा० फ़ा० दस्त]

ये समस्त भाषाशास्त्रीय तथ्य इस बातकी पुष्टि करते हैं कि संस्कृत तथा अवेस्ता वस्तुत. भारत-यूरोपीय परिवारमें एक ऐसा युगल है, जिसे हम भारत-ईरानी वर्गके नामसे एक ही शाखा मान सकते हैं। इस संबन्धमें सबसे बड़ी बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि संस्कृत या अवेस्ता शब्दसे हमारा तात्पर्य इन भाषाओंके एक ही रूपसे नही है। जब हम संस्कृत या अवेस्ता शब्दका प्रयोग करते है, तो हमारा तात्पर्य उन समस्त विभाषाओं या बोलियोंसे है जो संस्कृत या अवेस्ता कालमें भारत तथा ईरानके विभिन्न उपवर्गों द्वारा बोली जाती थी। यह प्रयोग ठीक उसी तरहसे किया जा रहा है, जिस प्रकार केवल 'प्राकृत' शब्दसे हमारा तात्पर्य प्राकृतके एक रूपसे न होकर पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधी सभी भेदोंसे है, अथवा जिस प्रकार 'हिन्दी' शब्दके प्रयोगमें खड़ी बोली, ब्रज, बांगड़ू, कन्नौजी, बुन्देली [यहाँ तक कि राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी आदि भी] आदिका भी समावेश हो जाता है। वैदिक कालमें संस्कृत भाषाके बोलनेवाले भी कई वर्गोंमें विभक्त थे तथा इन विभिन्न वर्गोंमें कुछ निजी ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक विशेषताएँ

रही होगी, यद्यपि ये विशेषताएँ अत्यधिक नगण्य थी। पर इन विशेषताओं-का पता ऋग्वेदके मन्त्रभाग तथा अन्य वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त वैकल्पिक रूपोंसे लगता है। याद रखिए, वेद किसी एक मानवकी कृति न होकर विभिन्न वर्गोंके ब्राह्मणवर्ग [ऋषिवर्ग] की रचनाएँ है। यदि 'रचना' शब्द जरा बुरा लगे, तो मै कहूँगा कि ये मन्त्र विभिन्न वर्गोंके ऋषियोंके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये है। अतः तत्तत् वर्गोंकी विभाषाकी ध्वन्यात्मक तथा पद-रचनात्मक विशेषताएँ इनमें आ गई हैं। साथ ही कई मन्त्र भाग सीमान्त प्रदेशमें रचे गये है, तो कई कुरुपाञ्चालमें, तो कई अन्तर्वेदमें। इसी तरह मन्त्रोंमें कालभेद भी पाया जाता है। ठीक यही बात अवेस्ताकी गाथाओंके विषयमें कही जा सकती है, जिनमें भी विभिन्न वैभाषिक विशेषताएँ स्पष्ट हैं। अवेस्ताकी गाथाएँ एक ही कालकी नही हैं, ठीक उसी तरह जैसे वैदिक मन्त्र भी एक ही कालकी रचना नही है। इस सबंधमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्राचीनतम अवेस्ता भाषा प्राचीनतम संस्कृतसे भी अधिक 'आर्ष' [archaic] है। अवेस्ताकी प्राचीन गाथाओंमें वर्तमानकालके उत्तम पुरुष एक वचनमें आ [ā] तिङ् विभक्ति पाई जाती है, जो प्रा० भा० यू० वर्तमान उत्तमपुरुष ए० व० विभक्ति *ओ से विकसित है। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रा० भा० यू० में वर्तमानके उत्तमपुरुष एकवचनके चिह्न *ओ तथा *मि दोनों थे। संस्कृतमें केवल मि ही पाया जाता है। ग्रीकमें ओ तथा मि दोनों पाये जाते है। अवेस्तामें भी [संस्कृतकी भाँति] बादकी गाथाओंमें केवल मि रूप ही पाया जाने लगा है।

सं० दधामि, अवेस्ता ददामि [dadāmi] ग्री० तिथेमि [tithemi]
सं० भरामि, अवे० बरमि [barami] ग्री० फेरो [fero]

इस 'आर्ष' प्रयोगके अतिरिक्त गाथाकी विभाषामें एक और "आर्ष" [archaic] प्रयोग पाया जाता है, जो प्राचीनतम संस्कृतमें इतना अधिक नहीं पाया जाता। भारत ईरानी वर्गमें 'सघोष महाप्राण + अघोष' संयुक्त ध्वनियाँ 'सघोष + सघोष महाप्राण' पाई जाती हैं। यह नियम जर्मन विद्वान्

बार्थोलोमेके नामपर "बार्थोलोमेका नियम" कहलाता है। बार्थोलोमेने अवेस्ताकी भाषापर महान् कार्य किया है। बार्थोलोमेके इस नियमके अनुसार गाथाकी विभाषामें अत्यधिक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, जबकि संस्कृतमें आर्ष [प्राचीन] तथा बादके दोनों प्रकारके रूप नहीं पाये जाते। आदिम भारतयूरोपीय भाषामें शब्दोंके मूल रूपोंमें आदि तथा अन्तकी ध्वनियाँ महाप्राण पाई जा सकती हैं, किन्तु संस्कृतमें दोनों स्थानोंपर प्रायः महाप्राण ध्वनियाँ नहीं पाई जाती।[1] ऐसी दशामें संस्कृतमें अन्तकी ध्वनिकी महाप्राणता प्रायः लुप्त हो जाती है। यह लोप अधिकतर 'स' ध्वनिके योगमें पाया जाता है। किन्तु इस विषयमें संस्कृतमें कई अपवाद भी पाये जाते हैं। यथा संस्कृतके √दह्, [*√धघ्य्, *dhaghy-] के सामान्य भूतमें धक्ष-[*दक्ष नहीं] रूप पाया जाता है। इसी प्रकार संस्कृत √दुह्, [प्रा० भा० यू० *√धुघ्य् [*dhughy-] के सामान्य भूतमें "धुक्ष-[दुक्ष-नहीं] रूप पाया जाता है। यह प्राणताका लोप एक प्रकारकी समस्या-सी है। इसीलिए पदपाठमें, ऐसी दशामें 'द' के स्थानपर 'ध' का प्रयोग पाया जाता है। इसी प्रकार √भस् तथा √घस् से व्युत्पन्न "बप्स-" तथा "जक्ष-" भी ऐसी ही समस्या है, जिनमें महाप्राणता सर्वथा नहीं पाई जाती। इस बातसे स्पष्ट है कि महाप्राण तथा स के योगका पूर्ववर्ती महाप्राण ध्वनिपर वैसा ही प्रभाव पाया जाता है, जैसा कि केवल परवर्ती महाप्राणका। किन्तु यह नियम उस समय कार्यशील था जब स-ध्वनिके योगमें मूल रूपोंके अन्तमें पाई जानेवाली सघोष महाप्राण ध्वनि अघोष अल्पप्राण [क्स, त्स, प्स] नहीं हुई थी। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि "सघोष महाप्राण + स"[2] में ऊष्मध्वनि भी सघोष हो

---

१. देखिए परिच्छेद ५.

२. ध्यान रखिए "स" [s] अघोष ध्वनि है, तथा इसका सघोष रूप "ज़" [z] है।

गई थी, तथा बार्थोलोमेके मतानुसार ऊष्म तथा महाप्राणतामें वर्णविपर्यय [metathesis] भी हो गया था। यथा—

"घ् + स", 'ध् + स" "भ् + स" ध्वनियाँ क्रमश

"ग्ज़्ह", 'द्ज़्ह", ब्ज़्ह", [gzh, dzh, bzh]

हो गई थीं।[1] गाथाकी विभाषामें हमें ये "आर्ष" रूप स्पष्ट मिलते हैं, यथा,

अवे० दिब्जइद्याइ [dıı zaidyai] [ब्ज़ ∠ ब्ज़्ह ∠ भ् + स]

अवे० नओग्ज़ा [nogza] [ग्ज़ ∠ ग्ज़्ह ∠ घ् + स]

परवर्ती अवेस्तामें आकर अघोष ध्वनियोंके रूप अवश्य पाये जाते हैं, यथा—

अवे० हङ्ग्रप्शाने [hangərəφs̆ane] [फ्श ∠ भ् + स]

अवे० दख़्श [daxs̆a] [ख़्श ∠ घ् + स]

इसके अतिरिक्त अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें एक और भी आर्ष प्रयोग पाया जाता है। भा० भा० यू० की एक विशेषता यह भी थी कि नपुंसकके बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग किया जाता था। वस्तुत इसे स्त्रीलिंगके एकवचनके समकक्ष माना जाता है। नपुंसकलिंगके बहुवचनका वैकल्पिक 'आभागन्त' रूप ऋग्वेदमें भी पाया जाता है, यथा भुवनानि विश्वा जहाँ विश्वा वस्तुत विश्वानि का वैकल्पिक रूप है। ग्रीकमें भी इसे एकवचन मानकर एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है। अवेस्ताकी प्राचीनतम गाथाओंमें इसका आर्ष प्रयोग बहुत पाया जाता है, यद्यपि परवर्ती गाथाओंमें यह प्रयोग कम हो गया है। ऋग्वेदमें इस प्रकारके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

इन सब विशेषताओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि संस्कृत तथा अवेस्ता परस्पर कितनी अधिक निकट हैं तथा भाषाशास्त्र ही नहीं वैदिक साहित्यका विद्यार्थी भी अपने अध्ययनमें अवेस्ताको नहीं छोड़ सकता। अवेस्ताकी

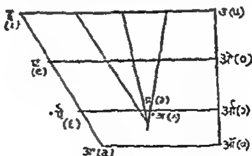
---

१. Wackernagel : Altindische Grammatik [Lautlehre] Vol I pp 271 and following § 236

गाथाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे संस्कृत भाषाकी कई भाषावैज्ञानिक समस्याएँ, तथा वैदिक साहित्यके कई आर्ष प्रयोगोंकी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं। इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनने कई महत्त्वपूर्ण तथा मजेदार गवेषणाएँ की हैं। यही अध्ययन हमें बताता है कि संस्कृत धातु √मृ का प्राचीन भारत ईरानी रूप म्रू था, जिसका अव् [mrau] रूप अवेस्तामें पाया जाता है। संस्कृत तथा अवेस्ता दोनों प्रा० भा० यू० की वे जुड़वाँ बेटियाँ हैं, जिनकी प्रकृति जाननेके लिए, एककी भी प्रकृति तथा आकृति जाननेके लिए, दूसरेकी प्रकृति व आकृतिकी जानकारी भाषावैज्ञानिकके लिए जरूरी हो जाती है।

संस्कृत ध्वनियाँ तथा स्वर

किसी भी भाषाकी ध्वनियोंको सर्वप्रथम दो प्रकारका माना जा सकता है —स्वर तथा व्यञ्जन। स्वरोंके उच्चारणमें वायु मुखसे इस प्रकार निकलता है कि मुखके अतर्गत उसका अवरोध नही होता। ये ध्वनियाँ जिह्वा तथा ओठोंकी विभिन स्थितियोंके अनुसार विभिन्न रूपमे उच्चरित होती है। जिह्वाको उठाया जा सकता है, नीचा किया जा सकता है, आगे बढ़ाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है तथा सामान्य अवस्थामे पडी रक्खा जा सकता है, ओठोंको गोलाकार बनाया जा सकता है, पीछे हटाया जा सकता है, अथवा अपनी सामान्य स्थितिमें रक्खा जा सकता है। कभी-कभी स्वरके उच्चारणके समय नासिका-विवर भी खुला रक्खा जा सकता है, और इस दशामें सानुनासिक स्वरका उच्चारण होता है, यथा लांछनमें, द्वितीय ध्वनि 'आँ' का उच्चारण सानुनासिक [सानुस्वार] ही है। जिह्वाकी विभिन्न स्थितियोंके अनुसार हम इन स्वर ध्वनियोंको पश्च, अग्र तथा केन्द्रीय इन तीन कोटियोंमें विभक्त कर देते है। जिह्वाकी इन स्थितियोंके आधार-पर मानस्वरोंकी उच्चारण स्थितिको हम इस चतुर्भुजसे व्यक्त कर सकते है।



इस चतुर्भुजकी इ आ रेखाके स्वर इ, ए, ऐ, आ अग्र स्वर है, इनके उच्चारणमे जिह्वा आगेकी तरफ बढती है । इ मे जिह्वाकी स्थिति उच्चतम रहती है, आ मे निम्नतम । इसी प्रकार पश्च ध्वनियोमे जिह्वा पीछे सटी रहती है, वस्तुतः उसका पिछला भाग कोमल तालुकी ओर उठता है । केन्द्रीय स्वर 'अ' [ə] के समय जिह्वा सामान्य स्थितिमे पडी रहती है । केन्द्रीय स्वरकी पश्च-प्रकृति अ [ʌ] के समय ओठोकी वक्रता भी पाई जाती है, जो 'अ' [ə]के उच्चारणमे नही पाई जाती। ऐ, औ ध्वनियाँ विवृत है, इनके उच्चारणमें मुख विवृत रहता है तथा जिह्वा आ या आंके उच्चारणकी अपेक्षा कुछ ऊपर उठी हुई रहती है। ए, ओके उच्चारणमे जिह्वा और अधिक उठी रहती है, तथा मुख उतना विवृत नही रहता । स्वरोका अक्षर सघटना [syllabic function]में प्रमुख हाथ होता है। कभी-कभी दो स्वर भी एक साथ मिलकर अक्षरसंघटनाका कार्य करते है । इन्हें ध्वनियुग्म [dipthong] कहा जाता है। संस्कृतकी ऐ [आइ], औ [आउ] ध्वनियाँ ध्वनियुग्म है ।

प्राचीन भारतीय ध्वनिशास्त्रियोने ध्वनियोका वर्गीकरण प्रयत्न, स्थान तथा करणकी दृष्टिसे किया है। स्थान तथा करणको आधुनिक ध्वनि-विज्ञानकी परिभाषामे हम 'पॉइण्ट आव् आर्टिकुलेशन' या 'प्लेस आव् आर्टिकुलेशन' तथा करणको 'आर्टिकुलेटर' कहते है। द्वयोष्ठ्य तथा दन्तोष्ठ्य ध्वनियोको छोडकर प्राय सभी ध्वनियोमे करण जिह्वाका कोई-न-कोई भाग होता है, स्थान उसके द्वारा स्पृष्ट अन्तर्मुखका अंगविशेष। प्राचीन भारतीय आचार्योंने अ, आको कण्ठ्य, इ, ई, ए, ऐको तालव्य, तथा उ, ऊ, ओ, औ को ओष्ठ्य माना है। ऋ, ॠ तथा ऌ को उन्होने जिह्वामूलीय माना है। कात्यायन प्रातिशाख्यके मतानुसार ऌ दन्त्य है। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे ऋ, ॠ, ऌ वस्तुतः र्, ल्के अक्षर संघटनावाले रूप है, स्वतन्त्र स्वर नही। ध्वनिशास्त्री अन्य स्वरोका वर्गीकरण जिह्वाकी स्थितिके अनुसार करना विशेष ठीक समझता है।

व्यंजन ध्वनियोंको हम दो कोटियोंमें विभक्त करते हैं—स्पर्श [stops] तथा निरन्तर [continuants]। स्पर्श ध्वनिके उच्चारणमें एक क्षणके लिए मुखके अन्दर वायुका अवरोध हो जाता है, तदनन्तर ध्वनि मुक्त की जाती है। यथा प के उच्चारणमें, ओठोंको एक-दूसरेसे सटानेसे वायुका अवरोध होता है, तत्पश्चात् ओठोंको खोलनेपर ध्वनि सुनाई देती है। निरन्तर व्यञ्जनोंमें स्पर्श ध्वनियोंकी भाँति वायुका पूर्ण अवरोध नहीं हो पाता, परन्तु इनका उच्चारण करते समय वायु मुखसे निकलता रहता है। श, स, ष आदि ध्वनियाँ निरन्तर हैं। भारतीय वैयाकरणोंके मतानुसार क से म तककी ध्वनियाँ स्पर्श हैं—कादयो मावसानाः स्पर्शाः। किन्तु आधुनिक ध्वनिशास्त्री अनुनासिक ध्वनियोंको 'निरन्तर' माननेके पक्षमें हैं। व्यंजनोंका दूसरे प्रकारका भेद स्वरतन्त्रियों [vocal chords]के कम्पनके आधारपर किया जाता है। सघोष ध्वनियाँ, यथा ग, ज, ड, द, ब आदिके उच्चारणमें स्वर-तन्त्रियोंमें कम्पन होता है जो नाद या घोषको व्यक्त करता है, अघोषध्वनियाँ, यथा क, च, ट, त, प आदिके, उच्चारणमें स्वरतन्त्रियोंमें कम्पन नहीं होता, फलतः नाद उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्राणनके आधारपर स्पर्श ध्वनियों-को अल्पप्राण तथा महाप्राण रूपमें भी विभक्त किया जाता है। स्थानभेदकी दृष्टिसे इन व्यञ्जन ध्वनियोंका वर्गीकरण यों किया जाता है :—

१ कवर्ग ध्वनियोंको संस्कृत वैयाकरणोंने कण्ठ्य कहा है। प्रातिशाख्योंमें इनका स्थान जिह्वामूल माना गया है।[1] कवर्गके उच्चारणमें जिह्वाका मूल

---

१ कण्ठ्योऽकारः प्रथमपञ्चमौ च ऋकारऌकारावथ षष्ठ ऊष्मा, जिह्वामूलीयाः प्रथमश्च वर्गः [ऋक् प्रा० प्रथम पटल, १८], [ऋ प्रा ५ १९-२०] साथ ही—अहविसर्जनीयाः कण्ठे [शुक्लयजु प्रा० १ ७१] इचशेयास्तालौ [१ ६६], उवोपोपध्मा ओष्ठे [१ ७०],ऋत्वर्णको जिह्वामूले [१ ६५], लृलसिताः दन्ते।

ऋ ृ यको जिह्वामूले [शु० य० प्रा० १. ६५] "जिह्वामूलीया प्रथमश्च वर्गः [ऋक प्रा० १ १८]

कोमल तालु [velum] को छूता है। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इन ध्वनियोंको कोमलतालुजन्य [velar] कहना अधिक संगत समझते हैं।

२. चवर्ग ध्वनियोंको तालव्य माना जाता है।[1] इनके उच्चारणमें जिह्वा मध्यके द्वारा कठोर तालुके दोनों छोरोंका स्पर्श किया जाता है। संस्कृतकी ये ध्वनियाँ शुद्ध तालव्य ध्वनियाँ थी, पर आजकी हमारी भाषाओंकी ये ध्वनियाँ सोष्म स्पर्श है, इन्हे ध्वनिवैज्ञानिक शब्दावलीमें हम सोष्म स्पर्श [affricates] कहेंगे। इस बातका संकेत डॉ० चाटुर्ज्याने अपनी 'बंगाली फोनेटिक रीडर' में किया है। ब्रज, हिन्दी तथा अवधीकी च, छ, ज, झ, ध्वनियाँ तालव्य न होकर सोष्म स्पर्श है।[2]

३. टवर्ग ध्वनियोंको मूर्धन्य कहा जाता है।[3] किन्तु मूर्धन्य नाम ठीक नही जान पड़ता। आधुनिक ध्वनिशास्त्री इस वर्गकी ध्वनियोंके लिए 'रिट्रोफ्लेक्स' [retroflex] शब्दका प्रयोग करते हैं। इस वर्गकी ध्वनियोंके उच्चारणमें जिह्वाका अग्र भाग उलटकर कठोर तालुके किसी भी अंगको छूता है। जिह्वाके इस प्रतिवेष्टितत्वका संकेत प्रातिशाख्योंमें भी मिलता है।[4]

---

१. इचशेयास्तालौ [शु. य. प्रा. १ ६६], तालव्यावेकारचकारवर्गौ [ऋ. प्रा. १. १९]

२. Dr. Saksena. Evolution of Awadhi p. 31

३. षटौ मूर्धनि [शु. य. प्रा. १. ६७]; मूर्धन्यौ षकारटकारवर्गौ [ऋक् प्रा. १. १९]

४. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे [तैत्तरीय प्रा. २. ३७]; मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् [अथर्वप्राति १. २२], मूर्धन्य प्रतिवेष्ट्याग्रम् [वाजसनेय प्रा. १. ७८] साथ ही देखिए—Daniel Johns : An Outline Of English Phonetics P, 119

मूलीय ᳵका उच्चारण 'ख' सा होता है, यथा अन्तᳵकरण [अन्त [ख्] करण], उपध्मानीय दन्तोष्ठ्य ध्वनि है, इसके उच्चारणमें अधरोष्ठ ऊपरके दाँतोंका हल्का-सा स्पर्श करता है, इसका उच्चारण 'फ' सा होता है, यथा अन्तᳶपुर [अन्त [फ्] पुर]। दन्तोष्ठ्य 'व़' इसी 'फ' का सघोष रूप है। अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनिशास्त्रीय संकेतलिपिमें इनके लिए क्रमश ϕ, β चिह्नोंका प्रयोग होता है। 'व़' का उच्चारण संस्कृतमें अलग ध्वनि [phoneme] न होकर द्वयोष्ठ्य 'व' का ही ध्वन्यंग [allophone] माना जाना चाहिए। इसका उच्चारण भी केवल वैदिक संस्कृतमें पाया जाता है, जहाँ पदादि 'व' [w] का 'व़' [β] पढनेकी प्रथा है। शिक्षाओंमें इसका संकेत मिलता है —गुरुर्व्यंकारो विज्ञेय पदादौ पठितो भवेत् [माध्यन्दिनी शिक्षा २ ६]।

संस्कृत ध्वनियोंका यह वर्गीकरण निम्न मानचित्रसे जाना जा सकता है —

स्थान	स्पर्श				निरन्तर			
	अल्पप्राण		महाप्राण				अनुनासिक	
	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष	अघोष	सघोष
कण्ठ्य या कोमलतालुजन्य	क	ग	ख	घ	ह्	ह		ङ
तालव्य	च	ज	छ	झ	श	य		ञ
प्रतिवेष्टित या मूर्धन्य	ट	ड	ठ	ढ	ष			ण
दन्त्य	त	द	थ	ध	स	ल		न
द्वयोष्ठ्य	प	ब	फ	भ		व		म
वर्त्स्य						र		[न]
दन्तोष्ठ्य					[फ़]	[व़]		

संस्कृतके अंतर्गत अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ओ ऐतिक स्वर ध्वनियाँ, तथा ऐ, औ ध्वनियुग्म हैं। इनके अतिरिक्त 'र' तथा 'ल' के अक्षर संघटनाकारीरूप ऋ, ॠ, लृ का भी ग्रहण संस्कृत स्वरोंमें किया जा सकता है, जहाँ ये स्वरका कार्य करते हैं। संस्कृतमें पाँच अनुनासिक ध्वनियाँ हैं — ङ, ञ, ण, न, म। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे संस्कृतमें तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ [nasal phonemes] मानी जा सकती हैं —ण, न, म, तथा ङ, ञ वस्तुतः न के ही स्वन्यग [allophones] हैं। वाकेरनागेलने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अल्टिण्डिश्चे ग्रामातीक" [प्राचीन भारतीयकी व्याकरण] में 'ङ' को संस्कृतमें अलग ध्वनि माना है, किन्तु हम इस मतसे सन्तुष्ट नहीं।[1] ब्लॉखने अवश्य ही 'न', 'म' तथा 'ण' ये तीन अनुनासिक ध्वनियाँ संस्कृतमें मानी हैं।[2] कुछ विद्वानोंके मतानुसार टवर्गीय स्पृष्ट ध्वनियों तथा 'ष' को संस्कृतकी अलगसे ध्वनि न मानकर तवर्ग तथा स का नतिभाव[3] [Prosody of retroflexion] मानना ठीक होगा, पर हम इस मतसे सहमत नहीं क्योंकि संस्कृतकी टवर्ग ध्वनियाँ वस्तुतः दन्त्योंका नतिभाव न होकर तालव्य ध्वनियोंका विकास हैं।

संस्कृत स्वर-ध्वनियोंका विकास—

संस्कृतकी स्वर संपत्ति भारत ईरानी स्वरोंके अत्यधिक निकट है। इस भाषामें ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ, ऋ [लृ केवल एक ही संस्कृत धातु क्लृप् में मिलता है, जिसका रूप अवेस्तामें 'कॅर॒प्' [kərəp] है], पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एकाक्षरीभूत ध्वनियुग्म ए, ओ तथा

---

1 Wackernagel Altindische Grammatik [Lautlehre] V. I p. 2. §2

२. Bloch L'Indo Aryen. P 71.

३ एषा नतिर्दन्त्यमूर्धन्यभाव [ऋक् प्रा० ५ ६१], दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः [वाजसनेयी प्रा० १ ४२]

ऐ, औ भी पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त ह्रस्व तथा दीर्घ अ, इ, उ के सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं, जिसे प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रंथोंमें "रक्त"[1] संज्ञा दी गई है।

अ—संस्कृत अ का विकास प्रा० भा० यू० *अ, *ए, *ओ तथा अक्षरघटनाकारी स्वरीभूत अनुनासिक *न्, *म् से हुआ है। उदाहरणार्थ,

सं० अजति, अवेस्ता अजइति [azaiti], ग्रीक अगेइ [agei] ∠ *अगेइ [*agei]

,, अस्ति ,, अस्तिय् [astiy], ग्रीक एस्ति [esti] < *एस्ति [*esti]

,, पति ,, पइतिस् [paitis] ग्रीक पोसिस् [posis] ∠ *पोतिस् [*potis]

,, दश ,, दस [dasa], ग्रीक देक [deka] ∠ *देक्म् [*dekm̥]

,, तत[2] ,, ... ग्रीक ततोस् [tatos] ∠ *न्तोस् [*ntos]

आ—संस्कृत आ का विकास इन्हींके दीर्घरूपसे हुआ है। आदिम भा० यू० आ, ए, ओ तथा स्वरीभूत न्, म् के दीर्घरूपसे आ का विकास हुआ है। यथा,

सं० मातृ [मातर्] अवे० मातर् [mātar] ग्रीक मातेर् [mater] ∠ *मातेर् [*māter]

सं० मा ,, मा [mā] ग्रीक मे [me] ∠ *मे [me]

---

१. रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः [ऋक् प्रा० १. १७]

२. तनु विस्तारे इति धातोः क्तप्रत्ययः।

,, दुहिता [दुहितृ] ,, दुग्दा [duɣda] ,, थुगातेर [thugater]
∠ *दुघ्अतेर [dughəter]

[३] संस्कृत इ, उ जहाँ इर्, उर् के रूपमें पाये जाते हैं, वहाँ प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] से विकसित हैं। यथा—

स० गुरु, अवेस्ता गोउरु [gouru], ग्रीक बरुस् [barus] ∠ *गृउस् [*gr̥us]

,, गिरि ,, गइरि [gairi] ,, ∠ *गृरि [गृर्अ] [*gr̥ri] [*gr̥rə]

ऋ, ॠ, ऌ —संस्कृत ऋ, ॠ, ऌ शुद्ध स्वर न होकर र्, ल् के स्वरीभूत रूप हैं। ऋक्प्रातिशाख्यके टीकाकार उव्वटके मतानुसार 'ऋ' को चार पादोंमें विभक्त किया जा सकता है। इनमेंसे प्रथम तथा अन्तिम पाद स्वरका तथा मध्यके दो पाद व्यञ्जनके हैं। इसे हम यों व्यक्त कर सकते हैं — ऋ = $\frac{अ}{४}$ + $\frac{र}{२}$ + $\frac{अ}{४}$ इसीका दीर्घ रूप ॠ है। इसी प्रकार ऌ को $\frac{अ}{४}$ + $\frac{ल}{२}$ + $\frac{अ}{४}$ माना जा सकता है। ऋ तथा ऌ दोनोंका अवेस्तामें अर्अ [ərə] के रूपमें विकास हुआ है। ये सभी प्रा० भा० यू० *ऋ [r̥] *ऌ [l̥] से विकसित हुए हैं। संस्कृतका 'ऌ' जो केवल 'क्लृप्' में पाया जाता है, सम्भवतः प्रा० भा० यू० *ऌ [*l̥] से विकसित हुआ है। प्रा० भा० यू० *r̥, *l̥ दोनों ही संस्कृतमें ऋ के रूपमें विकसित हुए हैं।

स० √मृड्—∠ *मृज्द् [*mr̥zd]

,, दृढ़ ∠ *दृज्ध [*dr̥zdha]

,, वृढ [परि–], ∠* वृढ्ध [wṛzdha]

,, पृथु अवे० पअरअ्थु [pərəthu] ∠ *पृथु [pṛthu]

संस्कृत दीर्घ ॠ को संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके द्वितीया तथा षष्ठी बहुवचन 'हरीन्-हरीणाम्', 'भानून्-भानूनाम्' के सादृश्य पर ऋकारान्त शब्दोंमें बनाया गया रूप मानते हैं ।[1] वस्तुत दीर्घ ॠ केवल इन्ही दो विभक्तियोंके बहुवचन रूपोंमें [ऋकारान्त शब्दोंमें] पाया जाता है, यथा पितॄन्, श्रोतॄन्, पितॄणाम्, श्रोतॄणाम्; मातॄः, स्वसॄणाम् । अत इसे प्रा० भा० यू० दीर्घ *ॠ [r̄] से विकसित नहीं माना जा सकता ।

ए, ओ—संस्कृत की ए, ओ ध्वनियाँ क्रमश प्रा० भा० यू० *अइ, *एइ, *ओइ, तथा *अउ, *एउ, *ओउ से विकसित हुई हैं । ये दोनों मूलत सन्ध्यक्षर है । इनके विकासके उदाहरण रूपमें ये रक्खे जा सकते हैं —

स० भरेः, ग्रीक हेप्पोइ [heppoi] ∠ *एक्वोइ [ekʷoe]

,, भवेत [मि० ग्रीक, फेरोइतो, [pheroito] ∠ *भेरोइतोर [bheuoito] ।

संस्कृत भाषामें ही अइ [अय्], तथा अउ [अव्], ए तथा ओ के रूपमे परिवर्तित होते मिलते हैं —मघवन्-मघोन, भगवान्-भगोस् ।

ऐ, औ—संस्कृत ऐ, औ ध्वनियुग्मोंका विकास प्रा० भा० यू० सन्ध्यक्षरों [ध्वनियुग्मों] से हुआ है, जिनमें प्रथम स्वरध्वनि दीर्घ *आ, *ए, *ओ [ā ē. ō] रही है । ऐ, औ संस्कृतमें भी आय् तथा आव् के रूपमें परिवर्तित होते देखे जाते है । यथा, गौः, गावः, नौ, नौभि , नाव,

---

[1] Bloch L'Indo-Aryen. P. 30.

द्यौः, द्यावा। इनके प्रा० भा० यु० से उत्पन्न विकासके लिए ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

सं० अरैक्षम्, ग्री० एलेइप्स [eleipsa] ∠ *लेय्क्व् [* leykʷ–]

,, नौः ,, नाउस् [naus] ∠ *नाव्स् [naw-s]

द्यौ. ,, जेउस् [प्राचीन ग्री० जेउस्] [zeus] ∠ *द्येव्स्
[dyew-s]

शुद्ध स्वरोंके अतिरिक्त संस्कृतमें स्वरोंके सानुनासिक रूप भी पाये जाते हैं। वैदिक तथा लौकिक दोनों संस्कृतमें अधिकतर सानुनासिक स्वर दीर्घ पाये जाते हैं, आँ, ईँ, ऊँ, किन्तु ह्रस्व स्वरोंके साथ भी सानुनासिकता होती है। वेदमें पदान्त आ जो न् से पूर्व होता था, दूसरे पदके आदिमें स्वर ध्वनि आनेपर सानुनासिक हो जाता था, साथ ही वह प्लुत भी हो जाता था। जैसे लोकाँऽपंश्यत्, अभिनगताँऽपूर्वः। वैदिक तथा लौकिक संस्कृतमें दीर्घ आ, ई, ऊ तीनों पदान्त न् से पूर्व होनेपर तथा ऐसे अन्य पदसे सहित होनेपर, जिसके आदिमें चवर्गीय, टवर्गीय तथा तवर्गीय ध्वनि हो, अनुनासिक हो जाते हैं, यथा महाँ इव सर्वान्, पशूँस्ताँश्चक्रे। कुछ ध्वनिशास्त्रियोंके मतानुसार ह्रस्व स्वर भी सानुनासिक होते हैं। यह रूप वहाँ पाया जाता है, जहाँ परवर्ती ध्वनि ऊष्म या 'ह्' है। अँश [अंश], सिँह [सिंह], किँशुक [किंशुक], पुँसक [पुंसक] में क्रमशः सानुनासिक अ, इ, उ ध्वनियाँ हैं। पाणिनिने भी ह्रस्व तथा दीर्घ 'अ' 'इ' 'उ' के वाक्यके अन्तमें होनेपर अनुनासिकीकरण माना है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका विकास—प्रा० भा० यु० व्यञ्जन ध्वनियोंका पूर्ण विकास संस्कृतमें पाया जाता है। व्यञ्जनोंकी दृष्टिसे संस्कृत किस प्रकार भारत-ईरानी भाषाका पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है, यह हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें बता चुके हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें

बता आये हैं प्रा० भा० यू०में तीन प्रकारकी कण्ठ्य ध्वनियाँ थी। संस्कृत-की कवर्ग ध्वनियाँ प्राय प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई हैं।

क —प्रा० भा० यू० शुद्ध कण्ठ्य 'क' तथा कण्ठोष्ठ्य 'क्व' परस्वर अथवा व्यंजन ध्वनिसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें क ही बने रहे हैं। वैसे अग्र स्वरसे पूर्व होनेपर वे च के रूपमें विकसित हुए हैं।

सं० क्रवि ग्रीक क्रेअ [व] स् [kre[w] as] ∠ *क्रेव्अस् [krewəs]

,, क्रूर लैटिन क्रुओर [Cruor] [रक्त], रूसी क्रोव्य [Krovy]

∠ *क्रुवोस् [Kruwos]

,, क्वोस् [quos], ग्रीक पा [qc–]∠ *क्वोस् [Kʷos]

ख —संस्कृत ख ध्वनि प्रा० भा० यू० *ख, *स्ख से विकसित मानी जा सकती है, किन्तु हमारे मतसे संस्कृत *ख शुद्ध कण्ठ्य *ख का ही विकसित रूप है। स्टर्टवण्टके मतानुसार प्रा० भा० यू० *ख शुद्ध कण्ठ्य *क तथा भा० हित्ताइत अघोष कण्ठनालिक ध्वनि,',× का पल्लवित रूप माना जा सकता है। प्रा० भा० यू० *ख अवेस्तामें कभी [illegible] तथा कभी ख पाया जाता है। इसे प्रा० भा० यू० *स्ख का भी विकसित रूप माना जा सकता है।

सं० खादति ∠ *स्खादेति [skhadoti]

सं० नख, ग्रीक ओनुख् [onukh]

मख," मखोमाइ [makhomai] [युद्ध] ∠ *मखोस्

[makhos]

ग —संस्कृत ग प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से निकला है, ठीक उसी तरह जैसे संस्कृत क प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से।

सं० उग्र ∠ *उग्र [ugra]

सं० गौ, ग्रीक बोउस् [Bous] ∠ *ग्वोउस् [gʷōus]

घ —संस्कृत घ प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व से विकसित हुआ है, यह प्रा० भा० यू० *घ तथा *घ्व कहीं कहीं संस्कृतमें आकर ह के रूपमें भी विकसित हुआ है। अतः संस्कृत ह प्रा० भा० यू० *ह जैसी ध्वनिसे विकसित नहीं हुआ है।

वैदिक सं० द्रोघ ∠ *ध्रोउघो [dhrougho]

संस्कृत घन, रूसी गनाट [gnaty] ∠ *घ्वोनो [ghʷono]

तुलनात्मक भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे संस्कृतमें दो तरहकी तालव्य ध्वनियाँ पाई जाती है, एक वे है जो संस्कृतमें प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों—*क्य, *ख्य, *ग्य, *घ्य, से विकसित होकर आई है, दूसरी वे चवर्गीय ध्वनियाँ जो अन्य दो प्रकारके प्रा० भा० यू० कण्ठ्य ध्वनियोंसे विकसित हुई है। ये तालव्य ध्वनियाँ वस्तुतः उन ध्वनियोंसे विकसित हुई है, जो स्वयं मूलतः तालव्य नहीं थी, किन्तु परवर्ती अग्रस्वर [ए, इ आदि] के कारण ईषत्तालव्य रूपमें उच्चारित होती थी। उदाहरणार्थ प्रा० भा० यू० *क्वे [kʷe] में प्रथम [व्यञ्जन] ध्वनि तालव्य न होकर कण्ठोष्ठ्य है, किन्तु यह प्रा० भा० यू० कण्ठोष्ठ्य ध्वनि संस्कृतमें 'च' हो गई है, और विकसित शब्द 'च' [और] हो गया है। अतः स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० कण्ठ्य तथा कण्ठोष्ठ्य ध्वनियाँ ही अग्रस्वरके परवर्ती होनेपर संस्कृतमें च हो गई हैं, जब कि प्रा० भा० यू० तालव्य क्य संस्कृतमें श के रूपमें विकसित हुआ है। इसी सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृत छ ध्वनि भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत च ध्वनिका महाप्राण रूप न होकर संस्कृत श ध्वनिका महाप्राण रूप है।[1] अर्थात् संस्कृत छ का विकास प्रा० भा० यू० *स्क *स्ख

१ Wackernagel, Altindische Grammatik [Lautlehre] vol. I, PP 227–8 §200.

से न होकर *स्य से हुआ है। यद्यपि प्रातिशाख्योमे तथा परवर्ती व्याकरण ग्रन्थोमे भी इसे 'च' का महाप्राण माना है, किन्तु संस्कृत 'छ' के विकासके विषयमे भाषाशास्त्रीय तथ्य इससे भिन्न है। इसीलिए प्राय ऐसा देखा जाता है कि संस्कृतमे श, छ मे परिवर्तित हो जाता है, जैसे संधिमे,— तत् + शय्या = तच्छय्या, पद् [त्] + श = पच्छ। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत श तथा छ क्रमश प्रा० भा० यू० *श्य, *स्य मे विकसित हुए है।

श —संस्कृतमे प्रा० भा० यू० *क्य, श बना है, पर ग्रीक तथा लैटिनमे क ही रहा है, यथा—

संस्कृत √श्रु, ग्रीक क्लुओ [kluo], लैटिन क्लुएओ [clueo] ∠ *क्लु- [klu-]

" दर्श ,, देदोर्के [dedorke] ∠ *देदोर्के [dedorke]

छ —संस्कृत 'छ' 'श' का महाप्राण है, किन्तु जैसा कि हम देखेंगे इसका विकास प्रा० भा० यू० शुद्ध *स्य से न होकर *स्ख्य से हुआ है। उदाहरणार्थ संस्कृतके 'छाया' शब्दको लीजिए, जिसका समानान्तर ग्रीक शब्द 'स्किआ' [skia] है। हम देखते है कि संधिमें 'छाया' का यह 'छ' 'च्' से युक्त हो जाता है, यथा शिव + छाया = शिवच्छाया। यह 'च्' बताता है कि वास्तविक संस्कृत शब्द *च्छाया रहा होगा जो उच्चारण सौकर्यकी दृष्टिसे 'छाया' बन गया। यह च्छ प्रा० भा० यू० *स्ख्य का विकास है। यद्यपि पदादिमे संस्कृतमें यह 'च्छ' उच्चरित नही होता, तथापि पदमध्यमें यह पुन अपने स्वभावको प्राप्त हो जाता है, जैसे शिवच्छायाम। धीरे धीरे 'च्छ' तथा 'छ' मे कोई भेद नही माना जाने लगा। वैदिक संहिताओंकी लिपिमें 'च्छ' को 'छ' से लिपीकृत किया गया है। काठक शाखाकी संहितामें इसीके लिए 'श्छ' का चिह्न पाया जाता है। संस्कृत गच्छति मे भी यही च्छ है, जो गश्छति [कुछ लोगोंके मतानुसार] लिखा जा सकता है।

संस्कृत गच्छति, ग्रीक बस्को [baskō] [मैं जाता हूँ] ∠ *ग्व्म्स्खति [g^wm̥skhati]

,, पृच्छति, प्रा० हाईजर्मन फ़ोर्स्कोन [forskon] ∠ *पृस्खति [pr̥skhati]

च :—संस्कृत च ध्वनि उन प्रा० भा० यू० *क तथा *क्व से विकसित हुई है, जिनके परे कोई अग्रस्वर था। संस्कृतमें ही कई धातुओं तथा शब्दोंमें 'क' तथा 'च' का विपर्यय देखा जाता है, जैसे सं० √शुच् [शुक्] धातुसे शुक्र तथा शुचि दोनों शब्द निष्पन्न होते हैं।

संस्कृत चकार ∠ *केकोरे [kekore]।

,, चकक्ष ∠ *केकोक्से [kekokse]।

,, चित्, ग्रीक तिस् [tis] ∠ *क्वि [$k^w i$]।

ज :—संस्कृत ज प्रा० भा० यू० *ग तथा *ग्व से विकसित है, जो अग्रस्वरसे पूर्व थे। संस्कृतमें ग तथा ज का विपर्यय देखा जा सकता है, स्रक् [स्रग्], स्रजौ, स्रजः।

सं० ओजस्, लै० ओगस् [ogas] ∠ *अउगस् [augas]।

,, जीव, प्रा० स्लावोनिक ज़्हीव्प [zhivpa] ∠ *ग्वीवोस् [ग्वीवोस्] [g^wiwos]।

,, जगाम ∠ ग्वेग्वोमे [g^weg^wome]।

झ :—'झ' को संस्कृतमें 'ज' का महाप्राण माना जाता है, पर भाषाशास्त्रीय तथ्य भिन्न है। अग्रस्वरके पूर्ववर्ती प्रा० भा० यू० 'घ' 'घ्व' संस्कृतमें आकर 'ह' के रूपमें विकसित हुए हैं। पश्च स्वर या अन्य ध्वनियोंके पूर्व वे 'घ' ही बने रहे हैं। अतः जिस प्रकार घ, ग का महाप्राण है, उसी प्रकार भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ह, ज की महाप्राण ध्वनि है। संस्कृतकी

'झ' ध्वनि शुद्ध भारोपीय शब्दोमे नही पाई जाती। अधिकतर इस ध्वनिवाले शब्द या तो बाहरसे सस्कृतमें आये है, या अनुकरणात्मक शब्द है, यथा झटिति, झणझणायित, झांकृतनिर्झराणाम् मे।

ह् :—सस्कृतमे दो प्रकारकी 'ह' ध्वनि पाई जाती है, एक सघोष दूसरी अघोष। भारतीय विद्वानोको इस बातका पूरा पता था, यद्यपि अघोष 'ह' के लिए कोई विशेष लिपि सकेत न होकर, केवल विसर्ग पाई जाती है। पाणिनिने या उनके पूर्ववर्ती किसी वैयाकरणने वर्णसमाम्नायमे[१] दो बार 'ह' का प्रयोग किया है—हयवरट्, हल्। इनमे प्रथम सूत्रका 'ह' सघोष है, द्वितीय वाला 'अघोष'। यहाँ हमें सघोष 'ह' के विकासपर ही सकेत करना है कि वह प्रा०भा०यू० *घ, *घ्य, *घ्वसे विकसित हुआ है।

स० द्रुह्यति ∠ *√ध्रेघ् [√ध्रोघ्] [*ध्रेघ्य्ति
*dhrewghyti]

,, हन्ति ∠ *√घ्वन् [घ्न् म् [घ्नेम्, घ्नोन्] *घ्वन्ति [gh"nti]

[ग्रीक, थेइनो [theino] [मै मारता हूँ]

,, वहति, अवे० वज़इति [wazaiti], लै० उएहित [uehit]
∠ *वृएघएति [*wegheti]

प्रा० भा० यू० मे प्रतिवेष्टित ध्वनियाँ [मूर्धन्य ध्वनियाँ] थी ही नही, किन्तु सस्कृतमें 'ट, ठ, ड, ढ, ण' ये प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] स्पर्श ध्वनियाँ पाई जाती है। ये ध्वनियाँ कहाँसे आई? अधिकतर ऐसी धारणा चल पडी है कि ये ध्वनियाँ द्रविड भाषाओंकी ध्वनिसम्पत्तिका प्रभाव है, किन्तु वे

---

१ विद्वानोंका इस विषयमे ऐकमत्य नहीं है कि वर्णसमाम्नायकी रचना पाणिनिने की थी, या उनसे पूर्ववर्ती वैयाकरण [शिव या महेश्वर ?] ने।

ध्वनियाँ कौन सी थी, जो इस रूपमें विकसित हुई ? अध्ययन करनेपर पता चलता है कि संस्कृतकी इन प्रतिवेष्टित ध्वनियोंमें कई प्रकारकी ध्वनियाँ घुल-मिल गई है। संस्कृतकी अधिकांश 'टवर्गीय' ध्वनियाँ संस्कृत मे प्राकृतका [उलटा] प्रभाव है। संस्कृतमें, ऋग्वेदमे ही, रेफके प्रभावसे परवर्ती दन्त्यका नतिभाव पाया जाता है, यथा 'विकट', 'उत्कट' का 'कट' वस्तुत 'कृत' से विकसित हुआ है, इनका मूल रूप विकृत, उत्कृत है। कभी कभी तो यह रेफ संस्कृतमें ही स्पष्ट रूपसे वर्तमान होता है, किन्तु कभी कभी यह ऐतिहासिक विकासमें लुप्त हो गया होता है, यथा सं० कटु, लिथुआनियन कर्तुस् [kartus]। यहाँ हम लिथुआनियनके आधारपर यह कह सकते हैं कि संस्कृतका वास्तविक रूप *कर्तु था, तथा यद्यपि ऐतिहासिक विकासमें रेफ लुप्त हो गया, तथापि 'त' का नतिभाव 'ट' उसीके कारण है। यह रेफ [र्] अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें ल रूपमें भी हो सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत जठर का सम्बन्ध गोथिक किल्थेइ [kilpei] से है। इसी आधारपर रूसी विद्वान् फोर्तुनातोफ [Fortunatov] ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि प्राय संस्कृत प्रति० वेष्टित प्रा० भा० यू० ल + दन्त्य से विकसित है। किन्तु यह सिद्धान्त इसलिए आदृत न हो सका कि इसके कई अपवाद देखनेमें आते हैं। संस्कृत जठर की मूर्धन्य ध्वनि रेफके ही कारण हो सकती है, जो संस्कृत शब्द जर्तु, जरती आदिमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान है। संस्कृत प्रतिवेष्टित सदा ही प्रा० भा० यू० *र या *ल से प्रभावित 'दन्त्य' ध्वनिसे विकसित हुए है, यही बात नहीं है। संस्कृत ष ध्वनिका भी प्रतिवेष्टित विकास पाया जाता है, जो प्रा० भा० यू० *क्ष से विकसित है, यथा संस्कृत शब्द षष् तथा विश् के तृतीयाचतुर्थी ब० व० में षड्भि, विड्भ्य रूप पाये जाते हैं। किन्तु यह कहना भी सत्य न होगा कि समस्त 'शान्त' शब्दोंमें 'भ' के पूर्व प्रतिवेष्टितत्व पाया ही जाता है, इसके विरुद्ध प्रमाण दृग्भि, दिग्भ्य हैं, जो दृश् तथा दिश् के रूप है। यहाँ हम समस्याको सुलझाना शक्य नहीं है कि क्या नतिभाव ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे ठीक है, तथा 'ग्' वाले रूप ध्वनि-

नियमके अपवाद हैं, अथवा यह बात विपरीत रूपमें है। तथापि, वाकेर-नागेलके मतानुसार इन स्थानोंपर नतिभाव [मूर्धन्यता] को ही नियतरूपी मानना होगा, क्योंकि ऐसा न माननेपर कण्ठ्य ध्वनिके साथ पाई जानेवाली नतिको, जैसे दिक्षु = दिक् + षु; हृक्षु = हृक् + षु में—स्पष्ट करनेमें असफलता होगी।[1] इसी प्रकार अन्य प्रा० भा० यू० तालव्य ध्वनियों 'श्य' 'ग्य' 'घ्य' ने भी अपनी-अपनी प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको विकसित किया है। जैसा कि हम अनुपदमें देखेंगे ये तालव्य ध्वनियाँ संस्कृत प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियोंके विकासमें महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं।[2]

ट.—संस्कृतकी ट ध्वनि एक ओर प्रा० भा० यू० *त का विकसित रूप है, जो कभी रेफसे युक्त था, तो दूसरी ओर कभी प्रा० भा० यू० *श्य [सं० श] तथा कभी *ग्य, *घ्य [सं० ज, ह] से युक्त था। उदाहरणके लिए सं० कटु ∠ *कर्तुस् [kartus], सं० वष्टि [वश्—ति], मृष्ट [मृज्—त] राष्ट्र [राज्—त्र] को ले सकते हैं। संस्कृतके सामान्य भूते लुङ्के अयाट् [∠—याज्—त], अवाट् [∠—वाह्—त] में, जो √ यज् तथा √ वह् धातुके रूप हैं, प्रा० भा० यू० *ग्य, *घ्य हैं, जो संस्कृतमें क्रमशः ज तथा ह हो गया है। सन वर्गकी अन्य भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे इस बातकी पुष्टि होती है कि ये ध्वनियाँ धातुमें मूलतः स्पर्श व्यञ्जन न होकर सघोष ऊष्म थी, यथा अवस्ता यज़इति [yazaiti] [सं० यजति], प्रा० चर्च स्लावोनिक वेज़ [vez] [सं० √ वह्]।

ठ.—संस्कृत ठ इसी प्रकार रेफ, श, ज तथा ह के योगसे *थ का विकसित रूप है। यथा, जठर, गॉथिक किल्थेइ [kilpei] के आधारपर

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik [Lautlehre] Vol I pp 173-5 § 149.

२ Bloch L'Indo-Aryen p. 53

ध —संस्कृत ध ध्वनि प्रा०भा०यू० *ध का अपरिवर्तित रूप है, जैसे, स० दधार, ग्रीक तेथेतइ [tethetai] ∠ *धेधोरे [dhedhore]

प्रा० भा० यू० ध भी प्रा० भा० यू० घ, ग्घ की भाँति अग्रस्वरसे पूर्व होनेपर संस्कृतमें आकर ह हो जाता है। इसके उदाहरणके रूपमें हम संस्कृत हित को ले सकते हैं, जो √धा धातु से क्त [धा + क्त] प्रत्यय जोड़कर बना है। यहाँ ध का ह हो गया है। पाणिनिने स्वयं भी इस भाषा-शास्त्रीय तथ्यको 'दधातेर्हि' इस सूत्रके द्वारा स्वीकार किया है। ग्रीकमें यह प्रा० भा० यू० *ध, 'थ' [th] हो जाता है।

प —संस्कृत प ध्वनि प्रा०भा०यू० *प का अपरिवर्तित रूप है, यथा, पिता ∠ *पअतेर [pəter], स० पत्नी, ग्रीक पोत्निआ, ∠ *पोत्नी

फ —संस्कृत फ प्रा० भा० यू० *फ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत फल, ग्रीक फुल्लोन [phullon] [पत्र] ∠ *फल्लो–
[*phallo–]

ब —संस्कृत ब प्रा० भा० यू० *ब का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत बर्हि, अवेस्ता बरअज़िस् [barəzis] ∠ *बरघिस्
[barghis]

भ —संस्कृत भ प्रा० भा० यू० *भ का अपरिवर्तित रूप है, यथा, संस्कृत भरति, अवस्ता बरइति [baraiti], ग्रीक भेरेसि [bheresi]
∠ *भेरेति [bherěti]

प्रा० भा० यू० *भ वैदिक संस्कृतमें ह के रूपमें भी विकसित दिखाई देता है। √ग्रभ्–√ग्रह् जैसे वैकल्पिक रूप वेदमें पाये जाते हैं, पर यह विशेषता विभाषागत मानी जा सकती है।

ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे संस्कृतमें ण, न, म ये तीन ही अनुनासिक ध्वनियाँ मानी जा सकती हैं। ङ तथा ञ स्वतन्त्र ध्वनियाँ न होकर न के ही

ध्वन्यग है। न ध्वनि कवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ङ तथा चवर्गीय ध्वनिके परवर्ती होनेपर ञ हो जाती है। उदाहरणके लिए हम यङ्-काम-यते, शञ्च मे, को ले सकते हैं। कभी-कभी क—ग ध्वनियाँ उनसे परे न या म ध्वनि होनेपर ङका रूप धारण कर लेती हैं, यथा वाङ्-मय, दिङ्-नाग में। किन्तु यहाँ ङ को स्वतन्त्र ध्वनि न मानकर क—ग ध्वनियोंका ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप मानना ठीक है। कुछ विद्वान् ण को स्वतन्त्र ध्वनि माननेके पक्षमें नहीं हैं। ज्यूल ब्लॉख इसे स्वतन्त्र ध्वनि माननेपर जोर देते हुए लिखते हैं —किन्तु [ङ, ञ, ण मेंसे] अकेला मूर्धन्य [ण] ही स्वतन्त्र ध्वनि है तथा स्वरमध्यगत रूपमें प्रकट होता है। यह या तो उस स्वरके बाद होता है, जो प्रागैतिहासिक रूपमें ऋ था, या वह स्वयं र या ष का परवर्ती है। यह एक स्वतन्त्र ध्वनि है, किन्तु इसकी स्वयकी स्थिति सीमित है। यह ध्वनि पदादिमें नहीं पाई जाती। नव्य भारतीय भाषाओंमें इसका अत्यधिक विस्तार पाया जाता है।[1]

ङ, ञ :—ये दोनों अनुनासिक 'न' के ही ध्वन्यग हैं। कभी-कभी ऐसे स्थानोंपर भी जहाँ 'कवर्गीय' ध्वनिका ऐतिहासिक कारणोंसे विकल्पसे लोप हो गया होता है, 'ङ' ध्वन्यग पाया जाता है, यथा युङ्ते, युङ्धि वस्तुत युङ्क्ते, युङ्ग्धि के ही रूप है।

ण :—यह वह न ध्वनि है, जो ऋ, र, ष के प्रभावसे ण हो गई है, अथवा परवर्ती टवर्गीय ध्वनिके कारण ण हो गई है। उदाहरणके लिए इन शब्दोंको ले लें—वर्ण, नृणाम्, कृपण, क्षोभण, निषण्ण, मण्डयति।

न :—संस्कृत न प्रा० भा० यू० *न का अपरिवर्तित रूप है, यथा संस्कृत मनस्, ग्रीक मॅनॅास् [menos] ∠ *मॅनॅास् [menos]

म :—संस्कृत म प्रा० भा० यू० *म का अपरिवर्तित रूप है, यथा

---

१. Bloch : L'Indo-Aryen P. 71.

संस्कृत मातृ [मातर्], ग्रीक मातेर् [māter], लैटिन मातेर् [māter] ∠ *मातेर् [*māter]

„ नामन्, लैटिन नोमेन् [nōmen] ∠ नोमेन् [nōmen]

अन्त स्थ ध्वनियोंको लेनेके पूर्व सुविधाकी दृष्टिसे हम सोष्म ध्वनियोंको पहले ले लेते हैं। ये ध्वनियाँ तीन हैं —श, ष, स। श का अध्ययन हम कर चुके हैं, अत यहाँ ष तथा स को ही लेंगे। इनके साथ 'ह्'से उस रूप-को भी लेंगे, जो अघोष 'ह्' है।

ष :—संस्कृत 'ष' प्रा० भा० यू० स अथवा भारतईरानी श का ही विकसित रूप है। जहाँ ये ध्वनियाँ ऋ, र तथा टवर्ग के योगमें साथ ही इ, उ, ए, ओ तथा कण्ठ्य ध्वनिकी परवर्ती होती हैं, ष हो जाती है। वैसे ष के विकासमें हम बता चुके है कि ष वस्तुत स [अघोष ऊष्म ध्वनि] का ही प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] रूप है, जो अ, आ से भिन्न स्वरसे परवर्ती होनेपर ष हो जाता है।

स :—संस्कृत स प्रा० भा० यू० *सका अपरिवर्तित रूप है, यथा—

संस्कृत अस्ति, ग्रीक एस्ति [esti], लैटिन एस्त [est] ∠ *एस्ति [esti]

ह् :—यहाँ हम ह् से अघोष रूपको लेंगे। अघोष ह् का उच्चारण संस्कृतमें सदा पदान्तमें पाया जाता है। इसे संस्कृतमें विसर्ग कहते है। रामः, हरिः में यही अघोष ह् है। संस्कृतम विसर्गके उच्चारणकी एक विशेषता है कि वह पूर्ववर्ती स्वर ध्वनिसे युक्त होकर उच्चरित होता है। रामः, हरिः का वास्तविक उच्चारण [रामह, हरिहि] होता है। यह अघोष ह् प्रा० भा० यू० पदान्त *स् या *र से विकसित हुआ है।

संस्कृत अन्त:स्थोंका विकास :— प्रा० भा० यू० भाषाकालसे ही इस परिवारकी भाषाओंमें अन्तःस्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य करते देखे जाते हैं। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में य, व, र, ल के अतिरिक्त न, म भी अन्तःस्थ थे। अन्तःस्थाने भारतयूरोपीय भाषाओं की उस विशेषतामें प्रमुख कार्य किया है, जो अपश्रुति कहलाती है। वैसे वैज्ञानिक दृष्टिसे अन्तःस्थोंका विचार हम स्वरध्वनियोंके साथ ही करना चाहिए था, किन्तु सुविधाकी दृष्टिसे हमने ऐसा नहीं किया है। हम देखते हैं कि संस्कृत य, व, र, ल प्रा० भा० यू० *य, *व, *र, *ल से विकसित हुए हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक प्रा० भा० यू० *र तथा प्रत्येक प्रा० भा० यू० *ल संस्कृतमें क्रमशः र तथा ल के रूपमें विकसित हुए हैं, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा। प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके विकासकी भाँति वैदिक संस्कृतकी दूसरी विशेषता प्रा० भा० यू० *र, *ल का विकास है। ऋग्वेदमें र, ल ध्वनियोंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि ऋग्वेद कालमें ही कई विभाषाओंमें इनका विकास परस्पर एक दूसरेके लिए पाया जाता है। प्रत्येक प्रा० भा० यू० *ल अवेस्तामें र हो गया है, और ऋग्वेदमें भी यह प्रायः र ही पाया जाता है, वहाँ ल बहुत कम पाया जाता है। यह मानना गलत न होगा कि भारत-ईरानी शाखामें आकर प्रा० भा० यू० *ल, र हो गया है। जहाँ ग्रीक आदिमें ल पाया जाता है, वहाँ यदि इस शाखामें र है, तो वह इसी वैभाषिक विशेषताके कारण। उदाहरणके लिए संस्कृत √रक्ष,ग्रीक अलेक्सो [alekso], सं० रिच्, लैटिन लिक्वो [linquo] सं० गर्भ, ग्रीक देल्फोस् [delphos] को ले सकते हैं। किन्तु भारत ईरानी शाखामें ऐसी भी विभाषा रही होगी, जिसमें प्रा० भा० यू० *ल अपरिवर्तित रहा होगा, यथा सं० लोक, लै० लुकुस [lucus], सं० श्लोक, ग्रीक क्लुओ [kluo]। वैसे संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जिनमें प्रा० भा० यू० *र, ल हो गया है,

यथा स० क्रोश लियुआ० क्रौक्ति [kroukti] स० लुम्प्, लैटिन रुम्पो [rumpo]। इन कारणोंसे यह स्पष्ट है कि संस्कृतका र, ल का विकास खिचड़ी-सा रहा है। ये ध्वनियाँ केवल मूल शब्दों [धातु तथा प्रातिपदिकों] में ही परिवर्तित न होकर प्रत्ययों तकमें परिवर्तित हो जाती हैं, यथा, स० शुक्-ल, [शुक्ल] शुक्-र [शुक्र], स० भद्र ∠ *भद्-ल; भद्-र [भद्र]। इसीलिए प्रत्याहार सूत्रोंमें पाणिनिने बताया है कि उनके व्याकरणमें र से र का ही नहीं ल का भी ग्रहण होता है। बादके संस्कृत विद्वानोंने भी 'र, ल' में अभेद माना है, यमक तथा श्लेष अलंकारमें इनका अभेद वाला प्रयोग बहुत पाया जाता है [रलयोरभेद]। संस्कृत य, व प्रा० भा० यू० *य, *व से विकसित हुए हैं, यथा,

स० युगम्, ग्रीक ज़ुगोन् [zugon] लै० जुगुम् [zugum],
गोथिक जुक् [zuk], प्रा० अंग्रेजी ग्योक [zyok],
आ० अंग्रेजी योक [yoke], जर्मन ज़्सोख़[zoch],
रूसी इगो [igo] ∠ *युगम् [jugom]

स० अश्व, ग्रीक हेप्पोस् [heppos], लिथु० अश्व [asʼva]
∠ *एक्वोस् [ekʷos]

सं० अवि ग्रीक ओइस् [ois], लैटिन ओविस् [ovis],
प्रा० आयरिश ओइ, [oi], गोथिक अवि-स्त्र [avi-str]

प्रा० अं० [eowe, eown] [अं० ewe] लिथु० अविस् [avis].
प्रा० स्लावोनिक, ओव्यत्सा [ovy-t-a], रूसी ओव्त्सा
[ovtsa]　∠ *ओवि [owi]

जैसा कि हम बता चुके हैं इन्हीं चार अन्तःस्थ ध्वनियोंके स्वरूप इ, उ, ऋ, ऌ हैं। संस्कृतके सन्धि तथा सम्प्रसारणके नियमोंसे यह स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे इनमें विशेष भेद नहीं है—दधि + अत्र [दध्यत्र],

मधु + अरि [मध्वरिः], इयेष, उवाच आदि उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है। इन छ अन्तःस्थों [यदि न्, म्, को भी सम्मिलित कर लिया जाय तो, जो प्रा० भा० यू० में अन्तःस्थ थे, किन्तु संस्कृतमें नहीं] में से य, व का विकास संस्कृतमें अत्यधिक महत्वपूर्ण है। य तो कभी-कभी दो स्वरोंमें सन्धि न होने देनेके लिए भी प्रयुक्त होता है, यथा रमया, धिया में। यहाँ रमा तथा धी प्रातिपदिक हैं, जिनमें तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्ति आ [टा] जोड़ी गई है। ध्यान देनेपर पता चलेगा कि रमा + आ, धी + आ से क्रमशः *रमा, *ध्या रूप बननेकी सम्भावना है, साथ ही एक गड़बड़ी यह भी होती है कि प्रातिपदिकका अक्षर भार तथा विभक्ति रूपका अक्षर-भार [syllabic weight] एक-सा बना रहता है। अतः एक ओर इस सन्धिको रोकनेके लिए दूसरी ओर द्वयक्षर प्रातिपदिक [रमा] को त्र्यक्षर विभक्तिरूप तथा एकाक्षर प्रातिपादिक [धी] को द्वयक्षर विभक्ति रूप बनानेके लिए 'य' का प्रयोग किया गया है। पर यह ध्यान देना होगा संस्कृतमें यह 'य' श्रुति [glide] न होकर शुद्ध ध्वन्यात्मक तत्व [phonological element] है।

इसी सम्बन्धमें दो शब्द संस्कृतमें पाई जानेवाली अपश्रुतिके विषयमें कह दिये जायँ। 'अपश्रुति' से हमारा तात्पर्य स्वर ध्वनियों तथा स्वर ध्वनियुग्मोंके उस परिवर्तनसे है, जो मूल भारोपीय भाषामें होता था। ये स्वर सम्बन्धी परिवर्तन, मुख्यरूपेण शब्दके उदात्तादि स्वरकी प्रकृति तथा स्थानसे सम्बद्ध थे, तथा गुण सम्बन्धी एवं मात्रा सम्बन्धी हो सकते थे। संस्कृत भाषाके छात्रके लिए इनमेंसे मात्रिक अपश्रुति विशेष महत्त्वधारिणी है, किन्तु यहाँ गौणी अपश्रुतिपर भी कुछ कह देना आवश्यक होगा। गौणी अपश्रुतिमें प्रा० भा० यू० अ, ऎ, ऒ के ह्रस्व तथा दीर्घ रूप परस्पर परिवर्तित होते थे। अर्थात् इस प्रकारकी अपश्रुतिमें एक स्वर-ध्वनि सर्वथा भिन्न ध्वनि बन जाती थी। प्रा० भा० यू० में तथा ग्रीक आदि भाषाओंमें जहाँ प्रा० भा० यू० स्वर शुद्ध रूपमें वर्तमान है, ऎ व ऒ के ह्रस्व तथा

दीर्घरूपो एव अ तथा ओ में ह्रस्व तथा दीर्घरूपोंमें परस्पर परिवर्तन पाया जाता है, यथा ग्रीक फेरो [phero] फोरोस् [phoros], लैटिन तेगो [tegO], तोग [toga]। इस सम्बन्धमें यह भी ध्यान दे लेना आवश्यक होगा कि यह गौणी अपश्रुति अ तथा ए एव उनके दीर्घ रूपोंके परिवर्तनके सम्बन्धमें नहीं पाई जाती। जैसा कि हम देख चुके हैं, संस्कृतमें ये तीनों प्रकारके स्वर अ तथा उनके दीर्घरूप आ के रूपमें विकसित हुए हैं, अत यहाँ गौणी अपश्रुतिका कोई अवकाश ही नहीं रहा है। संस्कृतकी दृष्टिसे मात्रिक अपश्रुतिका ही महत्त्व है, जिसका विवेचन हम द्वितीय परिच्छेदमें कर चुके हैं।

जैसा कि स्पष्ट है, प्रा० भा० यू० मूल स्वर ए तथा ओ ही थे। यही नहीं, यहाँ तक कहा जा सकता है कि वास्तविक मूल स्वर केवल ए था, जो प्रा० भा० यू० मे स्वर सम्बन्धिनी [accentual] विशेषताके कारण ओ भी हो जाता था। तीसरा मूल स्वर अ था, जिसे यद्यपि ए, ओ स तात्त्विक दृष्टिसे सम्बद्ध नहीं मान सकते, किन्तु यह स्वर प्रा० भा० यू० मे बहुत कम पाया जाता था। ए तथा ओ आदिम मूल स्वर रहे होंगे यह एक शारीरवैज्ञानिक तथ्य है, क्योंकि ये स्वर कमसे कम शक्तिके द्वारा उच्चरित हो सकते हैं। इनके उच्चारणमें प्राय उच्चारणके स्थान तथा करण उदासीनसे रहते हैं तथा उनमें कोई विशेष शक्तिस्पर्श [articulation] नहीं पाया जाता। अ के उच्चारणमें स्थान तथा करणमें कतिपय सङ्कुचित्त्व या शक्ति अवश्य पाई जाती है, तथा इ, उ के उच्चारणमें अत्यधिक शक्तिका व्यय होता है। यही कारण है कि उच्चारण-सौकर्यके दृष्टि इ, उ मूलस्वर ए, ओ बन जाते थे। ये मूल स्वर जब अन्य ध्वनियोंसे युक्त होते थे, तो मूल ध्वनियुग्मोंका रूप धारण कर लेते थे यथा *एइ, *एउ, *एर्, *एल्, *एन्, *एम्, [इसी प्रकार *ओइ आदि ध्वनियुग्म भी रहे होंगे]। इ, उ जैसी ध्वनियाँ भी इन्हीं ध्वनियुग्मोंका विकसित रूप है।

प्रा० भा० यू० में *इय् *उव् जैसे ध्वनियुग्म सर्वथा नहीं थे, यह बात ध्यानमें रखनेकी है।

चूँकि यह परिच्छेद केवल ध्वनियोंके ऐतिहासिक विकासपर ही न होकर उनके उच्चारणसे भी सम्बद्ध है, कुछ शब्द वैदिक संस्कृतकी उच्चारण सम्बन्धिनी विशेषताओंपर कह दिये जायँ। जहाँ तक अन्य ध्वनियोंका प्रश्न है, प्रातिशाख्य तथा शिक्षाग्रन्थोंमें इनका उच्चारण ठीक वही संकेतित किया गया है, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। किन्तु य, ष, व तथा अनुस्वारके उच्चारणमें वैदिक कालमें कुछ भेद था। इन विशेषताओं-का संकेत यद्यपि प्रातिशाख्योंमें नहीं मिलता, तथापि शिक्षाओंमें तथा आज भी उच्चरित किये गये वेद मन्त्रोंमें ये विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती है। वैदिक कालमें ये विशेषताएँ वैभाषिक रही होंगी। अधिकतर ये विशेष-ताएँ यजुर्वेदके उच्चारणमें पाई जाती है, तथा इस प्रवृत्तिका प्रभाव ऋग्वेदके उच्चारणपर भी पड़ा है।[1] लौकिक संस्कृतमें आकर ये विशेषताएँ लुप्त हो गईं, किन्तु इनमेंसे कुछ विशेषताओंको प्राकृत तथा देशी विभाषाओंने ग्रहण कर लिया। शिक्षा ग्रन्थोंके मतानुसार असंयुक्त 'यकार' का उच्चारण पदादिमें रहनेपर 'ज' होता था। पदमध्यमें भी 'य, ऋ, र, ण, ह से युक्त होनेपर वह ज उच्चरित होता था —

> पदादौ विद्यमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च।
> आदेशो हि जकारः स्यात् युक्तः सन् हरणेन तु॥
> रेफेनाथ हकारेण युक्तस्य सर्वथा भवेत्।
> ऋकारर्कारयुक्तस्य जकारः सर्वथा भवेत्॥
>
> [माध्यन्दिनीशिक्षा २.३.-५]

---

१. देखिए, मेरा निबन्ध "यजुर्वेदके मन्त्रोंका उच्चारण" [शोध-पत्रिका २००६]

यजुर्वेदके उच्चारणमें [ऋग्वेदमें भी] यद्भूतं यच्च भाव्यम् का उच्चारण "ज्द्भूतं यच्च भाविय्यम्" होता है। इसी प्रकार सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च का उच्चारण सूर्ज्ज आत्मा जगतस्तस्थुखश्च होता है। इसी प्रकार पदादि 'व' का उच्चारण भी यहाँ एक विशेषता रखता है। माध्यन्दिनी शिक्षाकारके मतानुसार इसका उच्चारण 'गुरु' होता है।

गुरुर्वकारो विज्ञेयः पदादौ पठितो भवेत् ॥ [वही २–६] माध्यन्दिनी शिक्षाकारका तात्पर्य 'गुरु' शब्दसे यहां व के दन्त्योष्ठ्य रूप [व्व, β] से है। संस्कृत वैयाकरणोंने व को दन्त्योष्ठ्य माना है—[वकारस्य दन्तोष्ठ्यम्]। व का दो तरहका उच्चारण यजुर्वेदमें पाया जाता है, पदादिमें व्व [β], पदमध्यमें व [w][1] शुक्ल यजुर्वेदी आज भी पदादि व का उच्चारण दन्त्योष्ठ्य [dento-labial] करते हैं, यथा ततो विराड्जायत विराजो अधिपूरुषः का याजुष उच्चारण ततो ब्विराडजायत ब्विराजो अधिपूरुसः होता है। किन्तु पदमध्यमें य, व का उच्चारण ज, व नहीं होता, यथा तस्माज्जाता प्रजावय. के उच्चारणमें, जो इसी तरह उच्चरित होता है।

'ष' का उच्चारण 'ट' वर्गीय ध्वनिसे अयुक्त होनेपर ख होता है। माध्यन्दिनीशिक्षा तथा केशवीशिक्षामें इस विशेषताका उल्लेख मिलता है।

षकारस्य खकारः स्याट्टुकयोगे तु मो भवेत् ॥

[माध्य० शि० २–१]

षः खष्टुभूते च ॥ [केशवीशिक्षा ३]

उदाहरणके लिए सहस्रशीर्षा पुरुष का उच्चारण सहस्रशीर्खा पुरुख किया जाता है। किन्तु "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" में टुकयोग है इसलिए यहाँ ष का उच्चारण ख नहीं होता। यजुर्वेदकी चौथी उच्चारण विशेषता, जिसे ऋग्वेदने भी अपना लिया है, अनुस्वारके उस उच्चारणसे सम्बद्ध है, जब उसकी परवर्ती ध्वनि ऊष्म [श, ष, स] या प्राणध्वनि [ह] हो। ऐसी

---

1. देखिए, यही निबन्ध।

स्थितिमें अनुस्वारका उच्चारण 'गुम्' होता है। यथा अंशुना का उच्चारण अंगुशुना होता है, तथा पुरुष एवेद सर्वं का उच्चारण पुरुष एवेद्‌गु सर्वं होता है। ये विशेषताएँ वैदिक कालकी ही कुछ विभाषागत विशेषताएँ रही होंगी। इनमें पदादि य का ज होना, तथा ष का ख होना तो प्राकृतमें भी पाया जाता है। कई संस्कृतके पण्डित आज भी लौकिक संस्कृतके पदादि य का ज तथा ष का ख उच्चारण करते देखे जाते हैं। पदादि संस्कृत य का उच्चारण कई मैथिल तथा बंगाली पण्डित ज करते हैं।

संस्कृत ध्वनियोंकी सन्ध्यात्मक विशेषता [Prosodic features]—

ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे स्वर तथा व्यञ्जन ध्वनियोंकी उस विशेषताका भी बड़ा महत्त्व है, जिसे हम पारिभाषिक पदका प्रयोग करते हुए "सन्ध्यात्मकता" [prosody] कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत हम उस विशेषताको लेते हैं, जो व्याकरण ग्रन्थोंमें अच्सन्धि, हल्सन्धि तथा विसर्गसन्धिके नामसे प्रसिद्ध है। किस प्रकार स्वर ध्वनियाँ तथा व्यञ्जन ध्वनियाँ परस्पर मिलकर पद, वाक्यांश तथा वाक्यमें एक नये रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं, इसका विस्तारसे विवेचन संस्कृत व्याकरणके सन्धि प्रकरणके अन्तर्गत देखा जा सकता है। यहाँपर हम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयोंपर संकेत मात्र करेंगे, क्योंकि, प्रस्तुत ग्रन्थ व्याकरणको दृष्टिमें रखकर नहीं लिखा गया है।

[१] पाणिनिका 'इको यणचि' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि इ, उ, ऋ, लृ तथा य्, व्, र्, ल् में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, तथा परवर्ती ध्वनिके स्वर होनेपर इनका स्वरूप पुनः व्यञ्जनत्वको प्राप्त कर लेता है, दध्यानय, मध्वरि, धात्रंश, लाकृति।

[२] पाणिनिका 'एचोऽयवायावः' सूत्र इस बातकी पुष्टि करता है कि ए, ओ, ऐ, औ क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव् ये ध्वनियुग्म ही हैं। तभी सन्धिमें ये पुनः वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेते हैं हरये, विष्णवे, नायक, पावक।

[३] भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे अ तथा आ, इ तथा ई, उ तथा ऊ में कोई ध्वन्यात्मक भेद नहीं। इसी बातका संकेत 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र करता है। इनमें जो भेद है, वह ध्वन्यात्मक [phonemmatic] न होकर सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा मात्रात्मक [qualitative] है।

[४] संस्कृत 'श' का 'छ' से घनिष्ठ संबंध है, यह संकेत पाणिनिके सूत्र 'शश्छोऽटि' से मिलता है।

[५] स्वर ध्वनिकी पूर्ववर्ती अघोष स्पर्श ध्वनि भी संधिमें सघोष हो जाती है। ध्यान रखिए सघोष ध्वनिके सम्पर्कमें आकर अघोष भी सघोष हो जाती है। इसी तरह अघोष स्पर्श ध्वनिसे परे सघोष स्पर्श ध्वनि होनेपर भी अघोष सवर्गीय सघोष ध्वनि बन जाती है। दिक् + इन्द्रः [दिगिन्द्र], दिक् + राज [दिग्राजः], दिग्दिग्भिरमः।

[६] इसी तरह अघोष या सघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनिसे परे अनुनासिक स्पर्श ध्वनि होनेपर वह ध्वनि सवर्ग अनुनासिक हो जाती है। दिक् + नागः [दिङ्नागः], षट् + नगर्यः [षण्णगर्यः]।

[७] रेफ, ष या मूर्धन्य ध्वनियोंके सम्पर्कमें आकर दन्त्य ध्वनियाँ भी प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] हो जाती हैं।

[८] हम देख चुके हैं, संस्कृत ह का विकास मूलतः *घ तथा *ध से हुआ है। अत संधिमें इसका यह मूल रूप पुनः आ जाता है। यदि ह से पूर्व कण्ठ्य ध्वनि होती है तो यह घ हो जाता है, यदि ह से पूर्व दन्त्य ध्वनि होती है तो यह ध हो जाता है। वाक् + हरिः [वाग्घरिः], तत् + हरिः [तद्धरिः]; साथ ही यदि पूर्ववर्ती ध्वनि अघोष है, तो [illegible] के सघोषत्वके कारण वह भी सघोष हो जाती है।

[९] अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंके "आन्" वाले पदोंके बाद चवर्ग या तवर्ग ध्वनियोंके आनेपर क्रमशः 'श्' या 'स्' का आगम हो जाता है, तथा अनुनासिक स्पर्श ध्वनि 'न्' पूर्ववर्ती स्वरको सानुनासिक बनाकर स्वयं लुप्त हो जाती है। तान् + तान् = तांस्तान्,

अहोन् + च [सर्वान्] = अहो श्च [सर्वान्]। इससे इस कल्पनाकी पुष्टि होती है कि प्रा० भा० यू० द्वितीया विभक्ति चिह्न *ओन्स् [ons] था।

[१०] यद्यपि विसर्गका उच्चारण अघोष 'ह्' होता है, तथापि इसका सम्बन्ध 'ह्' से न होकर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे स् से है। यह स् रेफ [र्] से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। सम्भवत. इसीलिए पाणिनिने विसर्गको 'रु' संज्ञा दी है। यह विसर्ग परवर्ती स्पर्श ध्वनिके अनुसार उसका सस्थानीय रूप धारण कर लेता है। कण्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व यह जिह्वामूलीय हो जाता है, ओष्ठ्य ध्वनियोंके पूर्व उपध्मानीय हो जाता है [जिन्हें हम क्रमश वज्राकार विसर्ग [×] और गजकुम्भाकृति विसर्ग [ ] भी कहते है], दन्त्य ध्वनियोंके पूर्व यह विसर्ग स् रूपमें, तालव्य ध्वनियोंके पूर्व श् रूपमें, तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंके पूर्व ष् रूपमें पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम तत × किम्, पुनः पुन., ततस्ते, ततश्चकं, धनुष्टंकारः को ले सकते है।

[११] अ, आ, ई, ऊ से भिन्न स्वर ध्वनिसे परे होनेपर तथा बादमें किसी स्वर, सघोष स्पर्श या 'ह' के होनेपर विसर्ग 'र्' हो जाता है। यह विशेषता "हरिर्गच्छ." इस उदाहरणमें देखी जा सकती है। भा० यू० परिवारकी अन्य भाषाओंमें 'स्' के र् के रूपमें परिवर्तित होनेकी स्थिति लैतिनमें देखी जाती है। लैतिनमें स्वरमध्यगत [intervocalic] स्, र् हो जाता है। उदाहरणके लिए लैतिन फ्लोस् [flos] शब्दका षष्ठी बहुवचन रूप फ्लोरिस [floris) *flosis] बनता है। यह ध्वनिशास्त्रीय तथ्य इस बातका सकेत करता है कि 'स्' तथा 'र्' का परस्पर कोई सम्बन्ध माना जा सकता है। ग्रीककी भी कई विभाषाओंमें यह स् ध्वनि स्वरमध्यगत होनेपर र् हो गई थी।[१] वस्तुत स्वरमध्यगत स् पहले सघोष ज़ बना होगा, तदनन्तर यह र् बना होगा। इसका विकास या रहा होगा।

---

१. Atkinson : Greek Language p. 45.
also see Buck . Comparative Greek and Latin Grammar pp. 132–32.

$$V\,S\,V \longrightarrow V\,Z\,V \longrightarrow V\,R\,V.$$

[यहाँ V स्वरका, S अघोष दन्त्य ऊष्मध्वनिका, Z सघोष दन्त्य ऊष्म ध्वनिका, R रेफका चिह्न है।] अघोष दन्त्य ऊष्म ध्वनि स्वर या अन्य सघोष ध्वनिके प्रभावके कारण सघोष बन जाती है, तथा रेफ उसी सघोषत्वका प्रतीक है। इस तरह ऊपर दिये गये उदाहरणकी संध्यात्मक सरणि यों मान सकते हैं।

हरिस् यथैकः [हरिः यथैकः] ⟶ हरिज् यथैक. ⟶ हरिर् यथैकः [हरिर्यथैकः] इस प्रकार हमें यहाँ *हरिज् जैसे रूपकी कल्पना करनी पड़ती है।

इसीके दूसरे उदाहरण हम ये दे सकते हैं :—गौः + गच्छति–गौर्गच्छति, तैः + भूतम् = तैर्भूतम्, मुनेः + मनः = मुनेर्मनः, शम्भुः + हरति = शम्भुर्हरति, गौः + आगच्छति = गौरागच्छति आदि।

[१२] विसर्गका एक तीसरे प्रकारका विकास और पाया जाता है। विसर्गके पूर्व दीर्घ स्वर ध्वनि आ, ई, ऊ के होनेपर तथा परे सघोष ध्वनि होनेपर उसका लोप हो जाता है। विसर्गके पूर्व ह्रस्व स्वर ध्वनि तथा परे रेफ होनेपर ह्रस्व स्वर ध्वनि दीर्घ बन जाती है तथा विसर्गका लोप हो जाता है। [ढ्रलोपे पूर्वस्य च दीर्घोऽणः], यथा हरी रम्यः [हरिः + रम्यः], शम्भू राजते [शम्भुः + राजते]। इसका ध्वनिशास्त्रीय कारण यह बताया जा सकता है कि यहाँ भी 'विसर्ग' [स्] पहले ज़् [z] बनकर फिर लुप्त हुआ, संस्कृतमें ज़् [z] जैसी ध्वनिका अभाव है अतः विसर्ग [स्] के सघोष रूपका लोप हो जाता है। पर जहाँ इस लोपसे अक्षर-भार [syllabic weight] में गड़बड़ होती है, वहाँ पहले ह्रस्व स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी कमी पूरी की जाती है। यदि विसर्गके पूर्वका अक्षर स्वतः दीर्घ है तो अक्षर-भारकी गड़बड़ीका प्रश्न ही नहीं उठता, वहाँ लोप होनेसे कोई कमी नहीं होती, अतः न नवीन ध्वनिके संनिवेशका ही प्रश्न उठता है, न उन स्वरध्वनियोंके दीर्घीकरणका ही। इसे हम यों स्पष्ट कर सकते हैं।

[१]—$\bar{V}$S + C[B]— = —$\bar{V}$C [B][1]—[इमा गताः, एता गच्छन्ति]

[२]—$\bar{V}$S + V = —$\bar{V}$ V—[इमा आगताः; इमा अत्र]

[३]—$\bar{V}$S + R [H]— = —$\bar{V}$ R [H]—[इमा राजन्ते, इमा हरन्ति]

[१३] विसर्ग सन्धिका एक तीसरा प्रकार वह होता है जहाँ विसर्ग [स्] से पूर्व तथा परे दोनो ओर अ ध्वनि हो। ऐसे स्थलोंपर दोनों स्वर तथा मध्यगत विसर्ग ओ का रूप धारण कर लेते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह माना जा सकता है कि यहाँ भी स् [:] पहले सघोष 'ज़' [z] होता है। फिर उसका लोप कर उसकी पूर्ति व्'[w] पूरकके द्वारा की जाती है। हम इसे यों बता सकते हैं :—रामः + अयम् = *राम [ज़्] + अयम् = राम [w] ऽयम् [राम [उ] ऽयम्] = रामोऽयम्। भाव यह है 'व्' श्रुतिका स्वरगत पूरक रूप [closure] अक्षर-भार [syllabic weight] को कायम रखनेमें सहायता करता है। साथ ही यह 'व्' *रामायम्' जैसे रूपको बननेसे भी रोकता है, जो अ + अ वाली सन्धिमें पाया जाता है।

[१४] सन्धि प्रकरणमें संस्कृतमें ऐसे भी शब्द मिलते हैं, जो सन्धिगत रूप धारण नहीं करते। इन्हीको प्रगृह्य पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। अजन्त शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें तथा क्रियाके द्वि० व० रूपोंमें ई, ऊ, ए, वाले रूप प्रगृह्य हैं। इसी तरह अमी, इ, अहो, आ भी प्रगृह्य हैं। इनके उदाहरण ये हैं :—इ इन्द्र, कवी इह, आ एवम्; साधू आगच्छतः, अमी अश्वाः, विद्ये इष्टे, याचेते अर्थम्, अहो अपेहि। प्रगृह्य रूप जैसेके-तैसे बने रहते हैं उनमें संहिता स्थितिमें कोई विकार नहीं होता।

---

१. $\bar{V}$ = दीर्घ स्वर [आ, ई, ऊ]; S = विसर्ग, स्; C [B] = सघोष व्यंजन V = स्वर; R = रेफ; H = प्राणध्वनि, ह।

विसर्ग सन्धिके प्रकरणमें कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके विसर्गका व्यंजनके परे रहनेपर सदा लोप पाया जाता है, जैसे भोः, एष, सः के सन्धिगत रूपोंमें—भो नैषध, स ददर्श, एष गच्छति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धिमें ध्वनिशास्त्र बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है, किस प्रकार एक ध्वनि दूसरे प्रकारकी ध्वनिके साथ आकर अपना रूप बदल देती है। एक साथ दो विभिन्न प्रकृतिकी ध्वनियोंके उच्चारणमें वक्ताको असुविधा होती है। वह उनका उच्चारण विभिन्न रूपमें तभी कर सकता है, जब कि दोनों ध्वनियोंका उच्चारण एक साथ न कर क्षण-भरके लिए बीचमें ठहर जाय। यदि वह एक साथ अविच्छिन्न प्रवाहमें इनका उच्चारण करेगा, तो ये ध्वनियाँ परस्पर प्रभावित अवश्य होंगी। इस सम्बन्धमें हम देखते हैं कि एक साथ अघोष तथा सघोष ध्वनिका उच्चारण करनेमें वक्ताको असुविधा होती है। यह एक ध्वनिशास्त्रीय तथ्य है कि प्रथम ध्वनिके अघोष होनेपर तथा द्वितीय ध्वनिके सघोष होनेपर वह भी उसी वर्गकी सघोष ध्वनि हो जायगी। यथा दिक् + गज [दिग्गज], वाक् + दण्ड [वाग्दण्ड] में हम देखते हैं कि एक साथ उच्चारणके कारण प्रथम पदके अन्तकी अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि परवर्ती सघोष ध्वनिके कारण सघोष हो जाती है। इसी प्रकार परवर्ती ध्वनिके अनुनासिक होनेपर पूर्ववर्ती अघोष अल्पप्राण स्पर्श ध्वनि सवर्गीय अनुनासिक हो जाती है, यह भी हम देख चुके हैं। इन्हें हम सघोषीकरण [prosody of voicing] तथा अनुनासिकीकरण [prosody of nasalization] कहेंगे। यदि इन शब्दोंका उच्चारण संहिता [sentence] के रूपमें न किया जाय और पद स्वतन्त्र उच्चरित किये जायें तो ये 'सन्ध्यात्मकताएँ' नहीं रहेंगी। हम तीन उदाहरण ले लें, दिक् + गज [दिग्गज], तत् + मतम् [तन्मतम्], तत् + डमरु [तड्डमरु]। इनका संहितागत उच्चारण कोष्ठकवाला होगा। पृथक् रूपमें उच्चरित किये जानेपर, हमारा उच्चारण कोष्ठकवाला ही होगा, चाहे हम उसे बचानेका कितना ही प्रयास क्यों न करें। किन्तु यदि प्रत्येकका स्वतन्त्र

उच्चारण करेंगे तो सन्धिका प्रश्न ही उपस्थित नही होता, तथा दिक् कह-कर कुछ देर बाद गज कहा जाय, तो 'क्' के उच्चारणमें कोई विकृति नहीं आयेगी।

संस्कृतमें जहाँ विसर्ग सन्धिमें विसर्गका लोप हो जाता है, वहाँ विसर्गके स्थानपर एक क्षणिक विराम सा पाया जाता है। सन्धिमें इस क्षणिक विरामका भी बडा महत्त्व है। जहाँ उपमावर्ती स्वर ध्वनिके बादका विसर्ग लुप्त हो गया है, तथा अपर पदके आदिमें स्वर ध्वनि है तो पुनः सन्धि न होने देनेके लिए उच्चारण कर्ता बीचमें कुछ रुककर उच्चारण करता है। यहाँ वह त्वरितगतिका आश्रय इसलिए नहीं लेता कि एक श्वासमें उच्चारण करनेपर स्वरध्वनियोंमें फिरसे दूसरी सन्धि होनेकी संभावना है। यह क्षणिक विराम संस्कृतमें कोई ध्वन्यात्मक तत्त्व [phonematic element] न होकर केवल सन्ध्यात्मक तत्त्व [prosodic element] है। संभवत यह एक कण्ठनालिक स्पर्श [glottal stop] है, जैसा कि अरबी भाषामें 'हमज़ा' का उच्चारण होता है। इस उच्चारण सम्बन्धी विशेषता-को हम उदाहरणसे स्पष्ट कर दें।

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गल ॥ [रुद्रसूक्त] का उच्चारण "असौ यस्ताम्रो ? अरुण ? उत बभ्रुः सुमङ्गल होता है। यहाँ हम देखते है कि ताम्रो + अरुण, अरुण + उत मे सन्धि न होने देनेके लिए बीचमें क्षणिक विराम पाया जाता है, जिसके लिए हमने ऊपरके उच्चारणमें ? चिह्नका प्रयोग किया है। वैदिक संस्कृतमें ए तथा ओ से परे अ के होनेपर अ का लोप नहीं होता। लौकिक संस्कृतमें यह लुप्त हो जाता है, तथा वैदिक ताम्रो अरुण लौकिक संस्कृतमें ताम्रोऽरुण हो जायगा। द्रुतगतिसे उच्चारण करनेपर अरुण उतका उच्चारण "अरुणोत हो जायगा, इसे बचानेके लिए ही यह विराम पाया जाता है। विसर्गका लोप होनेपर या ए, ओ का लोप होनेपर भी यह क्षणिक विराम लौकिक संस्कृतके उच्चारणमें भी पाया जाता है। हम एक उदाहरण ले लें—

रम्या इति प्राप्तवती पताका राग विविक्ता इति वर्धयन्ती", यहाँ रम्या + इति तथा विविक्ता + इति में विसर्गका लोप हो गया है तथ उच्चारण करते समय पाठक 'रम्या' के बाद आधे क्षण भर ठहर कर 'इ' का उच्चारण करता है। यदि यह विराम न होगा तो वाक्योच्चारणका सन्ध्यात्मक रूप *रम्येति, *विविक्तेति हो जायगा। यह रूप एक ओर व्याकरणात्मक रूपको गडबडा देगा, क्योंकि यहाँ दोनो द्वितीया बहुवचनान्त रूप है, दूसरी ओर वर्णिक छन्द भी गडबडा जायगा, जहाँ चतुरक्षर-समुदाय त्र्यक्षर [trisyllable] तथा पञ्चाक्षर समुदाय चतुरक्षर हो जायगा। इसीको रोकनेके लिए इस 'कण्ठनालिक' विरामका प्रयोग होगा।

एक बार सधि होनेपर पुन सधि न होने देनेके लिए हम विरामके अतिरिक्त अन्य साधनका भी प्रयोग पाया जाता है। वह है बीचमें य् या व् श्रुतिके पूरकका प्रयोग[1]। इस स्थानपर ये शुद्ध ध्वनि तत्व न होकर सन्ध्यात्मक तत्त्व ही होते है। सस्कृतके सधिप्रकरणमें हम देखते हैं कि जहाँ अच्सधिमें एक बार पूर्ववर्ती पदके अन्तकी ए, ओ ध्वनिका लोप हो जाता है, वहाँ महितागत रूप दो तरहके पाये जाते हैं, एक विराम युक्त रूप, दूसरा श्रुतिगत रूप। यथा,

हरे + इह = हर + इह < हर इह [१] / (य्) हर इह = हरयिह [२]

विष्णो + इह = विष्ण + इह < विष्ण इह [१] / (व्) विष्ण इह = विष्णविह [२]

यहाँ हम स्पष्टत दो तरहके रूप देखते है। य्, व् श्रुतिहीन रूपका उच्चारण हर ? इह, विष्ण ? इह करना होगा। द्रुत उच्चारणमें य, व श्रुति का प्रयोग इसलिए होता है कि यहाँ *हरेह, *विष्णेह रूप न बन

१ देखिए,-मेरा लेख, अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका २००६]

जायें, तभी अग्र स्वरके संबंधमें य् तथा पश्च स्वरके संबंधमें व् का प्रयोग करनेपर हरयिह, विष्णविह रूप बनेंगे।

यहाँ इन य्, व् श्रुतियोंपर दो शब्द और कह दिये जायँ। वैसे तो यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि य्, व् का श्रुतिविभाजन परवर्ती ध्वनिके रंग [colour] पर आधृत है, यथा ओष्ठ्य, कण्ठ्य तथा प्रतिवेष्टित ध्वनियोंको गहरी [या गाढ-रंजित] [dark] तथा तालव्य और दन्त्य ध्वनियोंको हलकी [या ईषद्रंजित] [light] माना जाता है। व् श्रुतिको गाढरंजित [dark] ध्वनियोंसे संबद्ध माना जा सकता है, तथा य् श्रुतिको ईषद्रंजित [light] ध्वनियोंसे। किन्तु यह सिद्धान्त सब जगह ठीक नहीं बैठता। इससे पहले हम यह देख लें कि श्रुति-तत्त्व मोटे तौरपर कहाँ-कहाँ हो सकता है —[१] जहाँ ए, ओ का लोप हो गया है, यथा ऊपरवाला उदाहरण, [२] जहाँ 'स्' सघोष होकर 'ज़्' हो गया है, तदनन्तर 'ज़' संस्कृत ध्वन्यात्मक तत्त्व न होनेके कारण लुप्त हो गया है, पर सध्यात्मक भार [prosodic weight] की रक्षाके लिए किसी तत्त्वकी आवश्यकता होती है, जो इस लोपकी कमी पूरी कर सके। हम देखते हैं कि कई स्थलोंपर जहाँ भारत ईरानी वर्गकी विशेषताके कारण 'ज़्' [z] ध्वनि अवेस्तामें पाई जाती है, उसके समानान्तर रूपमें संस्कृतमें य्, व् श्रुतियोंमेंसे अन्यतरका प्रयोग पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि जहाँ कहीं स्वरके बाद विसर्ग या 'स्' होगा, वहाँ स्वरध्वनि या सघोष व्यञ्जनके परे होनेपर विसर्ग या स् सघोष रूप [ज़्, z] धारण कर लेता है। एकबार और हम उस सूत्रको याद कर लें।

$$-\alpha h + C\ [B] = -\alpha S + C\ [B] = -\alpha ZC\ [B]$$

अब जहाँ कहीं अवेस्तामें स्वरमध्यगत या सघोष ध्वनिमध्यगत स्, ज़् हो जाता है, संस्कृतमें वह लुप्त होकर $-\alpha^{(w)}C[B]$ या $-\alpha^{(y)}C[B]$ रूप बन जाता है। हम कुछ उदाहरण ले लें।

[१] एधि :—संस्कृतमें यह √अस् धातुका रूप है, इसे हम अस् + धि कहेंगे। अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप ज़्दि [zdi] पाया जाता

है जिसका विकास प्रा० अवेस्ता रूप *अज् + धि से मान सकते हैं। संस्कृतमें यह सरणि या होगी, अस् + धि = *अज् + धि = अ[O]+ धि = अ इ [य्] धि = एधि। इस तरह हम देखते हैं स् पहले ज् होता है, फिर उसका लोप हो जाता है, जहाँ हमने शून्य-व्यञ्जन [O] का संकेत किया है। तदनन्तर 'य्' श्रुतिका स्वर रूप 'इ' उच्चरित होता है और बादमें अ + इ में संधि होकर ए हो जाता है। भाषावैज्ञानिकके मतमें एधि का रूप इस तरह निष्पन्न माना जा सकता है।

[२] सेदुः :—संस्कृतमें यह √सद् धातुके लिट् के प्र० पु० बहुवचनका रूप है। यहाँ √सद् धातुके दुर्बलरूप या शून्य रूप [zero grade] में सद् [sd] होगा। इस तरह सेदुः रूपकी निष्पत्ति या होगी—

सद् [√सद्] + उ = स + स्द् + उ = *स + ज़् द् + उ = स + [O] द् + उ = स + य् द् + उ = सेदु = सेदुः हम देखते हैं √सद् के दुर्बल रूपमें उ का लिट् विभक्ति चिह्न लगाकर यह रूप निष्पन्न होता है। दूसरे रूपमें लिट्के कारण 'स' का द्वित्व होता है, जो प्र० पु० ए० व० ससाद म स्पष्ट है। तदनन्तर स्, ज़् बनकर लुप्त होता है, तथा उसकी कमी य् श्रुतिके द्वारा पूरी की जाती है।

[३] नेदिष्ठ :—इसी तरह नेदिष्ठ की व्युत्पत्ति भाषावैज्ञानिक दृष्टि √न — सद् + इष्ठ या मानी जा सकती है। यहाँ भी 'सद्' वाले अघोष सोष्म ध्वनि सघोष सोष्म बनकर लुप्त होती है, तथा श्रुतिके प्रयोगसे नेदिष्ठ रूप निष्पन्न होता है।

[४] यशोभि —यहाँ व् श्रुतिवाला उदाहरण देना भी आवश्यक है। यशस् शब्दसे भि सुप् विभक्ति चिह्न जोड़कर यशोभि रूप निष्पन्न होता है। इस रूपको हम यो स्पष्ट कर सकते हैं।

यशस् + भि = *यशज़् + भि = यश [O]+ भि =
यश व् + भि = यश उ भि = यशोभि।

जिस तरह ऊपरके उदाहरणोंमें य् श्रुति इ बनकर सन्धिगत रूपोंमें ए पाई जाती है, वैसे यहाँ व् श्रुति उ बनकर सन्धिगत रूपोंमें ओ पाई जाती है। सोऽहम् [सः + अहम्] वाली ओ ध्वनिकी भी ऐसी ही कहानी है, जो वस्तुतः सस् [सः] + अहम् = सव् + अहम् = स व् + अहम् = स उ अहम् = सोऽहम् है। इसमें भेद यही है कि यहाँ परवर्ती अ का लोप हो जाता है, जो लौकिक संस्कृतमें प्रायः 'अवग्रह' [ऽ] से सूचित किया जाता है।

वैसे ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि कोई-कोई भाषामें किसी विशेष श्रुतिके प्रति विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। लौकिक संस्कृतमें य् श्रुतिकी अपेक्षा व् श्रुतिका सन्ध्यात्मक रूप ओ अधिक देखा जाता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीने इसी परम्पराको अपनाया है, वैसे वहाँ य् श्रुतिका अभाव नहीं है, तथा अपभ्रंशमें तो य् श्रुतिका स्वरमध्यगत प्रयोग परिनिष्ठित [standardised] हो गया है। मागधीमें ए श्रुतिके प्रति अभिनिवेश है। संस्कृत विसर्गके स्थानपर जहाँ शौरसेनी-महाराष्ट्री व् [उ] श्रुतिके ओ वाले रूपको अपनाती है, मागधी य् [इ] श्रुतिके ए वाले रूपको। हम अकारान्त शब्दके प्र० बहुवचनके रूप ले लें। संस्कृत देवाः के समानान्तर रूप शौ० देवाओ तथा मागधी देवे हैं।

श्रुतियोंका यह विचार केवल विसर्गके सम्बन्धमें किया गया है, अतः यहाँ प्राकृत तथा अपभ्रंश वाली पदमध्यगत श्रुतिका विवेचन करना अनावश्यक समझा गया है। हिन्दीकी पदमध्यगत श्रुति सम्बन्धी विशेषतापर कुछ प्रकाश हमने अन्यत्र डाला है।[1]

संस्कृत भाषामें स्वर [accent] :—

किसी भी भाषाके पदोंको अक्षरों [syllable] में विभक्त किया जा सकता है। ये पद एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षर हो सकते हैं। अक्षर-संघटनाका यह विश्लेषण हम असमस्त [व्यस्त] पदोंके विषयमें करते हैं।

---

१. देखिए मेरा लेख : अन्तःस्थ ध्वनियाँ [शोधपत्रिका, २००६]

लौकिक संस्कृतके समासान्त पदोंमें तो कोरियों अक्षर पाये जाते हैं, जैसे कादम्बरीके समासान्त पदोंमें। पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे उनका महत्त्व नहीं, न वहाँ भाषाकी नैसर्गिकता ही है। अक्षरमें स्वर प्रमुख है, वह अक्षरका मेरुदण्ड है, अतः अक्षर, कोरा स्वर, स्वर तथा व्यञ्जन, व्यञ्जन [एक या दो] तथा स्वर, तथा व्यञ्जन [एक या दो] स्वर तथा व्यञ्जन [एक या दो] इस तरह कई तरहका हो सकता है। यदि हम स्वरके लिए V तथा व्यञ्जनके लिए C चिह्नका प्रयोग करें, तो अक्षरके प्रकारोंको हम यों बता सकते हैं —[१] V, [२] VC, [३] C [c] V, [४] C [c] VC [c]। इनके उदाहरण क्रमशः उ, ग्राम्, सा [स्था]; पात् [स्पश्, स्पन्द] दिये जा सकते हैं। यह स्वर ध्वनि कभी ह्रस्व हो सकती है, कभी दीर्घ।

अक्षर ही वह तत्त्व है जिसके उच्चारणमें दो तरहकी स्वर-प्रकृति[1] पाई जाती है —एकः स्वरका आरोह [rising tone], दूसरा स्वरका अवरोह [falling tone]। इन्हींकी मिश्रित स्थिति वह होती है जहाँ उच्चारणकर्ता उच्च स्वर-स्थितिसे एकदम नीचेकी ओर उतरता है, जहाँ आरोहसे एकदम अवरोहकी ओर आता है, इसे ही ध्वनिशास्त्री "rising-falling tone" कहते हैं। हमारे यहाँ ये ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं। जैसा कि प्रातिशाख्योंमें बताया गया है —

[१] उदात्त स्वरसम्पन्न अक्षरके उच्चारणमें गात्रोंकी शक्तिका आरोह [ऊर्ध्वगमन] होता है —

[उच्चैरुदात्तः १।१०६]; आयामेनोर्ध्वगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञो भवति][2]

---

१. यहाँ 'स्वर' शब्दका अर्थ स्वरध्वनि न होकर गलेकी आवाजके उतार या चढावसे है।

२. शुक्लयजुः प्रातिशाख्य [कात्यायन] १- १०६ तथा उसका उव्वट कृत भाष्य पृ० २३

[२] अनुदात्त स्वरवाले अक्षरके उच्चारणमे गात्रोकी शक्तिका मार्दव [अधोगमन] पाया जाता है।

[नीचैरनुदात्तः १।१०६]; नीचैर्मार्दवेणाधोगमनेन गात्राणां यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति][1].

[३] जहाँ एक बार उदात्त स्वरके कारण गात्रोका आयाम [आरोह] हो, तदनन्तर अनुदात्तस्वरके कारण गात्रोका मार्दव [अवरोह] हो, वहाँ दोनो तरहके प्रयत्नोसे मिश्रित स्वर स्वरित कहलाता है।

[उभयवान्स्वरितः। १।११०; उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्न अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्न आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्यां स स्वरितसंज्ञो भवति][2]

[उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेऽक्षरम्।][3].

[४] स्वरितके बादके अनुदात्त स्वरोको, जहाँ एक साथ गात्रोका मार्दव पाया जाता है, अलगसे पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। वे 'प्रचय' या 'एकश्रुति' कहलाते है।

[स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः ॥][4]

उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितकी इस उच्चारण स्थितिको शौनकने ऋक्प्रातिशाख्यमें क्रमशः आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप कहा है—

[उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः। आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥][5].

---

१ वही तथा उसपर उव्वट कृत भाष्य १. १०९, पृ २३।
२ वही, १. ११०. पृ २३.।
३ शौनकीय ऋक् प्रातिशाख्य, तृतीय पटल; ४।
४ शौ० ऋ० प्रा०, तृतीय पटल, ११।
५ वही, तृ० प० १।

एकाक्षर, द्व्यक्षर, त्र्यक्षर, चतुरक्षरके स्वर-विभाजनका क्रम अलग-अलग तरह का देखा जाता है। साथ ही इसका उच्चारण पदरूपमें अन्य होता है, संहिता रूपमें अन्य। इस बातको आजके ध्वनिवैज्ञानिकोंने पद-स्वर [word-intonation] तथा संहितास्वर [sentence intonation] के भेद को स्पष्ट कर स्वीकृत किया है। जहाँ तक एकाक्षरके स्वरका प्रश्न है, पद रूपमें उसका स्वर उदात्त भी माना जा सकता है, अनुदात्त भी, पर अधिकतर उसे अनुदात्त ही माना जाता है। वाक्यमें उसका स्वर बदल भी सकता है। वैसे वैदिक संस्कृतमें कई एकाक्षर [monosyllable] स्वर स्वतः उदात्त होते हैं, कई अनुदात्त। अन्य पदोंमें [द्व्यक्षरादि पदोंमें] प्रायः पूरे पदमें एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है, बाकी स्वर अनुदात्त [और स्वरित] ही होंगे। एक ही प्रकारकी ध्वन्यात्मक [phonatic] या अक्षरात्मक [syllabic] संघटना [sequence] में स्वर-भेदसे अर्थ-भेद हो सकता है। संस्कृतमें भी स्वर-भेदसे एक ही ध्वन्यात्मक संघटना [phonematic sequence] वाले पदोंका अर्थ-भेद देखा जाता है। यह अर्थ-भेद समासमें बहुत काम करता देखा जाता है, जहाँ मुख्य कारण स्वर-भेद [difference of accent] ही होता है। हम एक प्रसिद्ध उदाहरण को लें लें—इन्द्रशत्रुः। जहाँ तक इस समस्त पदमें पदद्वयके व्यस्तरूपका प्रश्न है, हम उसपर विचार न कर इस समस्त पदके समुदाय रूपपर ही विचार करेंगे। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं प्रायः प्रत्येक पदमें एक ही उदात्त स्वर हो सकता है [वैसे इस नियमके कुछ अपवाद भी हैं, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे], इस पदमें भी एक ही अक्षर उदात्त-स्वर सम्पन्न हो सकता है। व्यस्त पदोंको लेनेपर हम देखेंगे कि इन्द्र तथा शत्रुः दोनों पदोंका प्रथमाक्षर उदात्त है, किन्तु समस्त पदमें यह उदात्त स्वर या तो पूर्व पदमें ही रह सकता है, या उत्तर पदमें हो। अब हमें यही देखना है कि इन्द्रशत्रु में उदात्त स्वर किस अंशमें होगा। द्व्यक्षरों [disyllables] में उदात्तस्वर प्रायः प्रथमाक्षर [first syllable]

पर पाया जाता है, किन्तु पदोंके समस्त होनेपर कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उदात्त स्वर अंतिम अक्षर [final syllable] पर पाया जाता है, क्योंकि ध्यान दीजिये कर्मधारय तथा तत्पुरुष समासमें उत्तर पद प्रधान होता है। जब कि बहुव्रीहिमें यह उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर ही बना रहता है, क्योंकि वहाँ अन्य पदार्थकी प्रधानता होती है। यदि स्वरके आरोह या आयाम-मार्दवको व्यक्त करनेके लिए हम आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंकी प्रणालीका आश्रय लें तो उसे यों व्यक्त करेंगे.—

[१] इन्द्रशत्रुः [बहुव्रीहि][1] — — — —

[२] इन्द्रशत्रुः [तत्पुरुष][2] — — — —

इस संबंधमें आधुनिक ध्वनिशास्त्रियोंका मत है कि उच्चतम स्वर [उदात्त] पदमें एक ही होता है, पर बाकी अनुदात्त स्वर सभी एक कोटिके नहीं होते तथा उनके स्वरमें भी सूक्ष्म भेद होता है, मोटे तौरपर वे सभी अनुदात्त कहलाते हैं।

प्रा० भा० यू० में स्वरका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक संस्कृतने प्रा० भा० यू० स्वरकी पूर्ण रक्षा की है। शुद्ध उच्चारणकी रक्षाकी इच्छासे भारतीय मनीषियोंने उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोंका संकेत करनेके लिए चिह्न बनाये, साथ ही पद व संहिता गत स्वर-परिवर्तनका विवेचन किया। भारतकी भाँति ग्रीसमें भी ग्रीक भाषाके शुद्ध उच्चारणकी रक्षाके लिए हेलेनिक समयसे ही स्वरचिह्नोंका प्रयोग आरम्भ हो गया था, जो अलेक्जेंड्रियन वैयाकरणोंके हाथों परिष्कृत हुआ। प्राचीन ग्रीकमें तीन प्रकारके स्वर-चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है—´, `, ^ जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरितके प्रतीक हैं। ग्रीकमें प्रायः अनुदात्त स्वरके अक्षरोंको अचिह्नित

---

१. इन्द्रः शत्रुर्यस्य सः [जिसका शत्रु इन्द्र है]—बहुव्रीहि।

२. इन्द्रस्य शत्रुः [इन्द्रका शत्रु]—तत्पुरुष।

छोड दिया जाता था। वैदिक संस्कृतमें ठीक उल्टी प्रणाली है कि यहाँ उदात्तको अचिह्नित छोड दिया जाता है। वैदिक संस्कृतमें तत्तत् वेदमें भिन्न-भिन्न प्रकारके चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। वेदोंमें ही नही, शाखाओं-तकमें यह भेद पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेदकी प्रणाली प्राय अन्य वेदोंमें भी आदृत हो गई है। अथर्ववेद, वाजसनेयी [यजुष्] संहिता, तैत्तरीय [यजुष्] संहिता, तथा तैत्तरीय ब्राह्मण स्वरसंकेतोंमें ऋग्वेदसे ही प्रभावित है। जहाँ तक सामवेदके स्वरचिह्नोंका प्रश्न है, वे गानसे सबद्ध होनेके कारण भिन्न प्रकारके हैं, उनमें स्वरके आरोहावरोहकी तारतमिक मात्राके नियामक संकेत १, २, ३, ४ भी पाये जाते हैं। यहाँ तो हमें ऋग्वेदके स्वर चिह्नोंका संकेत भर देना है। ऋग्वेदीय प्रणालीके अनुसार अनुदात्त स्वरको व्यक्त करनेके लिए अक्षरके नीचे पडी लकीर [–] का प्रयोग किया जाता है, किन्तु उदात्त स्वरवाले अक्षरपर कोई चिह्न नही होता। स्वरित स्वरवाले अक्षरके ऊपर खडी लकीर [।] अंकित की जाती है। उदाहरणके लिए हम त्र्यक्षर पद 'अग्निना' को ले लें। यहाँ प्रथम अक्षर 'अ' अनुदात्त है, अत नीचे पडी लकीरसे चिह्नित किया गया है, द्वितीय अक्षर 'ग्नि' उदात्त है, अत अचिह्नित छोड दिया गया है, तृतीय अक्षर ना पुन अनुदात्त है, तथा उदात्तके बाद आनेके कारण स्वरित हो गया है, अत ऊपर खडी लकीरसे चिह्नित किया गया है। इस प्रसगमें हमारा प्रमुख लक्ष्य वैदिक संस्कृतके स्वरका विवेचन है, उसके चिह्नका विवेचन नहीं, अत मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता आदिके चिह्नगत वैविध्यपर हम प्रकाश नही डालेंगे। यहाँ हम वैदिक स्वर-प्रक्रियाकी अत्यधिक महत्वपूर्ण ५-६ विशेषताओंका ही संकेत करेंगे। साथ ही हम वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके स्वर गत वैषम्यपर ध्यान न देंगे, क्योंकि यह विषय अलगसे गवेषणाका तथा स्वतन्त्र प्रबन्धका विषय हो सकता है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाका अध्ययन भी तुलनात्मक भाषाशास्त्रका एक महत्वपूर्ण अग है। जिस नियमसे कई अपवादोंका स्पष्टी-

करण इसी प्रा० भा० यू० स्वरप्रक्रियाके आधारपर हो सका है। वर्नरने ग्रिम नियमके उपनियमकी अवतारणा करते हुए, जो भाषाशास्त्रमें वर्नरके उपनियम [Verner's Corollary] के नामसे प्रसिद्ध है, यह स्थापना की थी कि ग्रिमका नियम वहाँ लागू होता है, जहाँ मूलत क्लैसिकल भाषाओंमें उदात्तस्वर सम्पन्न अक्षर [accented syllable] था तथा स्पर्श ध्वनि पदादिमें थी, ऐसा होनेपर क्लैसिकल [संस्कृत, लैटिन, ग्रीक] सघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ, फ], तथा हाईजर्मनमें अघोष अल्पप्राण हो जाते है, इसी तरह क्लैसिकल अघोष अल्पप्राण, लो जर्मनमें सघोष अल्पप्राण, तथा हाईजर्मनमें महाप्राण [अथवा सोष्म ख, थ फ] हो जाते है, तथा क्लैसिकल महाप्राण लो जर्मनमें अघोष अल्पप्राण तथा हाई जर्मनमे सघोष अल्पप्राण हो जाते है। वर्नरने बताया था कि कई स्थलोंमें ग्रिमका उक्त नियम पूरी तरह इसलिए लागू नही हो पाता कि वहाँ स्पर्श ध्वनि पदादिमें नही होती साथ ही वह अनुदात्त स्वरसम्पन्न अक्षर [*unaccented syllable*] मे होती है।

प्रा० भा० यू० की स्वरप्रक्रियाको जाननेके लिए संस्कृत जितनी सहायक सिद्ध हो सकती है, उतनी ग्रीक तथा लैटिन नही। ग्रीक तथा लैटिनमें स्वरके उदात्तत्वका नियामक तत्व प्राय शब्दकी अक्षर संख्या होती है। ग्रीककी स्वरप्रक्रिया त्र्यक्षर-नियम [the law of three syllables] के द्वारा अनुबद्ध है। इसके अनुसार ग्रीकमें पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे उदात्त स्वरका प्रयोग नहीं होता। वैसे इसके कतिपय अपवाद भी देखे जाते है। लैटिनमें भी किसी हदतक त्र्यक्षर नियमकी पाबन्दी की जाती है तथा वहाँ भी उदात्त स्वर पदान्तसे पूर्वके तीसरे अक्षरसे अधिक पीछे नही पाया जाता, किन्तु फिर भी लैटिनकी स्वरप्रक्रिया ग्रीककी स्वरप्रक्रियासे भिन्न है। लैटिनमें उपधा अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है, जब कि ग्रीकमें पदान्त अक्षरकी मात्रा स्वरका नियमन करती है। संस्कृतमें इस तरहका कोई निश्चित नियम नहीं है, इसलिए भाषावैज्ञानिकोंने संस्कृत स्वरप्रक्रिया-

को 'स्वतन्त्र' [free] माना है। यहाँ ग्रीक या लैटिनकी तरह उदात्त स्वर किसी सीमामें सकुचित नहीं है, वह कहीं भी, किसी भी अक्षरमें हो सकता है। साथ ही ग्रीक या लैटिनकी तरह सस्कृत स्वरप्रक्रियाका नियामक तत्त्व न तो पदात अक्षरकी मात्रा [जैसा कि ग्रीकमें है] है, न उपधा अक्षर-की मात्रा ही [जैसा कि लैटिनमें है] किन्तु सस्कृत स्वरप्रक्रिया पदकी व्युत्पत्ति [उसमें प्रयुक्त प्रत्यय, विभक्ति आदि] तथा उसके वाक्यगत [सहितागत] प्रयोगपर निर्भर करती है।

[१] सस्कृतमें प्राय प्रत्येक पदमें केवल एक ही उदात्त स्वर पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है। स० तत, ग्रीक ततोस् [tato's] स० जानु, ग्रीक गोनु [go'nu]। पर कुछ ऐसे भी पद है, जिनमें वेदमें प्रमुख स्वर स्वरित पाया जाता है। किन्तु यह रूप प्राय 'य' 'व' वाले सयुक्ताक्षरमें पाया जाता है, जो वस्तुत 'इ' 'उ' के ही सन्ध्यात्मक [prosodic] रूप हैं। उदाहरणके लिए हम रथ्यम्, तन्वम् इन दो पदोको ले लें। यहाँ यह विशेषता पाई जाती है कि अनुदात्तके एकदम बादमें स्वरित आ गया है, जो सदा उदात्तके बाद होता है। यह विशेषता इस बातका सकेत करती है कि इन द्व्यक्षर [disyllabic] पदोका उच्चारण त्र्यक्षर [trisyllabic] होता था, तथा यहाँ द्वितीय अक्षर उदात्त स्वर युक्त था। वस्तुत इनका उच्चारण रथियम्, तनुवम् होता है। विद्वानोंको पता है कि गायत्री मन्त्रके 'वरेण्य' पदका उच्चारण भी

१ सुविधाकी दृष्टिसे ग्रीक शब्दोंके देवनागरी लिपीकरणमें मैंने वैदिक स्वर चिह्नोंका ही प्रयोग किया है।

'वरेणियं' होता है, तथा ऐसा करनेपर ही तत्सवितुर्वरेण्य इस पदमें आठ अक्षर पूरे होते हैं।[1]

[२] समासान्त पदोंमें प्रायः एक ही उदात्त स्वर होता है, किन्तु उन द्वन्द्व समासोंमें जहाँ दोनों पदार्थ द्विवचनमें हैं, तथा उस तत्पुरुषमें, जहाँ पूर्वपद षष्ठ्यन्त है, दोनों पदाशोंमें उदात्त स्वर पाया जाता है, यथा मित्रा वरुणा, बृहस्पति.।[2]

[३] कुछ पद ऐसे भी हैं, जिसमें सभी अक्षर अनुदात्त होते हैं, तथा उदात्त स्वरका अभाव होता है। इनमें प्रमुख वे क्रिया पद हैं, जो वाक्यकी समापिका क्रियाएँ होते हैं।[3] यथा, अग्निमीळे पुरोहितम् में, जहाँ 'ईळे' में कोई उदात्त स्वर नहीं है। यदि सम्बोधन वाला रूप वाक्य या पादके आदिमें नहीं होता, तो वह भी उदात्तस्वररहित [enclitic] होता है। सम्बोधनकी ऐसी ही विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है[4]।

[४] समस्त पदोंमें प्रायः कर्मधारय तथा तत्पुरुषमें उदात्त अन्तिम अक्षरपर होता है, बहुव्रीहिमें प्रथमाक्षरपर, जैसे राजपुत्रः [तत्पुरुष], राजपुत्र. [बहुव्रीहि]।[5]

[५] सन्धिमें यदि प्रथम द्वितीय दोनों अक्षरोंमेंसे कोई भी या दोनों उदात्त होते हैं, तो सन्धिज अक्षर उदात्त होता है। इस तथ्यका सकेत महाकवि कालिदासने भी इस उपमाके द्वारा किया था—निहृत्यरोनेकपदे य उदात्तः

१. गायत्री वर्णित वृत्त है तथा उसके प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर [वर्ण] होते हैं।
2. Macdonell · Vedic Grammar p. 452, rule 7.
3. Ibid. p. 454–5.
4. Atkinson : Greek Language p. 57.
5. Macdonell : Vedic Grammar p 457–8.

स्वरानिव । उदाहरण, नुदस्वाय [नुदस्व + अय], नान्तर [न + अन्तर]।

[६] वाक्यमें अर्थात् संहितापाठमें भी ये स्वर एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। उदात्तके बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है, तथा वह खड़ी लकीरसे चिह्नित होता है, उसके बाद आनेवाले अनुदात्त एकश्रुति या प्रचय कहलाते हैं, और तब तक अचिह्नित छोड़ दिये जाते हैं, जब तक कोई उदात्त स्वर नहीं आता, किन्तु ज्यों ही कोई उदात्त स्वर आया उससे पूर्ववर्ती अक्षरको अनुदात्तके चिह्नसे चिह्नित कर दिया जाता है, यह इस बातका द्योतक है कि उच्चारण कर्ताको अपना स्वर ऊँचा करना है, इसी तरह स्वरित इस बातका चिह्न है कि उसे स्वर नीचा करना है। इस संबंधमें हम संहिता पाठका एक उदाहरण ले लें—

१ येना सूर्यं ज्योतिषा बाधसे तमो

२ जगच्च विश्व मुदियर्षि भानुना ॥

१.

२

किन्तु ये ही पद व्यस्त होनेपर पदपाठमें यों हो जायेंगे —

येना । सूर्यं । ज्योतिषा । बाधसे । तमो ।

जगत् । च । विश्व । उत् ऽइयर्षि । भानुना ॥

लौकिक संस्कृतमें आकर स्वर चिह्नका प्रयोग नहीं पाया जाता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ स्वर नहीं पाया जाता। वस्तुतः यहाँ

इन नियमोंकी पाबन्दी ढीली हो गई और आज इस सम्बन्धमें लौकिक संस्कृतमें कोई नियम नहीं है। वैसे पाणिनिने अपनी व्याकरणमें इसको ध्यानमें रखकर सूत्र बनाये हैं, पर स्वरोंको अत्यधिक महत्ताको उन्होंने भी वैदिकी प्रक्रियामें ही माना था, ऐसा संकेत मिल सकता है। सम्भवतः इसीलिए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें स्वरवैदिकी प्रक्रियाका विचार विशेषतः वैदिक प्रयोगोंके सम्बन्धमें ही किया है।

संस्कृत पद-रचना

[संज्ञा, विशेषण एवं सर्वनाम]

संस्कृतके पद[1] प्रा० भा० यु० पदोंकी भाँति उन समस्त चिह्नोंके द्योतक हैं, जिन्हें हम तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। इनमेंसे प्रथम अंश मुख्य भावका द्योतक है, जिसे हम मूल रूप [धातु या शब्द] कह सकते हैं। अन्य दो अंश प्रत्यय तथा विभक्ति-चिह्न हैं। इन चिह्नोंमें कई प्रकारकी तात्त्विक प्रक्रियाएँ पाई जा सकती हैं, तथा प्रमुख रूपसे स्वर-परिवर्तन भी पाया जाता है। इनमें प्रत्ययका अस्तित्व हो सकता है, उसका अभाव भी हो सकता है। इन परिवर्तनोंमसे कतिपय मुख्य परिवर्तन ये हैं —

[१] अनुनासिकका नतिभाव[2] [retroflexion], यथा यान, किन्तु प्रयाण।

[२] स्पर्शध्वनियोंका संयोजन, यथा, ददाति, दत्त, देहि, भिद्, भिद्भि, भिक्षु।

[३] प्राचीन भारत यूरोपीय कण्ठोष्ठ्य ध्वनियोंका संस्कृत पदरचनामें दो प्रकारका ध्वन्यात्मक विकास, यथा, हन्ति, जिघ्नते, घन:; भजति, भाग:।

[४] प्रा० भा० यू० तालव्य 'क्य्' का संस्कृतमें आकर दो प्रकारका विकास, इस सम्बन्धमें संस्कृतके क:, कस्य, किम् जैसे रूप भारत-ईरानी वर्गमें चित् की अपेक्षा अधिक नवीन हैं। इस परिवर्तनका एक पद-रचनात्मक महत्त्व भी है, तथा यह परिवर्तन स्वर ध्वनिके आधारपर पाया जाता था।[3]

---

१. सुब्-तिङन्तं पदम्।

२. दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नति। [शुक्लयजु प्रातिशाख्य १ ४२]।

३. Bloch : L'Indo Aryen. P, 99.

भारतके प्राचीन निरुक्तकार यास्कने वैदिक शब्द "शेव" को "शिष्यते" से गृहीन [व्युत्पन्न] माना है। इस व्युत्पत्तिमें उन्होंने 'व' को एक प्रत्यय माना है, जो ष् के स्थानपर प्रयुक्त हुआ है। इसी उदाहरणमें दूसरी विशेषता मूलरूप शिष् के स्वरका गुणीभाव है। इस प्रकार शे तथा शि दोनों एक ही मूल [धातु] से जनित दो रूप हैं। अन्य स्थानोंपर उन्होंने स्वरध्वनिके लोपका भी उल्लेख किया है, जो स० प्रत्त[1] [√दा], सतः [√अस्], जग्मुः [√गम्] में स्पष्ट है। इसी प्रकार यास्कने गतम् [√गम्], राजा [राजन्] में व्यञ्जन ध्वनिके लोपका उल्लेख किया है। संस्कृत पृथुः तथा ऊतिः को उन्होंने √प्रथ् तथा √अव् से व्युत्पन्न माना है, जहाँ मूल स्वरध्वनि परिवर्तित हो गई है।[2] स्वर-ध्वनिके इस प्रकारके परिवर्तन प्रा० भा० यू० में भी पाये जाते हैं, जो हम 'अपश्रुति' के अन्तर्गत देख चुके हैं। भारतीय वैयाकरण इन स्वर-परिवर्तनोंको गुण

---

१ दुदाञ् दाने क्तः। अच उपसर्गात्त इति तादेशः—शब्दार्थचिन्ता-मणि०, भाग ३ पृ० २४२।

२. यास्क तथा बादके वैयाकरणोंने ५ प्रकारके निरुक्त माने हैं। इनमें प्रथम चार प्रकारके निरुक्तोंमें ध्वनिपरिवर्तन आते हैं। ये हैं.— वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार तथा वर्णनाश। वर्णागमका उदाहरण 'सुन्दर' दिया जा सकता है, जो सुनरसे बना है। यहाँ "द्" ध्वनिका आगम हो गया है। वर्णविपर्ययका 'सिंह' [हिंस्तीति सिंहः] है। वर्णविकार जैसे √भज् से भागः या षट् + दशसे षोडश; तथा वर्णनाश जैसे प्रत्त , जग्मुः, गतम् आदिमें या पृषत् + उदरसे बने रूप पृषोदरमें।

> वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च [illegible] चापरौ वर्णविकारनाशौ।
> धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविध निरुक्तम्॥
> वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्णविपर्ययः।
> षोडशादौ विकार स्यात् वर्णनाश पृषोदरे॥

तथा वृद्धि कहते हैं। हमें ऐसा पता चलता है कि प्रा० भा० यू० में मूलरूपों [धातु तथा शब्दों] में एक निश्चित व्यञ्जनसंघटना [consonantal sequence] तथा परिवर्तनशील स्वर [प्रायः एक ही परिवर्तनशील स्वर] पाये जाते होंगे। प्रा० भा० यू० में हम इनके ऍ, ऑ; ए, ओ अथवा "शून्य रूप [स्वराभाव,zero-vowel] को देख सकते हैं। भारत-ईरानी वर्गमें ये अ-आ के साथ सम्मिलित हो गये हैं, और इस प्रकार यहाँकी ध्वन्यात्मक प्रक्रियामें केवल एक ही प्रकारके मात्रिक परिवर्तनकी उपलब्धि होती है, जो अ-रूप, आ-रूप तथा शून्यरूप है, जिन्हें हम क्रमशः भर्-,भारः; भृ-में देख सकते हैं। इसी संबंधमें यह भी जान लें कि र्, य्, व् के स्वरीभूत रूप ऋ, इ, उ की भाँति अनुनासिक न् म् वाले रूपोंमें भी यह अपश्रुत्यात्मक प्रवृत्ति पाई जाती थी। यदि हम भारतीय वैयाकरणोंकी पारिभाषिक शब्दावलीका प्रयोग करें, तो हम कह सकते हैं कि न् तथा म् वाले गुण रूप [भाषाशास्त्रीके मूल रूप], वृद्धिमें अन्, अम् तथा शून्यरूप में [भाषाशास्त्रीके शून्य रूपमें] अ पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए, गम् तथा मन् धातुरूपोंमें वृद्धिरूप [भाषाशास्त्रीका दीर्घरूप] पाया जाता है। इसीके 'गम' [जगमुः]; 'म्न' [मन्नाते] रूपोंमें गुणरूप [भाषाशास्त्रीका मूल रूप], तथा गतः, मतः में मूल रूप [भाषाशास्त्रीका शून्यरूप] पाया जाता है। संस्कृतके इ, उ वाले मूल रूपोंके गुण रूपोंमें तथा वृद्धि रूपोंमें क्रमशः ए तथा ओ; एवं ऐ तथा औ ठीक वही कार्य करते हैं, जो संस्कृतके ऋ [र्] वाले मूल रूपोंमें अर् तथा आर् करते हैं।

इन सब प्रकारके रूपोंके विवेचनसे हमारा तात्पर्य यह है कि प्रा० भा० यू० शब्दोंकी भाँति संस्कृतके समान पदोंमें हम एक धातु [मूल, root] मान सकते हैं। यह धातु अथवा मूल रूप ही संस्कृतकी पदरचनाका मेरुदण्ड या "न्यूक्लियस" [nucleus] है। इसके पहले कि हम संस्कृतके इन मूलरूपोंपर दृष्टिपात करें, हमें प्रा० भा० यू० मूलरूपोंकी कुछ विशेषताओंपर दृष्टिपात कर लेना होगा—

[१] प्रा० भा० यू० मूलरूपोंमें आरम्भ तथा अन्तमें सघोष महाप्राण ध्वनि पाई जा सकती है, किन्तु सघोष अल्पप्राण नहीं, इस प्रकार वहाँ *भेंध् [*bhewdh] [सं० बुध्] जैसे रूपोंकी स्थिति मानी जा सकती है,* *बेंद् [*bewd] जैसे रूपोंकी नहीं।

[२] जिन प्रा० भा० यू० मूल रूपोंकी प्रथम ध्वनि सघोष महाप्राण है, उनके अन्तमें अघोष ध्वनि नहीं पाई जा सकती। इस प्रकार *भेंवुध् जैसे रूप हो सकते हैं, किन्तु *भेंव्त् [*bhewt] जैसे रूप नहीं।

[३] प्रा० भा० यू० मूल रूपोंमें एक साथ ऐसी दो अन्तःस्थ ध्वनियाँ नहीं पाई जा सकती, जो व्यञ्जनका कार्य कर रही हों। अतः वहाँ *सेंव्ल्, *तेंयूर्प्, *नेंय्न् जैसे मूल रूप नहीं पाये जा सकते।

अब इन मूलरूपोंकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृत वैयाकरणों-ने इन्हें धातुरूप [क्रियात्मक] माना है। किन्तु, जैसा कि हम देखते हैं, कई मूल रूप ऐसे हैं, जिन्हें हम धातुरूप नहीं मान सकते। उदाहरणके लिए **'पद्–'** तथा **'अह्–'** को ले सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने किसी धातुके कोई-न-कोई प्रत्यय जोड़कर सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। उनके उणादि प्रत्यय इस चेष्टाके प्रमाण हैं। किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टि-से हम इस तथ्यको अस्वीकार नहीं कर सकते कि प्रा० भा० यू० भाषाके कालमें उसके बोलनेवालोंमें संज्ञा, क्रिया तथा विशेषण जैसी व्याकरणात्मक भावनाका उदय नहीं हुआ था तथा उनके लिए इनका परस्पर भेद उतना स्पष्ट नहीं था, जितना कि सभ्यताके विकास तथा वृद्धिके कारण उनके बादके वंशजोंके लिए। इस प्रकारके तथ्यका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि इस प्रकारके समस्त शब्द [क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि] एक ही धातुसे व्युत्पन्न हो सकते थे। वस्तुतः ये मूल रूप किसी निश्चित व्याकरणात्मक अर्थका बोध न करा कर एक सामान्य भावके बोधक

थे, जिसे हम क्रिया, संज्ञा जैसे संकुचित दायरेमें आबद्ध नहीं कर सकते। ये केवल प्रत्ययविहीन अथवा विकरण-विहीन [athematic] मूल रूप थे, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रत्ययों अथवा विकरणोंको जोड़कर किसी भी भावके लिए किया जा सकता था। इन्हीं मूल रूपोंमें कृत् या तद्धित प्रत्यय, तथा सुप् या तिङ् विभक्ति प्रत्यय लगाकर पद-रचना होती है। इसके बाद विभिन्न पदों [धातुरूपभिन्न पदों] को भी नाना प्रकारके भावबोधनके लिए समस्त किया जा सकता है, तथा यह समासप्रक्रिया कहलाती है।

व्याकरणात्मक दृष्टिसे हम संस्कृतके शब्दोंको संज्ञा [नाम], क्रिया [आख्यात], अव्यय, संख्यावाचक शब्द, तथा सर्वनाम इनमें विभक्त कर सकते हैं। इस परिच्छेदमें हम नाम शब्दोंकी पदरचनापर प्रकाश डालेंगे। संस्कृतके संज्ञा-रूप अधिकतर हिन्द ईरानी [भारत-ईरानी] वर्गसे ही विकसित हुए हैं। इनकी रचनामें प्रायः वे ही नियम तथा तत्त्व पाये जाते हैं, जो ईरानी तथा अन्य भारोपीय भाषाओंके नाम शब्दों [substantives] में। नाम-शब्दोंको सर्वप्रथम हम व्यस्त तथा समस्त दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। इनकी रचनामें प्रायः भिन्न प्रणाली पाई जाती है।

प्रातिपदिक या मूल शब्दः—व्यस्त शब्दोंकी पद-रचनामें हमें यह समझ लेना चाहिए कि इन मूल रूपों [प्रातिपदिकों] को हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक वे मूल रूप, जिनकी पदनिर्मितिमें कोई प्रत्यय या विकरण नहीं लगता। दूसरे वे जिनके मूल रूप तथा अन्य प्रकारके सुप् तथा कृत् या तद्धित प्रत्ययके बीचमें कोई-न-कोई प्रत्यय या विकरण लगता है। इस प्रकारके प्रत्यय उन मूल रूपों [धातुओं] में भी लगते हैं, जिनसे क्रियारूप बनते हैं। इन्हीं प्रत्ययों या विकरणोंके आधारपर हम इन मूलरूपोंको सविकरण [thematic] तथा अविकरण [athematic] इन दो कोटियोंमें विभक्त कर देते हैं। यहाँ हम केवल नाम-शब्दोंका ही विचार कर रहे हैं, क्रियारूपोंकी रचनामें इन विकरणोंकी प्रक्रियाका उल्लेख

हम अगले परिच्छेदमें करेंगे। विकरणविहीन [अविकरण] मूलरूप संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओंमें अत्यधिक पाये जाते हैं। अन्य यूरोपीय भाषाओंमें ये प्राय. लुप्त हो गये हैं। उदाहरणके लिए **द्यौ, क्षा, गौ [गो], भ्रू** के मूल रूपोंको ले सकते हैं, जिनसे प्रथमा विभक्ति एकवचनमें **द्यौः, क्षाः, गौः, भ्रूः** रूप बनते हैं। इनमें मूलरूप तथा 'सुप्' प्रत्यय ['सु'] [प्रा० भा० यू० *स्] के बीचमें किसी भी विकरणका प्रयोग नहीं हुआ है। इसी प्रकार **राज्** तथा **विश्** इन मूल रूपोंके **राट्-ड्** तथा **विट्-ड्** रूपों [प्रथमा एकवचन रूपों] में भी विकरण-विहीनता देखी जा सकती है। ये विकरणविहीन रूप उन मूल रूपोंसे भी बनाये जा सकते हैं, जिनमें द्वित्व पाया जाता है, यथा **हु** से **जुहू** तथा **दह** से **दधक्**। इस प्रकारके रूपोंमें एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि **इ, उ** तथा **ऋ** अन्तवाले मूल रूपोंमें यह मूल रूप **'त्'** से युक्त पाया जाता है। यथा **मित्, स्तुत्, कृत्** तथा **विद्युत्** में जो क्रमशः **मि, स्तु, कृ** तथा **द्यु** इन मूल रूपोंसे बने हैं। इस प्रकारके "त्" के प्रयोगकी उत्पत्तिका पता नहीं। ब्रुगमानके मतानुसार यह 'त्', '-तो' [*तो] प्रत्ययका ही अपश्रुत्यात्मक रूप है।

सविकरणात्मक मूलरूपोंमें अविकनर **अ** विकरण प्रयुक्त होता है। तात्त्विक दृष्टिसे तो "थिमेटिक" 'अ' विकरण नहीं है, क्योंकि प्राय. सविकरण मूल रूपोंको भी अविकरण मूलरूपोंका ही विकसित रूप माना जाता है तथा भारतयूरोपीय भाषाओंमें प्राय अविकरण मूलरूपोंको सविकरण बनानेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। इस प्रकारके 'अ' विकरणका उदाहरण हम "$\sqrt{}$भृ" [प्रा० भा० यू० *भेर्, [*bher] को ले सकते हैं, जिसमें यह 'थिमेटिक' अ पाया जाता है, यथा **सं० भरति** [भर्-अ-ति]; **प्रा० भा० यू० *भर्-ओ-ति** [*bher-o-ti] में। इसी प्रकार **वृ** तथा **शुच्** [**शुक्**] से बने **वर** [**वृ + अ**] तथा **शोक**में भी यह 'अ' विकरण पाया जाता है। यह 'अ' विकरण प्रा० भा० यू० के द्वित्ववाले मूल रूपोंमें

प्रयुक्त होने लगा था, यथा, सं० चक्र, ग्रो० कुक्लोस् [kuklos]। संस्कृतमें आकर तो यह "अ" द्वित्व रूपोंमें अत्यधिक प्रयुक्त होने लगा, यथा रुरोद, दधर्ष आदि रूपोंमें, जो दद् तथा घ्रप् के रूप हैं। इसी 'अ' से संबद्ध एक प्रत्यय अस् [*ओस्, *os] भी है, जो सं० नभस् [ग्रीक नेफोस्, nephos] सं० श्रवस् [ग्रीo क्लेवोस्, kewos]में पाया जाता है। इन विकरणोंकी सबसे बड़ी विशेषता स्वरसे संबंध रखती है। यदि मूल रूपपर उदात्त स्वर [rising tone] होता है, तो भिन्न प्रकारके शब्दकी उत्पत्ति होती है, और यदि उदात्त स्वर विकरणपर पाया जाता है तो शब्द सर्वथा भिन्न प्रकारका होता है। उदाहरणके लिए √वृ [धातु, मूलरूप]से अ जोड़कर वर रूप बनता है। यदि यह रूप "वर"[1] होगा तो इसका अर्थ "इच्छा" है, किन्तु "वर"[2] का अर्थ "वरण करनेवाला" होगा। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे एकको हम "व्रियते अनेन" मानेंगे, तो दूसरेको "वृणुत इति" मानेंगे। संस्कृतके शब्द "स्वयंवरा"[3] [दे० रघुवंश—स्वयंवरा

---

१. 'वर.' मे जो वृ + अ [वर् + अ] से बना है, उदात्त 'वर्' के 'अ' पर अथवा 'वर्' वाले अक्षर [syllable] पर है, तभी तो 'व' मे उदात्त है, र मे स्वरित [जो कि मूलत: अनुदात्त है]। उदात्तका कोई चिह्न नहीं होता, अनुदात्तका चिह्न अक्षरके नीचे पड़ी लकीर [—] है, स्वरितका अक्षरके सिरपर खड़ी लकीर [|]। उदात्तके ठीक बादका अनुदात्त, यदि उसके बाद फिरसे कोई उदात्त स्वर नहीं है, तो स्वरित होता है। यह [rising tone]के एकदम बादवाला [falling tone] है।

२. वर मे, जो भी वृ + अ [वर् + अ] से बना है, स्वर भिन्न है, यहां उदात्त स्वर 'अ' विकरणमें है 'वर्' का अक्षर अनुदात्त है।

३. स्वयं वृणुते इति सा स्वयंवरा।

वलुप्तविवाहवेषा] मे दूसरा रूप है, जब कि स्वयंवर[1] में पहला । स्वरके कारण इन अ–विकरणवाले रूपोमे अर्थभेदके अन्य उदाहरण ये है —

चोद 'अकुश', चोद 'प्रेरित करनेवाला', शोक 'प्रकाश', शोक 'प्रकाशमान' ।

प्रा० भा० यू० भाषामे ही मूलरूपोंके विकरणयुक्त [thematic] तथा विकरणविहोन [athematic] दोनो प्रकारके वैकल्पिक रूप पाये जाते थे । सस्कृतने कई नाम-रूपोमें इस प्रकारके प्राचोन वैकल्पिक रूपोंके कुछ चिह्न सुरक्षित रक्खे है यथा, अाप', अपाम्; पादम्, पदः, भ्रू', भ्रुव', गौ', गाम्, गवाम्, श्वा, श्वानम्, शुनः, इन विभिन्न रूपोमें । कुछ रूपोमें ये चिह्न नष्ट हो गये है, यथा वाक्, वाचम्, वाचा मे । वस्तुत सस्कृत भाषाके शब्द-भाण्डारमे अधिक अंश नामरूप है, जिनमे मूल रूपोंमे विकरण [अन्त प्रत्यय] सम्पृक्त रहता है । ये प्रत्यय अन्य प्रकारके भावोको व्यक्त करते है, किन्तु इसमे वे अधिक तथा न्यून रूपमें एक साधारण भाव [सामान्य] का भी बोध कराते है। उदाहरणके लिए निष्ठा प्रत्यय तथा तुलनाबोधक [तरप्, तमप् आदि] प्रत्ययोंको लिया जा सकता है। कभी कभी नाम रूपोंसे पुन नाम रूपोकी उत्पत्ति होती है। इनमे कई रूपोंमें प्रथम अक्षरके स्वरमे वृद्धि पाई जाती है, यथा सौमनसम् [सुमनस् मे], साप्तम् [सप्तसे], पार्थव [पृथुसे], भार्गव [भृगुसे] । इस प्रकारकी व्युत्पत्ति सस्कृत की एक प्रमुख विशेपता है।

प्रत्यय—सस्कृतके अधिकतर प्रत्यय [affixes] रूप तथा प्रयोग दोनो दृष्टियोसे प्रा० भा० यू० तथा भारत ईरानी प्रत्ययोसे मिलते है । यहाँ हम सस्कृतके प्रमुख कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययोपर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करेगे ।

---

१. स्वयं व्रियते अनेन [यत्र वा] इति स्वयवरः ।

संस्कृतका शतृ प्रत्यय,—"अत्" [अन्त्] प्रा० भा० यू० शतृ प्रत्यय *एन्त, *ओन्त [ent,ont] से विकसित हुआ है। इस प्रत्ययका प्रयोग वर्तमानके लिए होता है। इसके उदाहरण भरत्, पश्यत्, भवत् हैं। इसी अन्त् का दुर्बल रूप "अत्" भी पाया जाता है, जो संस्कृत तथा ग्रीक दोनोंमें मिलता है। यह दुर्बल रूप हम "सत्" [सन्त्], हत् [हन्त्], भरत् [भरन्त्] आदिमें देख सकते हैं। इसी कृदन्त प्रत्यय *एन्त् से तद्धित प्रत्यय–वन्त का विकास माना जाता है, जो ग्रीकमें भी वेन्त [went] रूपमें पाया जाता है। यह वेन्त [वेस] कभी-कभी उस् के रूपमें भी पाया जाता है। यह उ, व का ही दुर्बल रूप है। संस्कृत पर्वन्, परुस् [परुष्], धन्वन्, धनु [धनुष्] उदाहरण इस तथ्यके पोषक हैं। इसी प्रत्ययसे सबद्ध "–वास्" है, जो वैयाकरणोंकी परिभाषामें "क्वसु" कहलाता है। इसके दुर्बल रूप "–वस्" तथा "–उस्" में अनुनासिक तत्त्वका सर्वथा अभाव पाया जाता है। ग्रीकमें यह प्रत्यय अनुस्वारहीन ही पाया जाता है। स० विद्वान्, विद्वांसो, विदुष, विद्वत्सु, ग्रीक (वे) एइद (वो) ओस् [(w) eid (w) os]। सम्भव है, संस्कृतमें आकर इस प्रत्ययमें 'अन्त्' [शतृ] के सादृश्यपर अनुस्वारका प्रयोग होने लग गया होगा।

संस्कृत प्रत्यय ईयस् तथा इष्ठ के समानान्तर प्रत्यय ओ [–योस्] [o,-yes] तथा इसो [iso] ग्रीकमें पाये जाते हैं। संस्कृतके इन प्रत्ययोंको प्रा० भा० यू० *योस (स० यस्) से विकसित माना जाता है। इस प्रत्ययके कई प्रकारके अपश्रुत्यात्मक रूप पाये जाते हैं, जिन्हें हम *इस्, *येस, *योस् मान सकते हैं। संस्कृतमें भी इसका सबलरूप ईयस् तथा दुर्बलरूप इष्ठ दोनों पाये जाते हैं। इष्ठ वस्तुतः इस् [यस् का दुर्बलरूप] तथा + त के संयोगसे बना होगा। इसे हम प्रा० भा० यू० *इस्तो [isto] से विकसित मान सकते हैं। संस्कृतके स्वादीयस् तथा स्वादिष्ठ में यही प्रत्यय हैं। संस्कृतके क्वसु की भाँति इसके सबलरूपमें भी

अनुस्वारका समावेश हो गया है, जो संस्कृतकी ही विशेषता है, यथा स्वादीयासौ।[1] इसी प्रत्ययके दुर्बलरूप-*इस् मे *श्रोन्स जोडकर प्रा० भा० यू० मे ही एक नवीन प्रत्ययका विकास हो गया था। इस *इसोन्स से विकसित "ष्ण" रूप संस्कृतमे पाया जाता है, यथा स० तेजीयस् [तीक् + ईयस्, तेजस + ईयस्]; तीक् + ष्ण [तीक्ष्ण]। ये सभी प्रत्यय ठीक उसी तरह तुलनाबोधक है जैसे संस्कृतके तद्धित प्रत्यय "तरप्" तथा "तमप्", जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। कभी कभी "ईयस्" के ये विभिन्न रूप एक साथ भी जोड दिये जाते थे, यथा 'तेक्ष्णिष्ठ' [तैत्तरीय आरण्यक २ १३ १] मे, जिसमे वस्तुत एक साथ ष्ण तथा इष्ठ इन दो प्रत्ययो को जोड दिया गया है।

संस्कृतके "–मन्" तथा "–मन्" को प्रा० भा० यू० *एन् तथा *मेन्मे विकसित माना जाता है। ये दोनो ग्रीकमे भी ओन तथा म के रूपमे पाये जाते है। उदाहरणके रूपमे संस्कृत तक्षन्, ग्री० तेक्तोन [tektōn], तथा संस्कृत होम, ग्री० खेउम [kheu-ma] को ले सकते है। संस्कृतमे इस मन् का म रूप भी पाया जाता है, जो संस्कृत धर्मन् तथा धर्म दोनो रूपोसे स्पष्ट है। इस प्रत्ययसे बने हुए रूप प्राय नपुसक पाये जाते है तथा इनमे मूल रूपपर उदात्त स्वर पाया जाता है। किन्तु इनमेसे कुछमे प्रत्यय पर भी उदात्त स्वर पाया जाता है और ये रूप पुल्लिग होते है। उदाहरणके लिए ब्रह्मन् पुल्लिग है, किन्तु ब्रह्मन् नपुसकलिंग।

संस्कृतके निष्ठा प्रत्यय त, तवत् [क्त, क्तवतु] वस्तुत भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे दो प्रत्यय न होकर एक ही प्रत्ययके दो रूप है। ये दोनो ही प्रा०भा० यू० *तो से विकसित हुए है। ये भूतकालिक विशेषणके रूपमे प्रयुक्त होते है। यह तो ग्रीकमे भी पाया जाता है। संस्कृतमे क्त प्रत्ययवाला भूतकालिक

---

१. Bloch L'Indo-Aryen P 108

विशेषण कर्मवाच्य [भाववाच्यमें भी] प्रयुक्त होता है, किन्तु भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रा० भा० यू० में यह केवल कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होता होगा । इसमें उदात्त स्वर सदा प्रत्ययाक्षरपर पाया जाता है। धीरे-धीरे यह प्रत्यय पहले नपुंसक हुआ तथा बादमें कर्मवाच्य [तथा भाववाच्य] में प्रयुक्त होने लगा। 'त' के ये तीनों क्रमिक रूप हम सुत. [कर्तरि प्रयोग], द्यूत [नपुंसक लिंग] तथा हृत [कर्मवाच्य प्रयोग] में देख सकते हैं । *नो या ही कार्य करनेवाला एक और प्रा० भा० यू० प्रत्यय था, *नो । यह भी 'त' की भाँति संस्कृतमें आकर कर्मवाच्यसे संबद्ध हो गया । आगे जाकर यह 'न' वस्तुतः 'त' का ही रूप माना जाने लगा । पाणिनिने "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" इस सूत्रमें इस 'न' [*नो] को 'त' [*तो] का ही आदेश माना है। यह प्रत्यय पूर्ण, सम्पन्न आदिमें स्पष्ट है, किन्तु इसका वास्तविक रूप स्वप्न [स्वप् + न], दान [दा + न] में भी हम देख सकते हैं, जहाँ यह प्रयोग कर्मवाच्यमें नहीं है। ध्यान दीजिए, कर्मणि प्रयोगमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर पाया जाता है, जब कि नाम शब्दोंमें यह उदात्त स्वर मूल रूप [धातु] पर पाया जाता है। इसीसे सम्बद्ध एक दूसरा प्रत्यय ति माना जा सकता है, जो ग्रीकमें सि के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतका यह क्तिन् प्रत्यय गति, मति, प्रीति, शांति आदि स्त्रीलिंग रूपोंमें पाया जाता है । वस्तुतः यह 'ति,' 'त' का ही स्त्रीलिंग रूप रहा होगा। इस बातसे यह भी पुष्टि होती है कि ये सब त [तो] प्रत्ययके ही विभिन्नरूप रहे होंगे । एक दूसरे प्रत्यय 'तु' को भी इसीसे जोड़ा जा सकता है, किन्तु इस विषयमें ऐसा देखा जाता है कि जहाँ 'क्त,' क्तवतु, 'क्तिन'के साथ धातु [मूलरूप] का दुर्बलरूप [weak form] पाया जाता है वहाँ इसके साथ उसका सबलरूप [strong form] पाया जाता है। संस्कृतके तर, मत,

---

१ Bloch L'Indo-Aryen P 110

ततवत्, मतवत्, ततिः, मतिः में √तन् [तनु विस्तारे] तथा √मन् के दुर्वलरूप—त तथा म—पाये जाते हैं, जब कि "तन्तु", "मन्तु" में इन्ही धातुओंके सवलरूप देखे जा सकते हैं। इसी प्रत्ययसे संस्कृतके "तु"[तुमुन्], तवे, तवै का विकास हुआ है। वैदिक संस्कृतमें ये सभी रूप पाये जाते हैं, किन्तु लौकिक संस्कृतमें केवल 'तुमुन्' ही पाया जाता है। इसके उदाहरण गन्तु, गन्तवे [वैदिकरूप], गन्तवै [वैदिकरूप] दिये जा सकते हैं।

संस्कृतके तृ [तृच्] को प्रा० भा० यू० *तेरो [tero] से विकसित माना जाता है। यह प्रत्यय सबंधियोंके नामोंमें बहुत पाया जाता है। माता, पिता, भ्राता, दुहिता, जामाता आदि शब्दोंमें यही तृच् [तर्] प्रत्यय है। ग्रीकमें भी इसका विकास 'तेर' [ter] के रूपमें हुआ है, जो हम पतेर [pater], मातेर [mater] आदि शब्दोंमें देख सकते हैं। इन शब्दोंमें उदात्त स्वर प्रत्ययपर प्रायः पाया जाता है। इसी *तेरोका *त्रो रूप भी पाया जाता होगा, जो बादमें जाकर एक स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें विकसित हो गया। इस प्रकार जहाँ संस्कृतमें तृच् [*तेरो] प्रत्यय क्रियाके कर्ताके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, वह त्र [*त्रो] जो वस्तुतः *तेरोका ही दुर्बल रूप है, क्रियाके करणके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा।[1] संस्कृत नेता [–तृ] तथा नेत्र; खनिता [–तृ]तथा खनित्र; मन्ता [–तृ] तथा मन्त्रमें हम इन दोनों प्रत्ययोंको देख सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः ये "त्र" प्रत्ययवाले रूप नपुंसक हैं, 'मन्त्र' शब्द अवश्य इसका अपवाद है, क्योंकि यह पुँल्लिंग है। इस प्रत्ययवाले रूपोंमें उदात्त स्वर धात्वंशपर पाया जाता है।

तद्धित प्रत्ययोंमें संस्कृतके तुलनाबोधक 'तरप्' तथा 'तमप्'के समानान्तर प्रत्यय तेरो [tero] तथा तुमुस् [tumus] क्रमशः ग्रीक तथा लैटिनमें पाये जाते हैं। संस्कृतमें इन 'तरप्' तथा 'तमप्'को अन्य प्रत्यय

---

१. Bloch : L'Indo-Aryen p 110.

'ईयस्' तथा 'इष्ठ'से प्राय अर्थकी दृष्टिसे भिन्न नहीं माना जाता, किन्तु मूलरूपमें इन दोनोंमें भेद रहा होगा। प्रथम तो ये गौण प्रत्यय हैं, वे प्रमुख प्रत्यय। दूसरे 'ईयस्' तथा 'इष्ठ' किसी वस्तुके आन्तरिक गुणकी उत्कर्षताको व्यक्त करते हैं, जब कि 'तरप्' दो वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी, तथा 'तमप्' अनेक वस्तुओंमेंसे एक वस्तुकी उत्कर्षता बताता है। तात्त्विक दृष्टिसे "तर" तथा "तम" अलगसे प्रत्यय न होकर 'त' प्रत्यय [जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है] के साथ दूसरे प्रत्यय "र" तथा "म" को जोड़कर बनाये गये हैं। ये र तथा म प्रत्यय स्वतन्त्र प्रत्ययोंके रूपमें भी अपर, प्रथम जैसे शब्दोंमें देखे जा सकते हैं। इन प्रत्ययोंका विशेष विवेचन विशेषणके प्रसंगमें देखिए।

संस्कृतका दूसरा प्रमुख प्रत्यय मन्त है, जिसका वन्त रूप भी पाया जाता है, यहाँ यह मतुप् कहलाता है। प्रा० भा० यू० में इसका केवल *वेन्त रूप ही था, किन्तु भारत ईरानी कालमें ही इसका मन्त रूप भी पाया जाने लगा। सम्भव है, 'मान' [स० शानच्] के सादृश्यपर यह रूप बना हो। इस तद्धित प्रत्ययका प्रयोग सबधबोधक विशेषणके रूपमें पाया जाता है, संस्कृत भगवत्, अवे० भगवत् [maγvant], स० *पुत्रवन्त [पुत्रवती], अवे० पुथ्रवन्त [puϑravant], स० *मधुमन्त [मधुमन्तौ], अवे० मदुमन्त [maδumant] में यही प्रत्यय है।

संस्कृतके भाववोधक प्रत्यय त्व तथा ता को भी प्रा० भा० यू० से ही विकसित माना जाता है। इन्हीके तात्, ताति [ता से बने], त्वन [त्व से बना] रूप भी संस्कृतमें पाये जाते हैं। इस प्रकार हम वैदिक संस्कृतमें देव शब्दके भाववाचक रूपको देवत्व, देवता, देवतात्, देवताति, देवत्वन इन कई उदाहरणोंमें पा सकते हैं। संस्कृतके 'त्व' तथा 'त्वन'के समानान्तर सुनो [suno] प्रत्यय ग्रीकमें पाया जाता है। ये दोनों ही वस्तुत *तु [-अ-न] से विकसित हुए हैं। संस्कृतके 'ता' 'तात्' 'ताति' संभव हैं, कृदन्त प्रत्यय 'त' से विकसित हुए हों।

समास-प्रक्रिया —

संस्कृत पदरचनाकी एक प्रमुख विशेषता समास-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया प्रा० भा० यू० का ही विकास है, तथा ग्रीक, लैतिन, अवेस्ता आदि सभी भारतयूरोपीय भाषाओंमें पाई जाती है। जब हम संस्कृतकी समास-प्रक्रियाका उल्लेख करते हैं, तो हमारा तात्पर्य संस्कृतके उन समस्त रूपोंसे है, जो संस्कृतकी बोलचालकी भाषामें पाये जाते होंगे, तथा जिनका रूप वैदिक संस्कृत एवं बादकी लौकिक संस्कृतकी ही कई साहित्यिक कृतियोंमें पाया जाता है। इस सम्बन्धमें पहले यह समझ लें कि विश्वकी भाषाओंको हम सर्वप्रथम दो प्रकारकी मान सकते हैं—[१] सावयव तथा [२] निरवयव। निरवयव या व्यास प्रधान भाषाओंमें प्रत्येक शब्द अलग होता है तथा ये शब्द निश्चित भावका बोध कराते हैं। चीनी आदि एकाक्षर परिवारकी भाषाएँ इसी कोटिकी हैं। सावयव भाषाओंको पुन तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है.—[१] समास प्रधान, [२] प्रत्ययप्रधान, [३] विभक्तिप्रधान। समास-प्रधान भाषाओंमें सारे शब्द समस्त होकर प्रयुक्त होते हैं तथा कभी-कभी तो पूरा-का-पूरा वाक्य ही समस्त पद सा होता है। अमेरिकाके जगली लोगोंकी भाषाएँ इस कोटिमें आती हैं। प्रत्ययप्रधान भाषाओंमें किसी भी शब्दका दूसरे शब्दसे सबध बतानेके लिए प्रत्ययोंका प्रयोग किया जाता है। तुर्की तथा तमिल, तेलुगू, आदि द्रविड परिवारकी भाषाएँ इस कोटिकी हैं। विभक्तिप्रधान भाषाओंमें किन्ही दो शब्दोंके सबधको विभक्तियोंके द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे हम संस्कृतमें सुप् तथा तिङ् विभक्तियोंका प्रयोग करते हैं। समस्त भारतयूरोपीय परिवारकी भाषाएँ इस विभक्तिप्रधान कोटिमें आयेंगी। वैसे इन भाषाओंमें प्रत्यय तथा समास-प्रक्रिया भी पाई जाती है, किन्तु ये इन भाषाओंकी प्रमुख विशेषताएँ नही हैं। उदाहरणके लिए, संस्कृतमें यह आवश्यक नही कि "राजपुत्र" ही कहा जाय, यहाँ 'राज्ञ पुत्र 'से भी काम चल सकता है। वैदिक संस्कृत-मे यह समास-प्रक्रिया प्रा० भा० यू० तथा ग्रीककी भाँति सकुचित तथा

सीमित, अतएव स्वाभाविक रही है। लौकिक संस्कृतके परवर्ती साहित्यमें आकर, दण्डी, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदिमें प्रचुर समस्त पदावलीका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वह संस्कृत का वास्तविक रूप न होकर, कृत्रिम रूप है। वहाँ भी संस्कृत वैसे विभक्तिप्रधान ही है, क्योंकि समस्त पदोंके अन्तमें तो विभक्तिका प्रयोग होता ही है। शुद्ध समासप्रधान भाषाओं [यथा अमेरिकाकी जंगली भाषाएँ] में ऐसी कोई विभक्तियाँ प्रयुक्त नहीं होती।

तो, संस्कृतमें दो या अधिक शब्दोंको समस्त पदके रूपमें प्रयुक्त करनेकी यह प्रणाली प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुई है। यह समस्त पद, विभक्ति, स्वर तथा पदरचनाकी दृष्टिसे एक पदके रूपमें व्यवहृत होता है। जहाँ तक इन समस्त पदोंके कलेवरका प्रश्न है, संस्कृतमें ये पद ग्रीककी भाँति नातिदीर्घरूपमें ही पाये जाते हैं।[1] ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें तीन शब्दों से अधिक समस्त रूपवाले समासान्त पद नहीं पाये जाते। साथ ही ऐसे शब्द भी बहुत कम हैं, उदाहरणके लिए हम "पूर्व-काम-कृत्वन्" को ले सकते हैं। समस्त पदोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ ये है कि इनमें [प्राय] उदात्त स्वर एक ही स्थानपर पाया जाता है, तथा प्रथम शब्दका प्रयोग निर्विभक्तिक रूपमें होता है। किन्तु इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। यह अपवाद प्राय द्वंद्व समासोंमें-देवताद्वंद्वोंमें-पाया जाता है, वैसे कुछ अन्य प्रकारके समस्त पदोंमें भी यह अपवाद देखा जा सकता है [देखिये परिच्छेद ४]। लिंगकी दृष्टिसे इन समस्त पदोंका लिंग प्राय वही होता है, जोकि उत्तरपदका होता है, किन्तु नपुंसक रूप भी पाये जाते हैं। इन समासोंको सर्वप्रथम हम तीन कोटियोंमे विभक्त करते है —

[१] **उभयपदार्थ प्रधान**—इस कोटिके समासोंमें प्रत्येक पद स्वतंत्र होता है, उदाहरणके लिए द्वन्द्व समास।

---

१ ध्यान रखिए लौकिक संस्कृतके परवर्ती काव्योंकी भाषा इस नियमके प्रतिकूल है, किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे उसका कोई महत्व नहीं है।

[२] उत्तरपदार्थ प्रधान—इस कोटिके समासोंमें उत्तरपद, प्रथम [पूर्व] पदकी अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है, उदाहरणके लिए तत्पुरुष तथा कर्मधारय।

[३] अन्यपदार्थ प्रधान—इस प्रकारके समासान्त पद किसी अन्य-पदको विशिष्ट करते हैं। ये विशेषण होते हैं, यथा बहुव्रीहि।

यहाँपर हम इन्हीं तीनों प्रकारके समासोंका विवेचन करेंगे। भाषा-शास्त्रीय दृष्टिसे 'द्विगु' तथा 'अव्ययीभाव' इन दो प्रकारके समासोंका विकास बादका है। द्विगु वस्तुतः कर्मधारयका ही एक रूप है,[1] जहाँ प्रथम पद संख्यावाचक होता है [यथा नवग्रह, सप्तर्षि], तथा अव्ययीभावको कर्म-धारय या बहुव्रीहिसे विकसित माना जा सकता है। अव्ययीभावमें पूर्वपद अव्यय पाया जाता है, यथा यथाशक्ति, उपकूलम्, उपकुम्भम्। इस प्रकार-के समासान्त पद ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, यथा एँप अरोउरॉस् [ep-arouros] [जिसका खेत मिल गया हो], "अंखि-अलोस्" [ankhialos] [समुद्रतटके समीप, स० उपकूलम्]।[2]

संस्कृतमें दो प्रकारके द्वन्द्व समास पाये जाते हैं। इनमें प्रथम कोटिके अन्तर्गत दोनों ही पद विशेषण होते हैं, यथा नीललोहित, ताम्रधूम्र, अरुण-पिशङ्ग में। इस प्रकारके समास वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं, किन्तु इनका प्रयोग कम ही पाया जाता है।[3] दूसरे प्रकारके द्वन्द्वोंमें दोनों ही पद संज्ञा होते हैं। इन्हें भी पुनः दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, [१] देवताद्वन्द्व, [२] साधारणद्वन्द्व। देवताद्वन्द्वोंमें प्रायः दोनों पद द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं, तथा दोनों पदोंमें स्वतन्त्र रूपसे उदात्त स्वर पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम "मित्रा-वरुणा", 'सूर्या-चन्द्रमसा" को ले सकते

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik vol II P 305.
२. ibid. vol II P. 310
३. Wackernagel Altindische Grammatik P 171§74[B].

है। ऐसा जान पड़ता है, इस प्रकारके समासोंमें युग्म होनेके कारण दोनोंको द्विवचन मान लिया गया है। कभी-कभी ऐसे भी प्रयोग पाये जाते हैं, जहाँ ये पद समस्त न होनेपर भी द्विवचनमें प्रयुक्त होते हैं; यथा—

इन्द्रा नु पूषणा [ऋ. ६७, ५, ७१], इन्द्रान्वग्नी [६, ५९, ३],

विष्णू अगन् वरुणा [तै. आ. २.९.४ ५]

वसु मंहि मित्रयो रा मेति प्रियं वरुणयोः [६.५१.१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समासमें देवताद्वन्द्वपद प्रायः सविभक्तिक रूपमें पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें 'मित्रयो-र्वरुणयोः' [ऋ. ७, ६९, १] जैसे समस्त पदोंकी उपलब्धि होती है, जहाँ पूर्व तथा उत्तर दोनों पद षष्ठी द्विवचनमें हैं। इस प्रकारकी प्रवृत्ति हम अवेस्तामें भी पाते हैं, जैसे 'अहुरएब्य-मिथ्रएब्य' [ahuraebya miθraebya], जो संस्कृतके असुरेभ्यो-मित्रेभ्यः के द्वारा अनूदित किया जा सकता है। बादमें आकर धीरे-धीरे ऋग्वेदमें ही ये द्वन्द्व उस विकासकी ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं, जो लौकिक संस्कृतमें पाया जाता है। ऋग्वेदमें ही कई स्थानोंपर बादमें 'सूर्या-चन्द्रमसा' के प्रथम पद 'सूर्या' के 'र्या' वाले अक्षर [syllable] का उदात्त स्वर लुप्त हो गया है, तथा उसकी बादकी ऋचाओंमें 'इन्द्र-वायू' [प्राचीनरूप 'इन्द्रा-वायू'] जैसे रूप पाये जाने लगे हैं। इन्हींसे मिलते-जुलते द्वन्द्व वे हैं, जिनमें द्वन्द्व-पद बहुवचनमें पाया जाता है, यथा अहोरात्राणि [अघमर्षणसूक्त], अजावयः [पुरुषसूक्त]। कुछ द्वन्द्व समाहृत होकर नपुंसकके रूपमें भी प्रयुक्त होते हैं, यथा—इष्टा-पूर्तम्, कृता-कृतम्, केदारमशू।

१. ibid. P. 151-52§63 [C]

लौकिक संस्कृतमें जहाँ कहीं हम प्रथम पदमें द्विवचन देखते हैं, वे सब वैदिक कालीन द्वन्द्वोंके ही अवशेष हैं। संस्कृतमें बादमें आकर नवीन शब्दोंमें इनका सर्वथा लोप हो गया है, यथा राम-लक्ष्मणौ में। ये वैदिक कालीन द्वन्द्व कभी-कभी एक ही पदके द्विवचन रूपमें प्रयुक्त होते हैं, तथा इनके कुछ अवशिष्ट संस्कृतमें भी पाये जाते हैं। वेदमें द्यावा, मित्रा का प्रयोग द्यावा-पृथिवी, मित्रा वरुणा के अर्थमें पाया जाता है। लौकिक संस्कृतमें भी हम पितरौ [जगत पितरौ वन्दे]का प्रयोग माता पितरौ के अर्थमें देखते हैं।

तत्पुरुष समासोंमें प्रथम पद किसी न किसी कारक [विभक्ति ?] का बोध कराता है। इसमें यदि प्रथम पद कर्म, करण, अपादान अथवा अधिकरणका बोध कराता है, तो प्राय द्वितीय पद धातुज संज्ञा [verbal noun] होता है। किन्तु यदि यह प्रथम पद सम्प्रदान अथवा सम्बन्धका बोध कराता है, तो वह केवल संज्ञा होता है। उदाहरणके लिए क्रमश गोघ्न, देवदत्त, पङ्कज [गो-ज], प्रहुर्जात, विश्व-शम्भू [विश्वाय], विश्पति, देव किल्बिष को ले सकते हैं। कभी-कभी इनमेंसे प्रथम पदकी विभक्तिका लोप नहीं होता। इस प्रकारके समास वैयाकरणोंकी परिभाषामें 'अलुक्' कहलाते हैं। धनञ्जय, वाचास्तेन, दस्यवेवृक, दिवोज ब्रह्मणस्पति, शुन शेप, रथेष्ठा, सरसिज में यही अलुक् प्रवृत्ति पाई जाती है।[1] इस प्रकारकी प्रवृत्ति अवेस्तामें भी पाई जाती है, यथा वीरुअम्-ज़न् [wirām zan] [सं० *वीरहन्]। इस सबंधमें यह कह देना आवश्यक होगा कि तत्पुरुष समास ऋग्वेदमें कम ही पाये जाते हैं। प्राचीन ग्रीकमें भी इस प्रकारके समास कम ही[2] हैं। अधिकतर ये समास पद तथा पति के संयोगमें पाये जाते थे, यथा ग्रीक द पेदोन [dapedon], देस्-पोतस् [despotes] (प्रा० रू० *देम्पोतस् [dem potes]—मिलाइए सं० दम्पति [*दमस्पति]।

---

१. ibid. pp 246 and following, § 99.

२ ibid p 241, § 97 (a)

वैदिक संस्कृतमें कर्मधारय समास, जिनमें पूर्वपद विशेषण होता है, इनसे भी कम पाये जाते हैं। प्राचीनतम उदाहरण एक-वीर॰, चन्द्र-माः, महा-धनः हैं। कई कर्मधारयोंमें उपसर्ग भी प्रथम पदके रूपमें प्रयुक्त पाया जाता है, यथा प्रपथात्। कुछ उदाहरणोंमें प्रथम पद धातुज अंश होता है यथा प्रसदस्यु, शिक्षा-नर, रदा-वसु, जिनमें वस्तुत प्रथम पद लोट्के मध्यम पुरुष एकवचनका रूप है [शिक्षा तथा रदा मे पूर्व पदका अन्तिम स्वर अ दीर्घ हो गया है]।[1] लौकिक संस्कृतमें आकर ये कर्मधारय प्रचुरता मे पाये जाने लगे हैं।

बहुव्रीहि समास अन्य-पदार्थ-प्रधान होते हैं। प्राचीन भाषामें ये कर्मधारयकी अपेक्षा विशेष पाये जाते हैं। इस तथ्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ये समास वस्तुतः विशेषणीभूत कर्मधारय ही हैं, जिनमें शुद्ध कर्मधारयसे केवल यही भेद है कि इनमें उदात्त स्वर प्रथम अक्षरपर पाया जाता है। इस प्रकारके स्वरभेदको हम चतुर्थ परिच्छेदमें दिखा चुके हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रमें इन बहुव्रीहि समासोंका उद्‌भव एक प्रकारका सामस्यिक प्रश्न है। वाकेरनागेलके मतानुसार बहुव्रीहि समास वस्तुत व्यस्त रूपोसे विकसित हुआ है। वह बताता है कि इन्द्रज्येष्ठा देवाः को इन्द्रो ज्येष्ठ " ' देवाः से विकसित माना जा सकता है।[2] इस प्रकारके व्यस्त रूप जिनसे इन बहुव्रीहियोंका विकास माना जा सकता है, लैटिन तथा प्राचीन फारसीमें भी पाये जाते हैं। वाकेरनागेलने इसी सम्बन्धमे इन दोना भाषाओंसे मे उदाहरण दिये हैं।—

उर्ब्स् अंतीका फुइत, तीरी तेन्युएरे कोलोनी कार्थागो।

[urbs antica fuit, tiri tenuere coloni Carathago]

[कार्थेग [एक] प्राचीन नगर था, [जहाँ] तीरीय लोग निवासी थे]। संस्कृतमें इसे यों अनूदित कर सकते हैं आसीत् कार्थागो [इति] पुरा॰

---

१. ibid. p. 316 § 120 (c)

२. Wackernagel. Altindische Grammatik p. 290 § 112(c)

तना पुरी; तौरिण [तौरिन] निवासिनो बभूवु। यहाँ हम 'तारीन लोग रहते थे' के स्थान पर, इसे "जहाँ तौरीन लोग रहते थे" इस रूपमें समस्त बहुव्रीहि बनाकर "तौरिनिवासिनी" [तौरिण निवासिन यस्या सा] का प्रयोग भी कर सकते हैं। इसी प्रकार बहुव्रीहिका विकास माना जा सकता है। वाकेरनागेलका फारसीवाला उदाहरण यह है —"मर्तिय फ्राद नाम" [martiya frada nama], [एक मनुष्य, फाद [उसका] नाम [था]]। इसे भी संस्कृतमें "फ्रादनामा" के रूपमें बहुव्रीहि बनाया जा सकता है। इस सब विवेचनका तात्पर्य यह है कि यह समास व्यस्त वाक्यसे ही विकसित हुआ है। बहुव्रीहिके उदाहरणके रूपमें हम अश्वपृष्ठ, यमश्रेष्ठ, प्रयत-दक्षिण, उग्रबाहु, हतमातृ, राजपुत्र, हिरण्यनेमि, दुष्पद, सुपर्ण, अपत् [अपात्] ले सकते हैं।

सज्ञा, विशेषण तथा सर्वनामके रूपोका विवेचन करनेके पूर्व हमें थोडा उन परिवर्तनोंकी ओर ध्यान देना होगा, जो एक ही शब्दके विभिन्न रूपोमे पाये जाते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं सप्रत्यय या अ विकरणयुक्त [थेमेटिक] नाम रूपोमें प्राय एक अपरिवर्तनशील अन्त प्रत्यय 'अ' [थेमा thema] पाया जाता है। किन्तु प्राचीनकालसे ही प्रत्ययहीन रूपोकी सख्या बहुत पाई जाती है, जिनके अन्तर्गत अन्त प्रत्यय [विकरण] स्वरकी मात्रा तथा उदात्तादिस्वरकी दृष्टिसे बडा भेद पाया जाता है।

पुरुषवाचक सर्वनामो [personal pronouns] तथा कतिपय निर्देशात्मक सर्वनामो [demonstrative pronouns] में प्राय एक ही प्रकारका अन्त प्रत्यय पाया जाता है। अहम्, माम्, मम, स, सा, तत्, तस्य, ते आदिमें। जिनमे मूलरूपमे रेफ, 'इ', 'उष्मध्वनि' या ऊ पाया जाता है, इनके कई रूपोमें प्राय 'न' [अन्त प्रत्यय] का प्रयोग होता है। अधिकतर यह प्रयोग नपुसक लिंगके रूपोको ही विशेषता है। पुंल्लिंग व स्त्रीलिंगमें यह बहुत कम पाया जाता है।

अहर्, अह्नः अह्नाम् [अवेस्ता अश्नम् [as̆nam]
असृक्, अस्न, हित्ताइत, एश्हर [es̆har], एश्नश् [es̆nas̆]
अक्षि, अक्ष्णः
• धि, दध्न
शिरस्, शीर्ष्णः
स्नुप् [स्नुः], स्नुष्णः [ऋग्वेद]
दोष् [दोः], दोष्णः
दारु, द्रुणः [वैदिककाल], दारुणः [लौकिक संस्कृत]

स्वरका परिवर्तन भी हम कई रूपोंमें देख सकते हैं, उदाहरणके लिए 'उ' कारान्तके दो प्रकारके परिवर्तन हम गुरो [गुरु] तथा दिवः [द्यु] में देख सकते हैं। प्रा० भा० यू० में जहाँ ओ, ऐ तथा शून्य का परिवर्तन पाया जाता है, भारत-ईरानी वर्गमें आ, अ, तथा शून्य [zero] पाया जाता है। उदाहरणके लिए हम वृत्रहा, वृत्रहणम्, वृत्रघ्नः को ले सकते हैं जिनमें क्रमशः आ, अ तथा शून्य रूप पाये जाते हैं। ठीक यही रूप क्रमशः पिता, पितरं, पित्रे में पाये जाते हैं।

संस्कृत शब्दरूपः—संस्कृत शब्दरूपोंमें तीन लिंग, तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं। संस्कृतके लिंग-विधानके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह अज्ञात व्याकरणात्मक है, यही कारण है कि हमें 'दार' जैसे स्त्रीवाचक शब्दोंमें पुंलिंग मिलता है, तो 'कलत्र' 'मित्र' जैसे अनपुंसक वाची शब्दोंमें भी नपुंसक लिंग। संस्कृत वैयाकरणोंने व्याकरणात्मक लिंग विधानके नियमोंकी अवतारणा की है। प्रा० भा० यू० लिंगविधानके विषय में विद्वानोंका यह मत है कि वहाँ मूलतः दो ही लिंग रहे होंगे, एक 'सामान्य-लिंग' जिसमें पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों समाहित होते हैं, तथा दूसरा 'नपुंसकलिंग'। हित्ताइत भाषामें इस प्रकारका लिंगविधान पाया जाता है, जहाँ स्त्रीलिंगका अभाव देखा जाता है। इसके बाद कहीं जाकर प्रा० भा० यू० के परवर्ती विकासमें स्त्रीलिंगका विकास हुआ है। किन्तु जहाँ तक

द्विवचनके अस्तित्वका प्रश्न है उसके चिह्न हित्ताइत तकमें पाये जाते हैं। संस्कृत, ग्रीक तथा लिथुआनियन आदिके आधारपर मेये एवं अन्य भाषाशास्त्रियोंने प्रा० भा० यू० में द्विवचनका अनुमान किया है तथा हित्ताइत भाषाके विश्लेषणने उसकी पुष्टि कर दी है।

संस्कृत शब्दोंको आठ विभक्तियोंमें जोड़े जानेवाले विभक्ति चिह्न निम्न हैं :—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०	पु० स्त्री०	नपु०
प्रथमा	स्	—	औ [आ]	ई	अस्	इ[1]
द्वितीया	अम्	—				
तृतीया	आ [एन]	आ [एन]			भिस्	भिस्
चतुर्थी	ए	ए	भ्याम्	भ्याम्	भ्यस्	भ्यस्
पञ्चमी } षष्ठी	अस्	अस्			आम्	आम्
सप्तमी	इ	इ	ओस्	ओस्	सु	सु
सम्बोधन	—	—	औ	ई	अस्	इ

संस्कृतके संज्ञारूपोंको अजन्त तथा हलन्तकी दृष्टिसे पुनः विभाजित किया जा सकता है। अजन्त शब्दोंको निम्न कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है —

---

१ नपुंसक लिंगके बहुवचनमें अदन्त शब्दोंमें 'इ' के पूर्व 'न्' जोड़ दिया जाता है, यथा ज्ञानानि। यह 'न्' अघोष तथा ऊष्म व्यञ्जनके अन्तमें होनेपर भी जोड़ा जाता है, यथा धनूंषि, जगन्ति, प्रत्यञ्चि।

[१] अकारान्त तथा आकारान्त शब्द.

[२] इकारान्त तथा उकारान्त शब्द.

[३] ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द.

[४] ऋकारान्त शब्द.

[५] ध्वनियुग्मान्त [diphthong-ending] शब्द.

हलन्त शब्दोको भी दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं—

[१] अपरिवर्तनशील अन्त वाले शब्द, इस कोटिके शब्दोके रूपोंमें परिवर्तन नहीं पाया जाता, यथा जगत्, पात्, वाक् आदि।

[२] परिवर्तनशील अन्त वाले हलन्त शब्द; इस कोटिके शब्दोंमें वे आते हैं, जो त्, न्, स् अथवा च् अन्त वाले प्रत्ययोंसे बनते हैं। महत्, कनीयस्, हस्तिन्, वृत्रहन्, प्रत्यञ्च् आदि इस कोटिके शब्दोंके उदाहरण हैं।

यहाँ हम केवल संस्कृत विभक्तिचिह्नोंका ही भाषावैज्ञानिक विकास देंगे। शब्दरूपोंका संकेत हमने परिशिष्ट 'ख' में किया है, जहाँ तुलनात्मक दृष्टिसे ग्रीक तथा लैटिनके समानान्तर अजन्त तथा हलन्त शब्दरूपोंका भी विवरण मिलेगा।

एकवचन रूप

संस्कृतके पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके प्रथमा एकवचनमें दो प्रकारके रूप पाये जाते हैं। कुछ रूपोंमें। [प्राय अजन्तोंमें] 'स्' [सुप्] विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है। यह विभक्तिचिह्न अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, तथा ऊकारान्त शब्दोंमें तथा ध्वनियुग्मान्त शब्दोंमें नियत रूपसे जोड़ा जाता हैं। आकारान्त तथा ईकारान्त शब्दोंमें इस स् का प्रयोग कम पाया जाता है, जिसके उदाहरण विश्वपाः, [पु०], सुधीः, [पु०] श्रीः, ह्रीः [स्त्री०] दिये जा सकते हैं। हलन्त शब्दोंमें यह स् नहीं जोड़ा जाता। किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० *स्* [*—S]

[सं० स्] कुछ हलन्तोंमें भी जोड़ा जाता था। उदाहरणके लिए सम्स्कृतके वाक्, विट्, विद्वान् के समानान्तर रूपोंके लिए अवेस्ता वाख्श् [vaxš], विश्, [wiš], ग्रीक एइदोस् [eidos] [अर्थ, पण्डित या ज्ञानी] को लीजिए।[1] इससे स्पष्ट है कि सस्कृतके क्, ट्, न्, जो इन रूपोमें पाये जाते है, सभवत भारत-ईरानी प्रथमा विभक्ति चिह्न स् के ही अन्य विकसित रूप है। वैसे पिता, सखा, हस्ती, श्वा आदि रूपोंमें इस स् का सर्वथा अभाव है। अवेस्तामें हम इसे देख सकते हैं—पिता, हखा, स्पा [pitā; haxā; spā]। 'स्' के प्रयोगके लिए प्रा० भा० यू० रूपोंसे विकसित रूपोंके ये उदाहरण ले सकते हैं —

वृकः	ग्रीक	लुकॉस्	[lukos]
गिरिः	अवे०	गइरिश्	[gairiš]
क्रतुः	,,	ख्रतुश्	[xratus]
द्यौ	ग्रीक	ज़ेउस् = *द्ज़ेउस्	[zeus = *dzeus]

इन शब्दोंके द्वितीया एकवचन रूपोंमें 'म्' विभक्तिचिह्न जोड़ा जाता है। यह म् हलन्त शब्दोंके रूपोंमें अम् हो जाता है, यथा* दधत्—दधतम्। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० स्वरीभूत *म् से माना जाता है, जो ग्रीकमें न तथा अ के रूपमें विकसित हुआ है।

सस्कृत अश्वम् अवे० अस्पअम् [aspəm] ग्री० हेप्पोन् [heppo-n]
,, पादम् ,, पाद्अम् [padəm], ,, पोद [poda]

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि जहाँ सस्कृतमे अजन्तोंमे म् जोड़ा जाता है, वहाँ ग्रीकमें न् पाया जाता है, और हलन्तोंमें सस्कृतमें अम् जोड़ा जाता है, ग्रीकमें केवल अ ही पाया पाना है।

---

१. Bloch : L' Indo-Aryen p. 117.

संस्कृतमें नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीयाके एकवचन दोनों एकसे ही होते हैं। इनमें भी हम दो प्रकारकी कोटियाँ विभक्त कर सकते हैं। अकारान्त शब्दोंमें 'म्' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, किन्तु अन्य स्वरान्त तथा हलन्त शब्दोंमें "शून्य [zero]" विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। इस संबंधमें, पदरचनाशास्त्रमें इस "शून्य" के महत्त्वपर दो शब्द कह दिये जायँ। वस्तुतः यह 'शून्य [O]" भी ठीक वही कार्य करता है, जैसा कोई विभक्ति चिह्न या प्रत्यय। उदाहरणके लिए संस्कृतके 'शतृ' प्रत्ययको ले लीजिए। यह शतृ प्रत्यय वर्तमान काल [लट्] के प्रथम पुरुष एकवचनके रूपको स्वरहीन बना देता है, पठत्, भवत्, कुर्वत्, किन्तु इसके साथ अन्य कोई ध्वनि नहीं जोड़ी जाती। अर्थात् ध्वन्यात्मकताकी दृष्टिसे शतृका कोई महत्त्व भले ही न हो, किन्तु पदरचनाकी दृष्टिसे इसका महत्त्व मानना ही होगा। विशेष स्पष्टीकरणके लिए शतृ-प्रक्रियाको भाषावैज्ञानिक यों व्यक्त करेगा —

करोति [*कुर्वंति] + शतृ [O] = कुर्वत् + O = कुर्वत्
पठति + शतृ [O] = पठत् + O = पठत्
भवति + शतृ [O] = भवत् + O = भवत्

यहाँपर हमें कोई न कोई प्रत्यय मानना पड़ता है, भाषावैज्ञानिक उसे 'शून्य' [zero] कहेगा, पाणिनिने उसके लिए 'लुक्' संज्ञा दी है। आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि पाणिनिने इस "शून्यके" पदरचनात्मक महत्त्वको भली भाँति समझा था। तभी तो ध्वनि, प्रत्यय आदिके लोपकी परिभाषा "अदर्शनं लोपः" से उनका तात्पर्य मेरी समझमें यह था कि यद्यपि वह ध्वनि, प्रत्यय या विभक्तिचिह्न दिखाई नहीं देता, तथापि प्रकृतिमें विकार उत्पन्न करनेमें वह पूर्णतः सक्षम होता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह विकार कभी कभी स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता। नपुंसक लिंगके हलन्त शब्दोंके प्रथमा तथा द्वितीया एकवचन रूपोंमें प्रायः यही "शून्य" विभक्तिचिह्न [zero inflexion] पाया जाता है। जगत् शब्दके प्रथमा द्वितीया एक-

वचनके रूप जगत् में भाषाशास्त्री स्पष्ट ही "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न मानेगा।

शब्द		विभक्तिचिह्न [प्रथमा द्वितीया-ए-व०]		पद
जगत्	+	O	=	जगत्
भवत्	+	O	=	भवत्
गच्छत्	+	O	=	गच्छत्

यदि ऐसे 'शून्य' विभक्तिचिह्नकी सत्ता न मानी जायगी, तो ये पद प्रथमा या द्वितीया एकवचनके रूपका बोध नहीं करा सकेंगे। नपुंसक लिंगके दोनों तरहके रूपोंके उदाहरण ये हैं —

सं०	क्षत्रम्	अवेस्ता	ख्शथ्रम्	[xs'aθrəm]
,,	मधु	,,	मदु	[maδu]
,,	स्वर्	,,	ह्वरॅ	[hvarə]
,,	मनः	,,	मनो	[mano]
,,	महत्	,,	मज़त्	[mazat]

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया एकवचनमें इ सुप् विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है। इस इ सुप् विभक्तिचिह्नको हम अक्षि, सक्थि, अस्थि, दधि में देख सकते हैं[1]। संस्कृतके इन तथाकथित इकारान्त नपुंसक लिंग शब्दोंमें वस्तुतः वह 'शून्य' विभक्तिचिह्न नहीं माना जा सकता, जिसे हम मधु, मनस् [ ] या महत् में देख सकते हैं। तात्त्विक दृष्टिसे इन प्रथमा द्वितीया एकवचन रूपोंको अक्ष[-न्], सक्थ[-न्], अस्थ[-न्], दध [-न्] रूपोंमें 'इ' विभक्तिचिह्न जोड़कर बनाया माना जा सकता है। इस प्रकारका इ सुप् प्रत्यय हम वारि में भी देख सकते हैं, जहाँ वार् + इ है। वार् शब्द संस्कृतमें स्वतन्त्र रूपमें भी पाया जाता है, जिसका षष्ठ्यन्त रूप 'वारां निधि' में देखा जा सकता है। यही कारण है कि इन

1. Wackernagel Altindische Grammatik Vol 2. p 34 § 11 (d)

शब्दोंके अन्य विभक्तिके रूपोंमें हम 'इ' का सर्वथा अभाव पाते हैं, यथा दध्नः, दध्नाम्, अक्ष्णा, अक्ष्णे; आदि रूपोंमें। यदि 'इ' शब्दका ही ध्वनिभूत अंश [ध्वन्यंश] होता, तो *दधिनः, *दधिनाम्, *अक्षिणा, *अक्षिणे रूप पाये जाने चाहिए थे, जैसा कि उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है, यथा मधु के इन रूपोंमें मधुनः, मधुनाम्।

तृतीया एकवचनमें कई प्रकारके सुप् चिह्न पाये जाते हैं। महर्षि पाणिनिने इन सभी तृतीयैकवचन विभक्तिचिह्नोंको 'टा' के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः ठीक भी है, क्योंकि इनमेंसे अधिकतर आ से विकसित हुए हैं, जो वेदमें पाया जाता है। सं० वाचा [लौकिक संस्कृत वचसा भी], पदा, मनसा, उषा, क्षमा, वृजन्ना, पित्रा जैसे तृतीयैकवचनान्त वैदिक तथा कुछ लौकिक संस्कृत रूपोंमें यही आ विभक्तिचिह्न है। संस्कृतके अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें तृतीया एकवचनका विभक्तिचिह्न "एन" [सं० देवेन] देखा जाता है। ऋग्वेदमें ही यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, किन्तु वहाँ साथ ही साथ 'आ' वाला रूप भी पाया जाता है। इस तरह वहाँ 'देवा' 'देवेन' दोनों रूप तृतीया एकवचनमें मिलते हैं। यह '–एन' वस्तुत: तेन, येन जैसे सर्वनाम शब्दोंके तृतीया एकवचन रूपोंके सादृश्य पर चला होगा। वाकेरनागेलने अन्य प्रकारके तृतीयैकवचनान्त सुप् विभक्ति चिह्नोंको इस तरह विभाजित किया है —[1]

आकारान्त रूपोंमें आया तथा आ विभक्तिचिह्नके रूप पाये जाते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त रूपोंमें [इ] या, [उ] वा, इना, उना, तथा ई, ऊ इस प्रकार तीन तीन तरहके विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए हम वैदिक संस्कृतसे आकारान्त शब्दोंके तृतीयैकवचनके विकल्प रूप स्वधा, स्वधया, जिह्वा, जिह्वया ले सकते हैं। इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें तृतीयैकवचन रूपोंमें प्राचीनतम रूप नि सन्देह ई तथा ऊ वाले हैं, यथा वैदिक सं० चित्ती [लौ० सं० चित्या] वै० सं० क्रतू [लौ० सं० क्रतुना]। वस्तुत:

1. ibid. p. 34–35. § 12.

प्राचीन भारतयूरोपीय तृतीया एकवचनकी सुप् विभक्तिकी कल्पना *भ [*ə] के रूपमें की जा सकती है, जिसके कारण ह्रस्व इ, उ दीर्घ होकर तृतीयैकवचनान्त रूप बनेंगे। या तथा वा वाले रूप ईकारान्त देवी जैसे शब्दोंके रूप देव्या के सादृश्यपर पाये जाने लगे होंगे। इसी प्रकार तृतीया एकवचनका ना वाला विभक्तिचिह्न इनन्त शब्दोंके तृतीयैकवचनान्त रूपोंके सादृश्यपर बना होगा, यथा—

करि [न्]–करिणा : : हरि–हरिणा : : भानु–भानुना।

चतुर्थी एकवचनमें 'ए' विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जिसे प्रा० भा० यू० *अइ तथा *एइ का विकसित रूप माना जाता है। ग्रीकमें चतुर्थीके एकवचनमें ओइ का प्रयोग होता है, यथा लोगोइ [logoi [अर्थ, शब्दके लिए]। अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'ए', 'आय' का रूप धारण कर लेता है, यथा देवाय। ईकारान्त रूपों [स्त्रीलिंग रूपों] में यह ऐ के रूपमें विकसित देखा जाता है, यथा देव्यै [देवीसे चतु० ए० व०]। आकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके चतुर्थी एकवचन रूपोंमें मूल शब्द तथा सुप् प्रत्ययके बीचमें आय अक्षर जोड दिया जाता है, यथा सूर्यायै [सूर्या से चतु० एकवचन]।

पञ्चमी एकवचन तथा षष्ठी एकवचन दोनोंके रूपोंको साथ-साथ ही लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट है, इन दोनोंका विभक्तिचिह्न अस् है। इसका अपवाद हम केवल अकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाते हैं, जहाँ पञ्चमीमें आत् तथा षष्ठीमें स्य विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं। पञ्चमीके इस आत् को हम प्रा० भा० यू० *ओद् [तथा *एद्] से जोड सकते हैं। यह *ओद्, आद् के रूपमें लैटिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें वस्तुतः पञ्चमी [Ablative] का ही अभाव है[1]। लैटिनमें तो सम्भवतः यह स्त्रीलिंग शब्दोंमें भी पाया जाता होगा। लैटिनके 'मेन्साद' [mensād] [टेबुलसे], अन्नोद [annōd] [वर्षसे], इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि संस्कृतके 'देवात्–द्' में

---

१. देखिए परिशिष्ट ख।

सदृश विभक्तिचिह्न वहाँ पाया जाता है[1]। षष्ठीके एकवचनमें प्रा० भा० यू० में *एस् तथा ओस् विभक्तिचिह्नकी कल्पना की गई है, जो पञ्चमीका भी विभक्तिचिह्न था। संस्कृतका 'अस्' विभक्तिचिह्न इसीसे विकसित हुआ है, जो हरे: [हरि + अस्], विष्णोः [विष्णु + अस्] में स्पष्ट है। यहाँ यह रूप पञ्चमी तथा षष्ठी दोनोंके एकवचनमें पाया जाता है। संस्कृत अकारान्त शब्दोंके षष्ठी एकवचनका स्य विभक्तिचिह्न वस्तुतः सर्वनाम शब्दों के षष्ठी एकवचनका विभक्तिचिह्न था। धीरे-धीरे तस्य, यस्य के सादृश्य देवस्य आदि रूपोंका विकास हुआ है। षष्ठीका विभक्तिचिह्न स् के रूपमें ग्रीक तथा लैतिनमें भी विकसित हुआ है—ग्रीक, खोरास् [khōras] [देशका], पोलिओस् [polios] [पुरीका, सं० पुर, पुर्या], लैतिन, मेन्सास [mensas] [टेबुलका], सिउइस् [ciuis] [नागरिकका]। यह संस्कृत पञ्चमी-षष्ठी विभक्तिचिह्न अस् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंमें यह ए तथा ओः रूप धारण कर लेता है। ऋकारान्त शब्दोंमें यह उ. [सं० पितु] पाया जाता है।

सप्तमी एकवचनका चिह्न 'इ' है। यह 'इ' विभक्तिचिह्न मनसि, नदि, विशि, सन्धि में तथा हरे, हस्ते, देवे [अ + इ = ए] में स्पष्ट है। हलन्त शब्दोंके सप्तम्यैकवचन रूपोंमें भी यह 'इ' विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस 'इ' का विकास कहीं-कहीं ग्रीक भाषामें भी मिलता है, यथा ग्रीक पोलि [poli] [सं० पुरि] वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे सप्तम्यन्त [एकवचन] रूप भी मिलते हैं, जिनमें कोई विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता। वस्तुतः इन रूपोंमें "शून्य-विभक्तिचिह्न" [zero-inflexion] होता है। वैदिक भाषामें इकारान्त, उकारान्त, ईकारान्त तथा 'अन्' अन्तवाले शब्दोंके सप्तमी एकवचनके रूपमें कोई ध्वन्यात्मक विभक्तिचिह्न [phonetic inflexion] नहीं पाया जाता, उदाहरणके लिए, "परमे व्योमन्" यहाँ

1 Atkinson : Crek Language p- 82

व्योमन् वस्तुतः सप्तम्येकवचनान्त रूप है, जो लौकिक संस्कृतमें व्योम्नि बन जाता है। कुछ ऐसे भी हलन्त शब्दोंके सप्तमी ए० व० रूप हैं, जो शून्य रूपोंसे लगते हैं, यथा अहर्। इन अर् अन्तवाले रूपोंको सप्तम्यन्त माना जाय, या स्वर् की भाँति केवल क्रियाविशेषण ? वस्तुतः ये सभी शून्य रूपवाले अथवा शून्य विभक्तिचिह्न रूप आरम्भमें क्रियाविशेषण ही थे। बादमें आकर इनके साथ भी सुप् प्रत्यय इ का प्रयोग होने लग गया होगा। किन्तु अन् अन्तवाले शब्दोंमें भारत ईरानी वर्गतक यह इ का प्रयोग नहीं पाया जाता। वेदोंमें यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है, यथा अहन्, अश्मन्, जो सप्तम्यन्त रूप हैं। वैदिक भाषामें ईकारान्त तथा ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] शब्दोंके सप्तमी एकवचन रूपोंमें "शून्य" [O] विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा नदी, तनू, चमू। इन रूपोंको अकारान्त शब्दोंके रूपोंके सादृश्यपर जनित माना जा सकता है। उदाहरणके लिए संस्कृत दम शब्दका सप्तमी एकवचनका दमे तथा बहुवचनका दमेषु रूप होता है; इसी आधारपर ये रूप यों बने होंगे—

दमे : दमेषु :: नदी : नदीषु :: चमू : चमूषु :: तनू : तनूषु

संस्कृत इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंके रूपोंमें पाया जानेवाला औ [हरौ, भानौ] प्रा० भा० यू० न होकर भारत-ईरानी वर्गकी विशेषता है। यह *औ अवेस्तामें आो तथा अव के रूपमें पाया जाता है। यह *औ विभक्तिचिह्न आरम्भमें केवल उकारान्त शब्दोंकी ही विशेषता थी, तथा इकारान्त शब्दोंका विभक्तिचिह्न *आइ रहा होगा। धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर अग्नौ, गिरौ, इष्टौ में भी यह चिह्न पाया जाने लगा। इस *आइ का संकेत हम वैदिक संस्कृतके कुछ सप्तमी ए० व० रूपोंमें, जैसे श्रुता, अग्ना में पा सकते हैं, जहाँ यह चिह्न ध्वनिपरिवर्तनके कारण केवल 'आ' रह गया है। इनका प्राचीन रूप हम *श्रुताइ, *अग्नाइ मान सकते हैं[1]।

---

१ Bloch : L'Indo-Aryen P. 119.

सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें स्त्रीलिंग रूपोंमें एक और विभक्ति चिह्न पाया जाता है,—"आम्" । यह आम् आकारान्त, साथ ही ह्रस्व एवं दीर्घ इकारान्त तथा उकारान्त स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें पाया जाता है । इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *आइ [आ+इ] से मानी जा सकती है, जिसका प्रयोग आकारान्त शब्दोंमें पाया जाता था । यह *आइ विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गमें आकर *आयय के रूपमें विकसित हुआ, तथा अवेस्तामें "अय" के रूपमें पाया जाता है ।[1] संस्कृतमें आकर इसमें अम् जोड दिया गया है, और इस तरह यह विभक्तिचिह्न ठीक उसी तरह आयां [आया+अम्] बन गया है, जैसे अवेस्ताका तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी द्विवचनका विभक्ति-चिह्न ब्य [bya] संस्कृतमें भ्याम् हो गया है । सप्तमी एकवचनके ये रूप दोनों भाषाओंके इन समानान्तर उदाहरणोंमें देखे जा सकते है —

सं० ग्रीवायाम्, अवेस्ता ग्रीवय [griwaya]

संबोधन एकवचनके रूपोंमें प्रायः शून्य विभक्ति रूप ही पाया जाता है । संस्कृत अकारान्त शब्दोंके इन रूपोंमें शून्य विभक्तिचिह्न पाया जाता है । किन्तु ग्रीकमें इनके समानान्तर ओकारान्त शब्दोंके संबोधनके एकवचन रूपोंमें ऐ [e] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यथा लोगे [loge] [हे शब्द] । किन्तु अन्य अन्तवाले ग्रीक शब्दोंके इस विभक्तिके ए० व० रूपोंमें कोई चिह्न नहीं पाया जाता, जब कि संस्कृतके आकारान्त शब्दोंके रूपोंमें 'ए' अन्तवाले रूप [सं० रमे = रमा + इ], इकारान्त तथा उकारान्तोंमें ए तथा ओ अन्तवाले रूप [हरे ∠ *हरि + अ = *हरा + इ[2]], [भानो ∠ *भानु + अ = *भाना + उ[2]], तथा ईकारान्त रूपोंमें दीर्घ ईकारका ह्रस्व इ पाया जाता है, [देवि, नदि] । हलन्तोंमें ये रूप प्रायः मूल रूप या

1. Wackernagel . Altindische Grammatik Vol. III, P. 43 §16 [1]

२. वर्णविपर्यय हो गया है।

शून्य विभक्तिचिह्न युक्त ही पाये जाते हैं। लैटिन भाषाके सबोधन एक-वचन रूपोंमें केवल कुछ ही शब्दोंके साथ ए विभक्तिचिह्न पाया जाता है। इस सम्बन्धमें '—वन्त' शब्दोंमें सम्बोधन एकवचन रूपोंमें प्राय 'स्' पाया जाता है, यथा इन रूपोंमें—चिकित्व, ऋतत्व, ओजोम: ।

द्विवचन रूप

संस्कृतके द्विवचन रूप, भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे देखा जाय, तो आठ विभक्तियोंमें केवल तीन ही तरहके पाये जाते हैं। प्रथमा, द्वितीया तथा सबोधनमें औ विभक्ति चिह्न [यथा, देवौ], तृतीया, चतुर्थी, तथा पञ्चमीमें भ्याम् विभक्तिचिह्न [यथा, देवाभ्याम्], षष्ठी तथा सप्तमीमें ओः विभक्ति-चिह्न [यथा, देवयोः] पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि द्विवचन संस्कृतमें एक भिन्न वचनके रूपमें पाया जाता है, फिर भी रूपाकी बहुलता तथा समस्त विभक्तियोंमें अलग अलग रूपोका न होना, भविष्यमें द्विवचन-के लोपका पूर्वचिह्न कहा जा सकता है। लैटिनमें तो यह द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। लियुआनियन, गाथिक तथा प्राचीन ग्रीकमें इसके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमें भी संस्कृतकी भाँति द्विवचनके रूप सकुचित ही हैं। सारी छ विभक्तियोंमें केवल दो ही द्विवचन रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए 'लोगोस्' [logos] शब्दके प्रथमा [nominative], द्वितीया [accusative], तथा सबोधन [vocative] के द्विवचनके रूपोंमें लोगो [logō], तथा शेष विभक्तियोंके रूपोंमें लोगोइन् [logoin] रूप पाये जाते हैं। द्विवचनका रूप वस्तुत प्रा०भा०यू० में बहुत कम रहा होगा। इसका प्रयोग उन दो वस्तुओंके लिए पाया जाता होगा जो युग्ममें पाई थी[1]। दो हाथ, दो पैर, दो कान, दो आँखके युग्मोंके आधारपर द्विवचनका जन्म हुआ। धीरे धीरे वैदिक संस्कृतमें उन दो देवताओंके लिए भी

1. Otto Jespersen . The Philosophy of Grammar P. 205

यह द्विवचन प्रयुक्त होने लगा, जो युग्म रूपमें आहूत किये जाते थे, **मित्रावरुणा, नासत्या, अश्विना, इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी**। आगे जाकर माता पिता, पति-पत्नी, आदिके युग्मके लिए भी **पितरौ, दम्पती** जैसे द्विवचनान्त रूपोंका प्रयोग होने लगा। इसके बाद तो द्विवचनका प्रयोग किन्हीं दो चीजोंके भाव-बोधनके लिए होने लगा।

संस्कृतके अकारान्त तथा हलन्त शब्दोंमें **आ [औ]** विभक्तिचिह्नका प्रयोग प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधनमें पाया जाता है। यह आ प्रा० भा० यू० ***ओ** [ō] से विकसित हुआ है, जो ग्रीकमें ओ [Ō] तथा भारत-ईरानी वर्गमें आ पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें हम इन द्विवचन रूपोंको ले सकते हैं, वैदिक संस्कृतके रूप—नासा, नरा, श्वाना, पदा [पादौ], **पितरा [पितरौ], बृहन्ता, हस्ता [हस्तौ]**[1] इस संबंधमें यह पता दिया जाय कि अवेस्तामें जहाँ आकारान्त शब्दोंके इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमें ओ पाया जाता है, वहाँ हलन्त शब्दोंके इन रूपोंमें आ पाया जाता है, यथा—

अवेस्ता	जस्तो [zasto]	वै० संस्कृत	हस्ता [हस्तौ]
,,	स्पान [spana][2] [*स्पाना]	,,	श्वाना
,,	नर [nara][3] [*नरा]	,,	नरा

इकारान्त तथा उकारान्त शब्दोंकी इन विभक्तियोंके द्विवचन रूपोंमें ई तथा ऊ अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। इन्हें हम प्रा० भा० यू० 'इः'

---

१ ये सब वैदिक संस्कृतके रूप हैं। लौकिक संस्कृतमें विभक्ति चिह्न सदा 'औ' होता है।

२ अवेस्तामें यह द्विवचन चिह्न 'आ' ह्रस्व होकर अ के रूपमें पाया जाता है जैसे नर [*नरा], स्पान [*स्पाना]। कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह अवेस्ता ग्रन्थकी लिपिकी विशेषताके कारण हो गया है, वस्तुतः यह दीर्घ [आ] ही है।

*'अ' *[ा] से विकसित मान सकते हैं। पती, अग्नी, बाहू, भानू में यह दीर्घत्व पाया जाता है। आकारान्त शब्दोंमे ए अन्त वाले रूप पाये जाते हैं, जो प्रा० भा० यू० *अइ का विकसित रूप है। यह रूप संस्कृतके यमे, उर्वरे, उभे मे पाया जाता है। नपुंसकलिंग शब्दोंमें [अकारान्तको छोड़कर] ई का प्रयोग पाया जाता है, यथा वच से वचसी। इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त नपुंसक शब्दोंके इन रूपोंमे बीचमें 'न्' अन्त प्रत्ययका प्रयोग होता है, तथा वारि णी, मधुनी, जानुनी, कर्तृ णी।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीका विभक्तिचिह्न भ्यां है। अवेस्तामें इसका ब्यम् तथा ब्या [*ब्या] रूप पाया जाता है। प्राचीन फारसीमें आकर यह रूप बिया हो गया है। जैसा कि हम द्वितीय परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० में *"भ्" के साथ ही ऐसे सुप् प्रत्ययोंमे *"म्" वाले रूप भी पाये जाते थे, तथा ये *म् वाले रूप बाल्तो-स्लाविक-वर्गकी भाषाओंमें विकसित हुए हैं। इस सम्बन्धमें अवेस्ता तथा संस्कृतके रूप विशेष समीप हैं यथा संस्कृत पितृभ्याम्, अवेस्ता नरब्य [narabya] [सं० नराभ्या, नृभ्यां] ब्रवत्ब्यम् [brawatbyam] [सं० भ्रुवद्भ्याम्]। अवेस्तामें किन्हीं शब्दों [प्रायः अकारान्त शब्दों] के इन रूपोंमें स्वरको दीर्घ करनेके स्थानपर ध्वनियुग्म [diphthong] का प्रयोग पाया जाता है जब कि संस्कृतमें मूल शब्दका अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है संस्कृत हस्ताभ्याम्, अवेस्ता ज़स्तएब्य [zastaebya], प्राचीन फारसी दस्तइबिय [dastaibiya]।

संस्कृतमें षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचनका विभक्ति चिह्न ओस् [अयो] दो प्रा० भा० यू० विभक्ति चिह्नोंका सम्मिलित रूप माना जाता है। भारत-ईरानी *अउ, अवेस्ता ओ तथा भारत-ईरानी *आस् अवेस्ता अस्, जो क्रमशः सप्तमी तथा षष्ठीके विभक्तिचिह्न हैं, प्राचीन संस्कृतमें अयो के रूपमें विकसित हो गये थे। अतः इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू०—*[ओस्],

*प्रोइस् से मानी जाती है। यह विभक्तिचिह्न ग्रीककी विभाषाओंमें प्रोइस्प्रोइस् [oiois] के रूपमें विकसित हुआ है।

जैसा कि हम अष्टम परिच्छेदमें देखेंगे भारतीय आर्य भाषाओंमें प्राकृत-कालमें आकर द्विवचन सर्वथा लुप्त हो गया है। वहां द्विवचनका स्थान बहुवचनने ले लिया है। लौकिक संस्कृतमें द्विवचन अवश्य पाया जाता है।

बहुवचन रूप

लौकिक संस्कृतमें प्रथमा बहुवचनमें 'अः' [अस्] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है। वैदिक संस्कृतमें अकारान्त शब्दोंमें प्रथमा बहुवचनमें 'असः' विभक्तिचिह्न भी पाया जाता है, यथा देवासः [देव + असः] में। संस्कृतके इस अस् को प्रा० भा० यू० *ओस् से विकसित माना जा सकता है। ग्रीकके प्रथमा बहुवचनमें इ तथा एस् दो तरहके विभक्तिचिह्न वाले रूप पाये जाते हैं। जहां तक संस्कृतके असस् वाले रूपका प्रश्न है, उसका संबंध इस एस् से जोड़ा जा सकता है। सोस्यूर तथा ब्रुगमानके मतानुसार संस्कृतके ये दोनों चिह्न प्रा० भा० यू० *ओस्-एस् के विकसित रूप है।[2] वैदिक संस्कृतमें अस् तथा असस् वाले दोनों रूप एक साथ पाये जाते हैं, यथा—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठासः [ऋ. वे. ५ ५६.६]
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते [ऋ. ५.६०.५]
हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः [ऋ. १०.९४.१]
हर्षमाण हृषितासो मरुत्वन् [अथ. वे. ४.३१.१]

हलन्त शब्दरूपोंमें केवल अस् विभक्तिचिह्न ही पाया जाता है, जो उसी प्रा० भा० यू० चिह्नका रूप है, यथा आप', धीमन्त.। यह अस् अकारान्त

1. Wackernagel: Altindische Grammatik, Vol. III p. 57 § 22 [C]

2. Wackernagel: Altindische Grammatik p.101§41[d]

तथा आकारान्त शब्दोंके अतिरिक्त अन्य अजन्तोंमें भी पाया जाता है, यथा गिरयः, भानवः, गावः, नावः। प्रथमा बहुवचनकी दृष्टिसे नपुंसकलिंगके रूपोंका विशेष भाषावैज्ञानिक महत्त्व है। लौकिक संस्कृतमें इनमें इ विभक्ति-चिह्न पाया जाता है, जिसके पूर्व एक अनुनासिक [न] अन्त-प्रत्ययका समावेश पाया जाता है। इस प्रकार अजन्तोंमें,—"...आनि", "ईनि" "...ऊनि" "...ऋणि"[1] अन्त वाले रूप पाये जाते हैं। इन रूपोंको हम प्रथम कोटिके नपुंसक प्रथमा बहुवचन रूप मानते हैं। द्वितीय कोटिमें वे शब्द आते हैं, जो हलन्त हैं। इनके प्रथमा द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भी इ ही है तथा उसमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है,—आनि, अञ्चि, अन्ति[2]। जिन नपुंसक हलन्त शब्दोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व कोई अनुनासिक तत्त्व होता है, वहाँ प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें पदान्त व्यञ्जनके पूर्व अनुनासिक तत्त्वका समावेश कर दिया जाता है,—"आंसि [यथा पयस्, पयांसि], ईंषि [हविष्, हवींषि], ऊंषि [धनूंषि], यह तीसरी कोटि है। चौथी कोटिमें शकृ, युज् जैसे हलन्त शब्द आते हैं, जिनके शङ्कि, युञ्जि जैसे रूप बनते हैं। ये पहले तृतीय कोटिमें ही रहे होंगे।

वैदिक संस्कृतके नपुंसक लिंगके प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचन सर्वथा भिन्न रूपमें मिलते हैं। प्रथम कोटिके रूपोंमें नि के प्रयोगके साथ साथ केवल आ, ई, ऊ अन्तवाले रूप भी मिलते हैं, जिनमें नि विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, तथा 'नामानि गुह्या [६.४१.५] अप्रतो वृतानि [१.१६५ ७]; उरू वरांसि [१०.८६.२]। द्वितीय कोटिके शब्दोंमें वेदमें आ तथा आनि दोनों अन्तवाले रूप पाये जाते हैं, यथा नामा, नामानि। वैदिक संस्कृतमें तृतीय कोटिके रूप तो पाये जाते हैं, पर चतुर्थ कोटिके नहीं। अतः वैदिक संस्कृतके रूपोंको दो कोटियोंमें विभक्त किया जा सकता है — [१] हलन्त शब्दोंके रूपोंमें इ विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, जैसे,

---

१. यथा, ज्ञानानि, वारीणि, मधूनि, कर्तॄणि।
२. यथा नामानि, प्रत्यञ्चि, जगन्ति।

चत्वारि; [२] अजन्त शब्दोंमें प्राय: अंतिम स्वर ध्वनिको दीर्घ कर दिया जाता है, किन्तु कभी इ, उ ह्रस्व रूप भी पाये जाते हैं, यथा भूरि वृतानि ['भूरीणि वृतानि', के स्थानपर]। इनके अतिरिक्त नि [न् + इ] वाले रूप भी पाये जाते हैं, जो संभव है, हलन्त शब्दोंके सादृश्यपर बने होंगे, क्योंकि अन्य भाषाओंमें इनका कोई चिह्न नहीं मिलता। यह 'इ' अवेस्तामें पाया जाता है, सं० नामानि, अवे० नाम्‌मनि [namani]। यूरोपीय आर्य भाषाओंमें यह इ नहीं मिलता, इसके स्थानपर अ मिलता है, यथा ग्रीक ओनोमत [onomata], लं० नोमिन [nomina] गॉथिक, नम्न [namna]। यह तथ्य इस बातका संकेत करता है कि प्रा० भा० यू० में नपुंसक लिंग शब्दोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनका चिह्न "श्वा"—[*अ] [*ə] रहा होगा। संस्कृतमें इस विभक्तिचिह्नमें जो 'न्[+ इ]' पाया जाता है, वह संभवत उन शब्दोंके रूपोंके आधारपर जोड़ा जाने लगा होगा, जिनमें मूल रूपमें अनुनासिक ध्वनि अन्तमें थी, यथा नाम [न्]—नामानि : : फल—फलानि। इस प्रकार नामानि के सादृश्यपर फलानि रूप बने होंगे। धीरे धीरे यह न्, इ में जुड़कर नि के रूपमें एक विभक्तिचिह्न ही बन गया। आरम्भमें आ, ई, ऊ रूप इसी 'श्वा' [ə] के कारण पाये जाते हैं, धीरे-धीरे इनमें भी 'नि' जोड़ा जाने लगा।

संस्कृत अजन्त पुल्लिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें "आन्" विभक्तिचिह्न पाया जाता है। हलन्तोंमें यह विभक्तिचिह्न नहीं पाया जाता, वहाँ द्वितीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न "अस्" है, जो प्रथमा बहुवचनमें भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी यह विभक्तिचिह्न "अस्" [स्] के रूपमें ही पाया जाता है। इस प्रकार, संस्कृतमें "आन्" विभक्ति-चिह्न केवल अजन्त पुल्लिंग शब्दोंकी ही विशेषता है। किन्तु भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यह चिह्न प्रा० भा० यू० से स्त्रीलिंग शब्दोंके रूपोंमें भी प्रयुक्त होता रहा होगा। इस विभक्तिचिह्नका विकास प्रा० भा० यू० *म्स् या *न्स् [*ms, *ns] से माना जा सकता है। ग्रीकमें जाकर द्वितीया बहुवचनका

यह विभक्तिचिह्न *अस् के रूपमें विकसित हो गया, यथा ग्रीक पतॅरस् [pater-as] [सं० पितृन्] ।

संस्कृतमें अजन्त स्त्रीलिंग शब्दोंके द्वितीया बहुवचनमें एक विशेषता पाई जाती है, जो संस्कृतमें बादमें उत्पन्न हुई है, किन्तु इसके बीज हम प्रा० भा० यू० मे ही पा सकते हैं। संस्कृतके इन स्त्रीलिंग शब्दोंमे हम देखते हैं कि द्वितीया बहुवचनमें न् अन्तवाले रूप नहीं पाये जाते। वहाँ आः, ईः, ऊः, ऋः, [यथा रमाः, रुचिः, वधूः, मातृः] अन्तवाले रूप पाये जाते हैं। अन्य भारोपीय भाषाओंके आधारपर यह कहा जा सकता है कि प्रा० भा० यू० ईन्, ऊन्, ऋन्, का प्रयोग स्त्रीलिंग शब्दरूपोंमें रहा होगा। प्रा० भा० यू० *ओ, *आ—कारान्त शब्दोंमें जिनसे संस्कृतमें क्रमशः पुल्लिंग अकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंका विकास हुआ है, द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें परस्पर भेद था। पुल्लिंग शब्दोंके रूपोंमें *न्स् विभक्तिचिह्नका प्रयोग रहा होगा, जब कि स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दोंके द्वितीया बहुवचनके रूपोंमें अनुनासिक तत्त्वका अभाव रहा होगा, तथा कोरा *'स्' विभक्तिचिह्न ही प्रयुक्त होता होगा। यही विभक्तिचिह्न ग्रीकमें आस् तथा गॉथिकमें ओस् के रूपमें विकसित हुआ है। किन्तु इकारान्त, उकारान्त ऋकारान्त शब्दोंके रूपोंमें ऐसा विभक्तिचिह्न प्रयुक्त नहीं होता था, तथा उनमें न् वाले रूप ही प्रचलित थे। बादमें संस्कृतमें आकर आकारान्त रूपो के सादृश्य पर इन स्त्रीलिंग शब्दोंसे भी न् वाले रूप हटा दिये गये[1]।

तृतीया बहुवचनका विभक्तिचिह्न भिस् है। अकारान्त शब्दोंमें यह विभक्तिचिह्न ऐः भी पाया जाता है। यह विशेषता अवेस्तामें भी पाई जाती है, जहाँ तृतीया बहुवचनमें 'बिश्' [bis̆] तथा 'अइश्' [ais̆] दोनों विभक्तिचिह्न पाये जाते हैं, यथा सं० मर्त्यैः, मर्त्येभिः ; अवेस्ता मश्यइश् [mas̆yais̆] प्राचीन फारसी मर्तियइबिश् [martiyaibis] । होमरकी ग्रीकमें इस भिस् के समानांतर फि रूप मिलता है, बादकी ग्रीकमें

१. Wackernagel. Altindische Grammatik. vol III. p. 59§25.

आकर यह तृतीया विभक्ति लुप्त हो गई है। होमरमें 'नउफि' [nauphi] रूप पाया जाता है, जो संस्कृतमें नौभिः है। भिस् के संबंधमें एक बात यह बता दी जाय कि अकारान्त शब्दोंमें इसका रूप एभिस् [देवेभिः] पाया जाता है। यह ए वस्तुतः सर्वनामोंमें प्रथमा बहुवचनमें पाया जाता है [सर्व, सर्वे]। यह ए बहुवचन-मात्रका बोधक समझा जाकर एभिः, एभ्य के रूपमें तृतीया, चतुर्थी-पञ्चमीके बहुवचनके रूपोंमें जोड़ा जाने लगा। इसी प्रकार द्विवचन रूपोंके भ्याम् में भी आ जोड़कर आभ्याम् विभक्तिचिह्न बना दिया गया, जहाँ आ [देव, देवा] ठीक उसी तरह द्विवचनका बोधक माना गया, जैसे ए बहुवचन का। किन्तु ये वैकल्पिक प्रयोग केवल अकारान्त शब्द रूपोंमें ही वैदिक संस्कृतमें पाये जाते हैं। अन्य शब्दोंमें केवल भ्याम्, भिस्, भ्यस्, [*विष्णुभ्याम्, विष्णुभिः, विष्णुभ्यः*] का ही प्रयोग होता है। जैसा कि हम बता आये हैं, वेदमें अकारान्त शब्दोंमें देवैः तथा देवेभिः जैसे दोनों रूप पाये जाते हैं। ऋग्वेदमें दोनों रूपोंका समान प्रयोग पाया जाता है, किन्तु अथर्ववेदमें आकर एभिः वाले रूप कम हो गये हैं। तैत्तरीय संहिता [यजुर्वेद] के गद्यभागमें 'एभि' के रूपोंका सर्वथा अभाव है। लौकिक संस्कृतमें आकर ये रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं। वेदसे इन वैकल्पिक रूपोंके ये उदाहरण दिये जा सकते हैं :—

यातं अश्वेभिरश्विना [ऋ० ८.५.७]
आदित्यैर्यातमश्विना [ऋ० ८.३५.१३]
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिः [ऋ० १०.१४.५]
अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह [अ० वे० २६.१.५६]

चतुर्थी-पञ्चमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न भ्यस् है, जो अकारान्त शब्दोंके पूर्व एभ्यः पाया जाता है, इसे हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं। ग्रीकमें यह रूप नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं पाई जाती, चतुर्थी बहुवचनके चिह्न वहाँ 'अइ', 'एइ' दो तरह के हैं। लैटिनमें इसका रूप बुस मिलता है, यथा *पत्रि-बुस* [patri bus] [स० पितृभ्यः]। *बाल्तो-स्लाव-*

विकर्मे 'भ्' के स्थानपर म्—[मुस्] रूप पाया जाता है। इसका प्रा० भा० यू० रूप *भोस् माना जा सकता है। इस संबंधमें कह दिया जाय कि तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमीके द्विवचन तथा बहुवचनके सुप् चिह्नोंमें वास्तविक विभक्त्यंश भि है। यही भि, भ्याम् [भि + माम्], भ्यः [भि + भ्रस्] के रूपमें पाया जाता है।

षष्ठी बहुवचनका विभक्तिचिह्न ग्राम् है, जो प्रा० भा० यू० *ग्रोम् से विकसित हुआ है। अवेस्तामें यह अम्, ग्रीकमें ओन् [ōn] तथा लैटिनमें उम् [um] के रूपमें पाया जाता है। संस्कृतके अदन्त शब्दोंमें यह आम् अनुनासिक अन्त प्रत्ययसे युक्त होकर नाम् के रूपमें मिलता है। इन शब्दोंके षष्ठी बहुवचन रूपोंमें मूल शब्दकी अंतिम स्वर ध्वनि दीर्घ हो जाती है—देवानाम्, हरीणाम्, भानूनाम्, पितृणाम्। अवेस्तामें भी अदन्त शब्दोंके रूपोंमें यह 'नम्' पाया जाता है, जब कि हलन्त शब्दोंके रूपोंमें केवल अम् ही पाया जाता है।

सं० गिरीणाम् अवे० गइरिनम् [gairinam]
अपाम् अपम् [apam]
बृहताम् बृअज़तम् [bərəzatam]

सप्तमीका बहुवचन विभक्तिचिह्न सु है। यह विभक्तिचिह्न अवेस्ता तथा प्राचीन फारसीमें सु, षु तथा हु के रूपोंमें पाया जाता है। ग्रीकमें यह विभक्तिचिह्न सि [si] पाया जाता है; जो प्राय चतुर्थी बहुवचन [Dative plural] के अर्थमें प्रयुक्त होता है। वस्तुत यह सप्तमीका ही रूप है, जो चतुर्थीमें घुल-मिल गया है। प्राचीन चर्च स्लाविक [सत वर्गकी एक भाषा] में यह विभक्तिचिह्न सु के रूपमें मिलता है। इस तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है कि सप्तमी बहुवचन का प्रा० भा० यू० चिह्न *स् था। इस *स् में बादमें ग्रीकमें इ [स् + इ = सि], तथा सत वर्गकी भाषाओंमें उ [स् + उ = सु] जोड़ दिया गया। थुर्नेसन नामक पाश्चात्य विद्वान्के मतानुसार ये इ, उ वस्तुत: सामीप्य तथा दूरताको बतलानेवाले अव्यय थे,

जिनका प्रयोग सप्तम्यन्त रूपोंके साथ हुआ करता था। धीरे-धीरे ये सप्तम्यन्तके अंग बनकर एक ओर सि तथा दूसरी ओर सु के रूपमें विकसित हो गये।[1] संस्कृतमें यह 'सु' इ, उ, ए, कण्ठ्य ध्वनि तथा रेफसे परे होनेपर षु के रूपमें पाया जाता है। अ तथा आके परे होनेपर यह सु ही रहता है, यथा देवेषु, हरिषु, भानुषु, पितृषु; पय.सु, रमासु.।

सम्बोधन ब० व० के रूप संस्कृत में ठीक वही हैं, जो प्रथमा ब० व० में पाये जाते हैं।

विशेषण

संस्कृतमें विशेषणके रूप संज्ञा शब्दोंकी तरह ही चलते हैं। विशेषण शब्द सदा अपने विशेष्यके लिंग एवं वचनका वहन करता देखा जाता है, यथा, कृष्णः सर्पः, कृष्णा सर्पिणी, रक्तो घटः, रक्ताः घटाः, नीलं नभः, नीलं वस्त्रं आदि में। तुलनाबोधक रूपोंमें संस्कृतमें इनके साथ तरप्, तमप्, ईयस्, इष्ठ प्रत्यय जोडे जाते हैं। संस्कृत शब्द-रचनाका संकेत करते समय हम इन दोनों तरहके प्रत्ययोंका संकेत कर आये हैं। यहाँ सोदाहरण विवेचन किया जा रहा है।

१ [अ] तर-तम [तरप्–तमप्], ये दोनों तुलनाबोधक तद्धित प्रत्यय हैं। इनमेंसे प्रथम 'तरप्' प्रत्यय दो वस्तुओंकी तुलना कर किसी एककी उत्कर्षता द्योतित करता है। ग्रीकमें इसका–तेरो–रूप मिलता है, जो पिस्तोतेरोस् [pistoteros], अलेथेस्तेरोस् [alethesteros] में पाया जाता है। लैटिनमें इसका–ते र–' रूप मिलता है, जो नोस्तेर [noster], देक्स्तेर [dexter] में पाया जाता है। यही—तरप् प्रत्यय सार्वनामिक रूप 'कतरः' में मिलता है। युग्बने स० अन्तर से० इन्तेर [इन्तेरिओर], अ० इटर, इन्टीरियर [inter,interior], ग्रीक एन्तेर [entera], सं० इतर,

---

१. Wackernagel : Altindische Grammatik vol. III p. 72-73 § 29 [e]

लैं० इतेरम् [iterum], तथा संस्कृत क्रियाविशेषण 'नितराम्' तकका सम्बन्ध इसी 'तर[प्]' से जोड़ा है[1]। इसके उदाहरण निम्न हैं —

दूरतर, प्रियतर, विलोलतर, शुचितर, धनितर, [धनिन्–] धर्मभृत्तर [धर्मबुद्–], प्रत्यक्तर [प्रत्यञ्च्–], सुमनस्तर [सुमनस्–], उदश्चित्तर [उदश्चित्–], सत्तर [सन्त्–] भगवत्तर [भगवन्त्–], विद्वत्तर [विद्वास्–]।

१ [आ] तमप् [तम] की उत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तेमो से मानी जा सकती है। जैसा कि हम पहले संकेत कर आये हैं तरप्, तमप् [तर, तम] में वस्तुतः दो प्रत्ययोंका मेल है —त + र = तर, त + म = तम। त प्रत्ययका सम्बन्ध संस्कृत 'त' [क्त] प्रा० भा० यू० *तो [त्] से जोड़ा जाता है। र तथा म भी दो स्वतन्त्र प्रत्ययके रूपमें पाये जाते हैं, जिनका विकास संस्कृत तथा यूरोपीय क्लैसिकल भाषाओं दोनोंमें देखा जाता है। सं० अधर [नीचा], लैं० इन्फेरि [inferi], गॉ० उन्दर [undar] अं०, अन्डर [under], सं० अधम, लैं० इन्फिमुस् [infimus], सं० अपर, गॉथिक अफर [afar] सं० अपम–, सं० अवर, अवम–, ग्रीक हुपेरोस् [huperos] लैं० सुपरि [superi], अं० सुपर [super], लैं० सुम्मुस् [summus] [मि० अं० [summit] गॉ० उफरो [ufaro], सं० परम, मध्यम, चरम, में ये दोनों प्रत्यय पाये जाते हैं[2]। तम–[तमप्] प्रत्यय लैं० में 'तिमुस्' तथा गॉथिकमें 'तुम' पाया जाता है। सं० अन्तम, लैं० इन्तिमुस् [intimus], उल्तिमुस् [ultimus] [मि० अंगरेजी, अल्टिमेटम [ultimatum]], गॉथिक, अफ्तुम् [aftum] [अन्तिम], इफ्तुम [iftum] [अन्तिम]।

---

1. Thumb Handbuch des Sanskrit. [Formenlehre] § 388 p 267.

2. Thumb : Handbuch des Sanskrit §388 [footnote] p 260.

तम–के उदाहरण निम्न हैं,—

दूरतम, प्रियतम, विलोलतम, शुचितम, धनितम, [धनिन्–], धर्मभुत्तम [धर्मभुध्–], प्रत्यक्तम [प्रत्यञ्च्], सुमनस्तम, [सुमनस्–] उर्दविट्तम [उर्दविष्], शत्तम [शन्त्–], भगवत्तम [भगवन्त्–], विद्वत्तम [विद्वांस्–]।

तर–, तम–से बने अनिपय संज्ञा शब्द तथा क्रियाविशेषण भी देखे जाते हैं:—मध्यतम, उत्तर, उत्तम [संज्ञा शब्द], अतितराम्, प्रतराम्, प्रतमाम्, उच्चैस्तराम्, सुतराम्, सुतमाम्, पचतितराम्, पचतितमाम् [क्रियाविशेषण]। ये क्रियाविशेषण प्राय: उपसर्गों, अव्ययों तथा क्रिया रूपोंसे बने हैं।

२. [अ] ईयस् तथा इष्ठ प्रत्ययोंका संकेत भी संस्कृत शब्दरचनाके सम्बन्धमें किया जा चुका है। ईयस् का विकास प्रा० भा० यू०—*येस्, *योस्से माना जाता है। इसके समानान्तर रूप ग्रीक तथा लैटिनमें भी हैं। लैटिनमें इसके इओर, इउस् रूप मिलते हैं, सेनिओर [सेन्योर] [senior] [अंगरेजी सीनियर [senior], मेलिओर [मेल्योर] [melior], मेलिउस् [मेल्युस्] [melius] [नपुंसक रूप]। ग्रीकमें इसके ईओस्, ओस् रूप मिलते हैं, हेदीओ [hēdīo] हेदीओनस् [hēdī-ons] ∠ *हेदी [य्] ओ [स्]–अ–एस् [hēdī [y] o [s] aes] [सं० स्वादीयस्], ब्रादीओ [brādīo] [सं० म्रदीयस्] इसके उदाहरण निम्न हैं—

अल्पीयस्, वरीयस् [उरु–], क्षेपीयस् [क्षिप्र–] गरीयस् [गुरु–] द्रढीयस् [दृढ–], द्राघीयस् [दीर्घ–], पटीयस् [पटु–], पापीयस् [पाप–], प्रथीयस् [पृथु–], प्रेयस् [प्रिय–], बलीयस् [बलिन्–], महीयस् [महान्त्–] म्रदीयस् [मृदु–], यवीयस् [युवन्–], स्थेयस् [स्थिर–]।

२. [आ] –इष्ठ का ग्रीक रूप-इस्तो [–isto] मिलता है; क्रतिस्तोस् [kratistos], ओलिगिस्तोम् [oligistos]।

इसके उदाहरण निम्न हैं :—

अणिष्ठ, [अल्प], वरिष्ठ [उरु–], क्षेपिष्ठ [क्षिप्र–] गरिष्ठ [गुरु–], द्रढिष्ठ [दृढ–], द्राघिष्ठ [दीर्घ–], पटिष्ठ [पटु–], पापिष्ठ [पाप–], प्रथिष्ठ [पृथु–], प्रेष्ठ [प्रिय–], बलिष्ठ [बलिन्–], महिष्ठ [महान्त्–], म्रदिष्ठ [मृदु–], वसिष्ठ [वसुमन्त्–], यविष्ठ [युवन्–], स्थेष्ठ [स्थिर–]।

इनके अतिरिक्त कुछ अपवाद रूप भी पाये जाते है, जिन्हें थुम्बने 'इरॅग्यूलर' या 'देफेक्तिव' माना है।[1]

[अंतिक], नेदीयस्, नेदिष्ठ।

[अल्प], कनीयस्, कनिष्ठ।

प्रशस्य, श्रेयस्, श्रेष्ठ, ज्यायस्, ज्येष्ठ।

बहु, भूयस्, भूयिष्ठ,

वृद्ध, वर्षीयस्, वर्षिष्ठ,

संस्कृतमें कतिपय रूप ऐसे भी देखे जाते हैं, जिसमें एक साथ दो-दो तुलनाबोधक प्रत्यय पाये जाते हैं, यथा,

पापीयस्-तर [पापीयस्तर], पापिष्ठतर, पापिष्ठतम, श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम।

सर्वनाम शब्दोंके रूप

सर्वनाम शब्दोंको हम दो प्रकारकी कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं:— [१] वैयक्तिक सर्वनाम [अस्मत्, युष्मत्] [२] विशेषणीभूत सर्वनाम, [यत्, तत्, इदं, एतत् आदि]। इनमें वैयक्तिक सर्वनामोंमें लिंग भेद नहीं पाया जाता, जबकि विशेषणीभूत शब्दोंमें तीनो लिंग पाये जाते हैं। सभी सर्वनामोंमें संबोधन विभक्ति नहीं होती।

---

१. Thumb : ibid § 389 p. 269.

संस्कृतके अहम् तथा त्वम् जो वैयक्तिक सर्वनाम शब्दोंके प्रथमा विभक्तिके एकवचन रूप हैं, अवेस्तामें अज़्अम् [azəm] तथा तुवम् [tuwam] के रूपमें पाये जाते हैं। ग्रीकमें इनके रूप ऐगो [ego] तथा 'सु' [प्रा० रूप तु] [su ７ *tu] पाये जाते हैं। इस तुलनासे स्पष्ट है कि इनमें प्रयुक्त "अम्" वस्तुत सर्वनामोंका विभक्तिचिह्न है, जो भारत ईरानी वर्गमें पाया जाता है। संस्कृतमें 'त्वम्' के स्थानपर केवल तु भी पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें यह प्रयोग मिलता है —आ तू गहि प्र तु द्रव [६ १३.१४]। द्वितीया एकवचनके रूपोंमें मा, त्वा तथा मां, त्वां जैसे वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। अवेस्तामें भी ये वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं —

मम्, मा [mam, mā], थ्वम्, थ्वा [θwam, θwā]। तृतीया विभक्तिके एकवचनमें इनके रूप मया एव त्वया [तुवया] होते हैं। चतुर्थीमें इनमें भ्य [अवे० व्य] विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है जो संस्कृत तुभ्य में पाया जाता है, 'अस्मत्' शब्दमें यह 'ह्य' हो जाता है। ऋग्वेदमें कहीं-कहीं तुभ्य, मह्य के स्थानपर तुह्य, मह्य रूप भी पाये जाते हैं। अवेस्तामें दोनोंमें 'व्य' पाया जाता है, यथा तइव्य [taibya], मइव्य [maibya]। किन्तु लैटिनमें मत् के साथ 'ह' तथा त्वत् के साथ ब विभक्तिचिह्न मिलता है, मिहि [mihi] [स० मह्य], तिबि [tibi] [स० तुभ्य]। इससे अनुमान होता है कि प्रा० भा० यू० में ही उत्तम पुरुष एकवचन शब्दकी चतुर्थी विभक्ति 'ह' रही होगी, तथा मध्यम पुरुषकी 'भ'। पञ्चमीमें इनमें

अत् पाया जाता है। प्रा० भा० यू० में इसका रूप *एत [ēt] था, जो संस्कृतमें *आत् होना चाहिए था। अत संस्कृतके मत्, त्वत् रूपोंको *मात, *त्वात् जैसे कल्पित रूपोंसे विकसित समझना चाहिए। तव मम जैसे षष्ठी एकवचनके रूप भारत ईरानी वर्गकी ही विशेषता है। ग्रीकमें इनके रूपोंमें ओस् विभक्तिचिह्नका प्रयोग होता है, यही चिह्न लैटिनमें उस् के रूपमें प्रयुक्त होता है, यथा ग्रीक तेओस् [teos] एमोस् [emos],

लैटिन तूस [tūs] संस्कृतके चतुर्थी षष्ठीके मे, ते जैसे वैकल्पिक रूप अन्य भा० यू० भाषाओंमें भी पाये जाते हैं। ये वैकल्पिक रूप ग्रीक तथा लिथुआनियनमें भी उपलब्ध होते हैं—ग्रीक मोइ [moi], तोइ [toi] तथा लिथुआनियन मि [mi], ति [ti]। संस्कृतमें सप्तमी ए० व० में 'मयि' रूप पाया जाता है, किन्तु युष्मत् [त्वत्] शब्दका 'त्वयि' वालारूप प्राचीन न होकर बादमें मयि के सादृश्यपर विकसित हुआ है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम अथर्ववेद में मिलता है। ऋग्वेदमें इसका प्राचीन रूप त्वे मिलता है।

संज्ञाओंके रूपोंकी भाँति यहाँ भी द्विवचनके रूप सीमित ही पाये जाते हैं। संस्कृतमें प्रथमा-द्वितीया द्विवचनरूप आवाम् तथा युवाम् पाये जाते हैं। वस्तुत. ये रूप केवल द्वितीया विभक्तिके ही थे। प्रथमा विभक्तिमें इनके रूप आवं तथा युवं पाये जाते थे, जो प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं, किन्तु बादके वैदिक साहित्यमें आवां तथा युवां दोनों ही विभक्तियोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं। ठीक इसी प्रकार तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमीके प्राचीन रूप आवयो तथा युवभ्यां हैं, किन्तु ये भी सादृश्यके आधारपर बादमें आवाभ्यां तथा युवाभ्यां हो गये हैं। इन शब्दोंके द्विवचन रूपोंमें मूल रूप आव-तथा युव-ही थे, इसकी पुष्टि षष्ठी सप्तमीके द्विवचन रूप आवयोः, युवयो. से भी हो जाती है। इन विभक्तियोंमें वैकल्पिकरूप नौ तथा वाम् पाये जाते हैं। ये रूप अवेस्तामें भी ना [nā] तथा वा [wā] के रूपमें मिलते हैं। संस्कृतके वां का अनुनासिक तत्त्व संस्कृत की निजी विशेषता है। संस्कृत नौ के समानान्तर रूपमें ग्रीकमें नो [nō] पाया जाता है, जो वहाँ प्रथमा [nominative] तथा द्वितीया [accusative] के द्विवचनमें प्रयुक्त होता है।

इन शब्दोंके बहुवचन रूपोंमें प्रथमा विभक्तिमें अम् विभक्तिचिह्न पाया जाता है, यथा वयम्, यूयम्। अवेस्तामें मध्यम पुरुष सर्वनाम शब्दका बहुवचनरूप "यूझ्‌अम्" [yūzəm] पाया जाता है। अन्य सभी विभक्ति

रूपोंमें इनमें स्म विभक्तिचिह्नका प्रयोग पाया जाता है,—अस्मान्, युष्मान्; अस्मत्, युष्मत् आदि। यह स्म अवेस्ता तथा ग्रीकमें भी क्रमशः ह्म तथा म्म के रूपमें पाया जाता है, अवे० अह्म [ahma], ग्रीक अम्मे [amme]। यह विभक्तिचिह्न अन्य सर्वनामोंके एकवचन रूपोंमें भी पाया जाता है, तस्मै, तस्मिन्। किन्तु षष्ठी बहुवचनके रूपोंमें इन उत्तम पुरुष तथा मध्यमपुरुषके रूपोंमें स्म के साथ आकम् भी जोड दिया जाता है, अस्माकम्, युष्माकम्। अवेस्ताके अह्माकअम् [ahmākəm], युश्माकअम् [yuš'mākəm] शब्दोंके आधारपर यह कहा जा सकता कि यह स्म+आक विभक्तिचिह्न भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता रही होगी।

यहाँ इतना कह दिया जाय कि भा० यू० भाषाओंमें अन्य पुरुष [प्रथम पुरुष]के शब्दोंको व्यक्तिवाचक या पुरुषवाचक सर्वनामों [personal-pronouns]की तरह न मानकर पदरचनाकी दृष्टिसे निर्देशात्मक सर्वनामों [demonstrative pronouns] की तरह माना जाता है। संस्कृतमें भी इसीलिए तत् शब्दके रूपमें तीनों लिंग पाये जाते हैं। तत् शब्दके इन रूपोंपर हम आगे संकेत करेंगे।

संस्कृतमें स्व का आत्मने प्रयोग मिलता है। इसका प्रयोग सर्वनामके रूपमें मिलता है। ऐसा प्रयोग ग्रीक, लैटिन तथा अवस्तामें भी देखा जाता है, ग्रीक होस् [hos], हेओस् [heos], लैटिन सुस [suus] अवेस्ता ह्व [hva]। इसका प्रयोग प्रायः 'आत्मने' [reflexive] के अर्थमें पाया जाता है। संस्कृतमें इसीके स्वय, स्वतः आदि रूप मिलते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें इसके समानान्तर लैटिन सुस के विकसित रूप से [se] का फ्रेंच भाषामें बहुत प्रयोग मिलता है। फ्रेंचकी कई क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनके साथ इस से का प्रयोग अवश्य होता है। ये क्रियाएँ 'रिफ्लेक्सिव' [reflexive verbs] कहलाती हैं। यह प्रयोग प्रायः संस्कृतकी आत्मनेपदी-सा है। यथा, "ओं से भी ता ताब्ल [on se

mit a table] [प्रत्येक [व्यक्ति] स्वय टेबुलपर बैठ गया, अर्थात् सब टेबुलपर बैठ गये।] में यह से सस्कृतके स्व का समानान्तर ही है।

सस्कृतके मध्यम पुरुष 'त्व' के लिए आदरणीय अर्थमें भवान् का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रथम पुरुष क्रियाके साथ प्रयुक्त होता है, भवान् गच्छति। यह भवान् वाकरनागेलके मतानुसार सस्कृत शब्द भगवान् का ही वैकल्पिक सक्षिप्त रूप है। इस वैकल्पिक रूपके लिए उसने फ्रेंच भाषासे एक ऐसा ही उदाहरण दिया है। ठीक इसी आदरणीय अर्थमें फ्रेंच भाषामें मौंसिञ्यो [monseigneur] तथा 'मोंश्यो' [मोंश्यो] [monsienr] दोनो प्रकारके रूप पाये जाते है, जहाँ द्वितीय रूप प्रथमका ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है। इसी प्रकार संस्कृतका भवान्, भगवान् का ही सक्षिप्त वैकल्पिक रूप है।[१]

निर्देशात्मक तथा विशेषणीभूत सर्वनामो [demonstrative pronouns and articles] में स, सा, तत् का सम्बन्ध ग्रीकके हो [ho] हे [he] [प्रा० ह० हा–] ha] तथा तो [to] जोडा जा सकता है, जो क्रमश पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुसक लिंग शब्दोंके मूल रूपोंके साथ ग्रीकमें ठीक वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे अँगरेजीमें ए, एन, दि [a . an, the]। ग्रीकमें ये 'आर्टिकल' कहलाते है। इनका विकास प्राचीन भारत-यूरोपीय सो-सा [so,-sa] तो-ता [to, ta] से माना गया है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रश्नवाचक सर्वनाम भी सस्कृतमें प्रयुक्त होते है। सस्कृतके क, का, कि, चित् का सबध ग्रीक पो [po] तिस्, ति [तिद्] [tis. ti [tid], लैटिन क्वोद् [quo-d], क्विद् [qui-d], क्वि [qui], क्वोस [quos आइरिश किआ [cia], वेल्श प्वि [pwy], तथा अँग्रेजी हू [who] से जोडा जा सकता है। इन सबका विकास प्रा० भा० यू० *क्वो।

---

१ Wackernagel Altindische Grammatik p. 487 §39, C]

[*ī̆o] से हुआ है। संबंधवाचक सर्वनाम यः या यत् का संबंध प्रा० भा० यू० यो [yo], [ya] से जोडा जाता है। इन शब्दोंके विभक्ति चिह्न प्रायः संज्ञाओंके ही विभक्ति चिह्नोंसे विकसित हुए हैं।

संख्यावाचक शब्द

प्रा० भा० यू० में गणनाका ढंग 'दस' से होता था। उसमें एकसे लेकर चार तककी संख्याके शब्दोंके रूप सभी लिंगोंमें सविभक्तिक चलते थे, जब कि पाँच से दस तकके शब्द अपरिवर्तित रूप वाले अव्यय थे। १० से १९ तकके शब्द इसके साथ एक, दो, तीन, चार.. इत्यादिके वाचक शब्द जोड़कर बनाये जाते थे। प्रा० भा० यू० से विकसित भाषाओंमें १० से ऊपरके संख्यावाचक शब्द कई ढंगसे बनाये जाते हैं। कहीं तो ये समस्त शब्द—से होते हैं, यथा, एकादश, द्वादश, त्रयोदश या अं० थर्टीन [thirteen], या वेल्श 'पिमथेग' [pymtheg]। कहीं-कहीं बीचमें समुच्चय बोधक अव्ययका प्रयोग कर इस तरहकी संख्याका बोध कराया जाता था, यथा, संस्था द्वाविंशत् [द्वे विंशति च एकया] ग्रीक एइकोसि-डुओ [eikosiduo], अथवा डुओ कइ एइकोसि [duo kai eikosi]। यद्यपि प्रा० भा० यू० गणना 'दस' से ही होती थी, किन्तु ऐसे भी चिह्न दिखाई पड़ते हैं, जहाँ 'नौ' वाली गणना देखी जाती है। केल्तिक तथा अन्य दूसरी यूरोपीय भाषाओंमें ये संकेत मिलते हैं। वेल्शमें 'अठारह' के लिए 'डुनव' [deunaw] शब्दका प्रयोग होता है, जिसका अर्थ होगा, "दो नौ"। ग्रीकमें १९, २९, ३९ आदि के लिए 'एक कम बीस' अर्थवाले प्रयोग मिलते हैं, यथा हेनोस् देओन्तेस् एइकोसिन्' [henos deontes eikosin [[सं० एक-ऊन-विंशत्, एकोनविंशत्]। कुछ लोग यहाँ 'नौ' वाली गणनाका संकेत ढूँढ़नेका प्रयत्न करें, पर यह ठीक न होगा, यहाँ पर वस्तुतः 'दस' वाली गणना ही है। वैसे संस्कृतमें 'नौ' वाली गणना के संकेत कई स्थानों पर मिलते अवश्य हैं, यथा—'नवद्वयद्वीपपृथग्ज-

यश्रियाम्' [नैषध, प्रथमसर्ग], जहाँ 'अठारह' के लिए 'नवद्वय' का प्रयोग हुआ है, जो केल्ट 'द्योनव' के समानान्तर है।

संस्कृतके एकसे दस तकके संख्यावाचक शब्द तथा सौका संख्यावाचक शब्द प्रा० भा० यू० शब्दोंसे विकसित हुए हैं। बाकी संख्यावाचक शब्द मिलाकर बनाये हुए शब्द हैं। हम इन प्रमुख शब्दोंकी तालिका देते हैं —

१ एक *ओइनोस् लै० उनो [uno] ग्रीक ओइओस् [oios]

२ द्वि *दुवोउ ,, दुए [due] ,, दुओ [duo]

३ त्रि *त्रेयेस् ,, त्रे [tre] ,, त्रेइस [treis]

४ चतुर् *क्वेत्वोरेस् ,, क्वात्र [quatre] ,, तेतोरेस् [tetores]

५ पञ्च *पेन्क्वे ,, क्विंक्वे [quinque],, पेन्ते [pente]

६ षट् *स्वेक्स् ,, सेइ [sei] ,, ज़ेस् [zes–]

७ सप्त *सेप्तम् ,, सेत [sept] ,, हेप्त [hepta]

८ अष्ट *ओक्तोउ ,, ओक्तो [octo] ,, ओक्तो [octo]

९ नव *नेवन् ,, नोवेम् [novem],, एन् नेअ [en-nea]

१० दश *देकम् ,, देकेम [decem], देक [deka]

१०० शतम् *क्मृतोम् ,, केन्तुम [centum],, हेकतोन् [hekaton]

१०० का सख्यावाचक शब्द 'शतम्' प्रा० भा० यू० 'क्म्मृतोम्' [ḱmtom] से विकसित है, जिसके समानान्तर अन्य भाषागत रूपोंके सबंधके लिए दे० पृष्ठ ५१। १००० का सख्यावाचक शब्द 'सहस्र' है, जिसका अवेस्तामें 'हज़म्र' [hazangra] तथा फारसीमें 'हज़ार' [hazar] रूप मिलता है। ग्रीकमें इसका 'खीलिओइ' [khilioi] रूप है। इससे स्पष्ट है कि इसकी आरंभिक ध्वनि 'स' प्रा० भा० यू० 'स्म्' [sm̥] से विकसित है, जो 'एक' का वाचक है। इसी सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि प्रा० भा० यू० में 'एक' के प्राचीन रूपके अतिरिक्त इसके बोधनके लिए अन्य शब्द भी था जिसका मूल रूप *'सेम्' [sem] था। इसका विकास ग्रीकके हेइस् [heis] तथा मिआ [mia] में देखा जा सकता है। संस्कृतमें भी इसके चिह्न 'सकृत्' 'एक बार' [अवे० हकरत hakərət] में देखे जा सकते हैं। 'सहस्र' का सबध भी इसी *सेम्–*स्म्' से है।

क्रमात्मक सख्यावाचक विशेषण [ordinals] के रूप संस्कृतमें ये हैं —

१. स० प्रथम, अवे० फ्रतम [fratəma].

२ ,, द्वितीय, अवे० दइवितय, बित्य, पु० फार० दुवितिय

३ ,, तृतीय, अवे० थ्रित्य [θritya], लै० तेर्तिउस् [tertius]

४ [क] चतुर्थ, ग्रीक तेतर्तोस् [tetartos], लिथु० केत्विरतस् [ketvirtas]

[ख] तुरीय, तुर्य–, अवे० तूइर्य [tūirya]

५. [क] पक्थ [ऋग्वेद १०, ६१, १], अवे० पुख्द [puxδa] ग्रीक, पेम्प्तोस् [pemptos]

[ख] पञ्चथ [काठकसंहिता] पुरानी वेल्श पिम्फेत [pimphet]

[ग] पञ्चम, पहलवी [मध्य फारसी] पञ्जुम [panjum]

६ षष्ठ, ग्रीक हेक्तोस् [hektos], लैं० सेक्स्तुस् [sextus]

७. [क] सप्तथ, [ऋग्वेद] अवे० हप्तथ [haptaθa]

[ख] सप्तम, फारसी हफ्तुम, ग्रीक हेब्दोमोस् [habdomos] लैं० सेप्तिमुस्

८ अष्टम, अवेस्ता अश्तअम [astəma]

६. नवम, अवे० नओम [naoma], पु० फारसी नवम,

१० दशम, अवे० दसअम [dasəma], लैं० देकिमुस् [decimus]

इससे स्पष्ट है कि क्रमात्मक सख्यावाचक शब्द बनानेमें मूलत प्रा० भा० यू० मे 'अ' प्रत्ययका प्रयोग होता है, जैसे सप्तम् अ [सप्तम], दशम् अ [दशम] मे । इसके बाद 'म' ही प्रत्यय बन गया तथा उनमें भी जोड़ा जाने लगा, जिनमें मूलत 'म्' अश नहीं था, यथा अष्ट म, नव मम । इसके अतिरिक्त सस्कृतमें थ' प्रत्यय भी है, इसका विकास प्रो० बरोने 'ता' + अ [थिमेटिक स्वर] से माना है, जिसमें भारतेरानी वर्गमें प्राणताका प्रयोग होने लगा है, वे 'चतुर्थ' की उत्पत्ति *चतुर्ता + अ से मानते है ।[1]



१. T. Burrow Sanskrit Language, P 262

संस्कृत पद-रचना [क्रिया तथा क्रियाविशेषण]

संस्कृतकी क्रियाएँ अन्य भारोपीय भाषाओंकी भाँति वाच्य, लकार, काल, पुरुष तथा वचनसे युक्त हैं। इनमें तीन प्रकारकी वाच्यता पाई जाती है, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा स्ववाच्य [आत्मनेपदी], जिन्हें भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे अलग-अलग कोटिमें मानना होगा। संस्कृतमें दस लकार, तीन काल, तीन पुरुष तथा तीन वचन पाये जाते हैं। प्राचीन भा० यू० के विषयमें हम देख चुके हैं कि वहाँ क्रियाके विभिन्न लकार वस्तुतः क्रिया-के प्रकार विशेषका बोध कराते थे। साथ ही ये क्रिया रूप न केवल क्रियाका ही बोध कराते थे, अपितु उसी पदके द्वारा कर्ताका भी बोध कराते थे, जिससे कर्ताके पुनः प्रयोगकी आवश्यकता ही न थी, यदि उसकी आवश्यकता होती थी तो प्रथम पुरुषमें। उदाहरणके लिए भवसि तथा भवामि में कर्ता स्वयं अनुस्यूत है, अतः त्वं तथा अहम् के बिना भी उसकी भावप्रतीति हो जाती है। यह तथ्य एक मनोवैज्ञानिक सत्यकी ओर संकेत करता है कि आरम्भकी सामाजिक अवस्थामें प्रा० भा० यू० का व्यवहार करनेवाले कर्ता तथा क्रियाके [व्याकरणात्मक] भेदसे स्पष्टरूपेण परिचित न थे। सभ्यताके विकासके साथ मानसिक विकास होनेपर इनका भेद ज्ञात हुआ।

इसके पूर्व कि क्रियारूपोंका अध्ययन करें, आगम, धातु तथा विकरणको समझ लिया जाय। धातु किसी क्रियारूपका मेरुदण्ड है। इसी मूल रूपमें तिङ् प्रत्यय जोड़कर विभिन्न क्रिया रूपोंकी सृष्टि होती है। भूतकाल [लङ् तथा लुङ् दोनों ही] में क्रियाके मूल रूप [धातु] के पूर्व 'अ' का आगमन होता है जो संस्कृतमें भूतकालका द्योतक माना जाता है। यह अ प्रा० भा० यू० *ए से विकसित हुआ है, तथा यह लङ् [imperfect] और लुङ् [aorist] दोनोंमें ग्रीकमें भी प्रयुक्त होता है, यथा

मस्कृत अभरम्, अभरः, अभार्षम्, ग्रीक एँफेरॉन् [epheron], एँफेरेस् [e-phere-s], एँफ्रॉन [e-phro-n] । विकरण संस्कृतमे उन अन्तः-प्रत्ययोंके लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द हैं, जो कई गणोंमे, कई लकारोमें, तथा कई अन्य प्रकारके रूपोमे धातु तथा तिङ् प्रत्ययके बीचमें जोड़ा जाता है। उदाहरणके लिए भू धातुको लीजिए। इसके साथ वर्तमाने लट्का प्रथम पुरुष एक वचनका तिङ् प्रत्यय 'ति' जोड़नेपर 'भू + ति' रूप बनेगा। इस गणके [भ्वादिगणके] धातुओंमे बीचमें 'अ' विकरणका प्रयोग पाया जाता है; इससे यह 'भू + अ + ति = भवति' रूप हो गया है, जहाँ धातुकी अन्तिम स्वर ध्वनि 'ऊ' में गुण होकर अव् रूप हो गया है। ये विकरण आरम्भसे ही प्रा० भा० यू० की विशेषता रहे हैं, यथा ये ग्रीक आदि अन्य भारोपीय भाषाओंमे भी पाये जाते हैं। इन्हीके आधारपर ग्रीकके क्रिया रूपोको सविकरण [thematic], अविकरण [athematic] इन दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जाता है। इन शब्दोंकी रचना 'थेमॉस' [the-mos] से हुई है, जिसका अर्थ वही है, जो संस्कृत वैयाकरणोंके विकरण-का। संस्कृतमें ये विकरण संख्यामें २० के लगभग पाये जाते हैं। इन्ही विकरणोंके आधारपर संस्कृत व्याकरणमें धातुओंको भ्वादि दस गणोंमे विभक्त किया गया है। संस्कृतके दस लकारोका सार्वधातुक तथा आर्ध-धातुक श्रेणी विभाजन पाया जाता है। संस्कृत धातुओंमें कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनके साथ किसी भी विकरणका प्रयोग नही पाया जाता। संस्कृतके अदादिगणी धातु इस अविकरणात्मक कोटिमे आयेंगे। उदाहरणके लिए इस गणके अस् धातुको लीजिए, जिनके वर्तमानके प्र० पु० एकवचनमें अस् + ति = अस्ति रूप पाया जाता है, इसी विकरण प्रक्रियाके आधारपर संस्कृतमें एक और विभाजन पाया जाता है, जो अनिट् तथा सेट्के नामसे प्रसिद्ध है। जिन धातुओंके कुछ रूपोमे 'इ' [इट्] विकरणका प्रयोग पाया जाता है, वे धातु 'सेट्' तथा अन्य 'अनिट्' कहलाते है। उदाहरणके लिए 'भू' तथा 'दा' इन दो धातुओंको ले लीजिए। 'भू' से भविता,

भवितुं, भविष्यति आदि सेट् रूप बनते है, किंतु 'दा' से दाता, दातुं, दास्यति रूप बनते हैं। अतः प्रथम सेट् है, दूसरा अनिट्। इस इ विकरणका प्रा० भा० यू० रूप क्या रहा होगा, इस विषयपर आगे प्रकाश डाला जायगा।

पहले इन क्रिया रूपोंके मेरुदण्ड, धातुपर ध्यान दे लिया जाय। संस्कृतमें सभी धातु एकाक्षर [monosyllabic] पाये जाते हैं, अर्थात् इन धातुओंमें एक ही स्वर पाया जाता हैं। यह स्वर व्यञ्जनहीन हो सकता है, अथवा इसके पूर्व तथा परमें एक या दो व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जा सकती हैं। इस प्रकार स्वरध्वनिके लिए V तथा व्यञ्जनध्वनिके लिए C चिह्नका प्रयोग करते हुए, इन संस्कृतके मूल धातु रूपोंको हम इन कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं।

[१] V [यथा 'इ' [इण् गतौ]] [२] VC [अस्, आप्], [३] VCC [उक्ष्] [४] CV [कृ], [५] CCV [क्री] [६] CCVC [क्षर्], [७] CCVCC [स्पन्द्], [८] CVCC [मन्द्]।

भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे संस्कृत धातुओंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है।

—अर्–ऋ अन्तवाले धातु —√ऋ [–अर्], √स्वर्

—अन् अन्तवाले धातु —√क्षन्, √स्वन्, √खन्,

—अस्–म् अन्तवाले धातु —√ग्रस्,√ग्रस्,√ध्वस् √क्षुप्, [√क्षु वैकल्पिक रूप]√भक्ष्, √नक्ष्, √उक्ष्, √निक्ष्, √वक्ष्, √ह्रास्,

—अम् अन्तवाले धातु —√द्रम्, √गम्, √क्षम्, √भ्रम्,

—इ अन्तवाले धातु —√क्षि, √श्रि, √सि [√सी भी है], √शि,

—उ अन्तवाले धातु —√श्रु, √स्रु, [बहना], √द्रु [दौड़ना]

—आ अन्तवाले धातु, जो प्रा० भा० यू० में 'अ' + कण्ठनालिक स्पर्श [laryngal] [a H/H] से सम्बद्ध है। √गा, √या, √स्ना,

[निगल जाना], √द्रा [दौडना], √ज्या [√ जि] [जीतना], √त्रा [रक्षा करना]

—त् अन्तवाले धातु √कृत् [काटना], √चित् [सोचना], √छित् [टुकडे होना], √श्वित् [चमकना],√द्युत् [चमकना]

—थ् अन्तवाले धातु √प्रथ् [बढना], √व्यथ् [काँपना], √मथ् [घुमना], √श्रथ् [ढीला पडना], √ग्रथ् [गूँथना]।

—द् अन्तवाले धातु √छद् [बाँटना], √छिद् [काटना], √रुद् [रोना], √मृद् [मसलना], √पीड् [दबाना: ∠ *पिज़्द्], √स्यन्द् [बहना], √क्रन्द्– क्रुन्द् [रोना, चिल्लाना]।

—ध् अन्तवाले धातु √मृध् [ध्यान न देना], √एध् [बढना], √स्पृध् [स्पर्धा करना], √क्षुध् [भूखा होना]।

—प् अन्तवाले धातु √दीप् [चमकना], √म्लुप् [सूर्यास्त होना], √रिप्–√लिप् [लीपना], √रुप्–√लुप् [तोडना, समाप्त करना], √विप् [काँपना], √स्वप् [सोना]।

भ्—अन्तवाले धातु √शुभ् [चमकना], √स्तुभ् [स्तुति करना]

—च् अन्तवाले धातु . √म्लुच् [अस्त होना, दे० म्लुप्], √याच् [माँगना], √सिच् [सींचना]।

—ज् अन्तवाले धातु √तर्ज् [तर्जना देना, डराना], √युज् [जोडना], √रुज् [तोडना], √विज् [काँपना]।

—ह् अन्तवाले धातु √स्पृह् [इच्छा करना], √द्रुह् [नुकसान करना, द्रोह करना]।

डॉ० एलनने, प्राचीन भारत यूरोपीय धातुओंके मूल रूपोंके विषयमें, जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियोंका प्रश्न है, एक लेखमें प्रकाश डाला है। उनके मतानुसार इन धातुओंमें प्रायः दो व्यञ्जन [C_1 C_2] पाये जाते थे, जिनमें तीसरे व्यञ्जन [C_3] का भी कभी-कभी समावेश हो जाता है। इन्हीं धातु-

सघटनाके अन्तर्गत सदा एक ही 'स्वर' [V] होता है, जिसमें सन्ध्यात्मक [prosodic] तथा गुणात्मक [qualitative] परिवर्तन, विभिन्न रूपोंमें पाये जाते हैं। अत व्यञ्जनयुक्त प्रा० भा० यू० धातुओंको डॉ० एलनने मौलिक दृष्टिसे दो तरहका माना है.—$C_1 \ VC_2C_3$ तथा $C_1C_2VC_3$ जहाँतक इन प्रा० भा० यू० धातुओंमें प्राप्त 'स्' [s] तथा 'न्' [n] ध्वनियोंका प्रश्न है वे इन्हें "ध्वनितत्व" [phonetic element] न मानकर "सन्ध्यात्मक तत्त्व" [prosodic element] मानते हैं। इन धातुओंमें जहाँ भी वही कण्ठनालिक "लैरिंजियल" ध्वनि [* ə]का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उसे ध्वनितत्त्व ही मानना होगा। इस प्रकार वे प्रा० भा० यू० धातुओंके वास्तविक व्यंजन तत्त्व C_1C_2 ही मानते हैं, जहाँ C_3 के होनेकी भी सभावना है जो कभी स्पष्ट रूपमें और कभी शून्य रूपमें पाया जाता है।[1] इस प्रकार प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंको वे सेमेटिक धातुओंके मूल रूपोंकी भाँति मानते जान पडते हैं, जहाँ केवल तीन व्यञ्जन ही प्रमुख तत्त्व है, तथा उन्हींमें 'स्वर' तत्त्व जोडकर विभिन्न पदोंकी सृष्टि होती है, उदाहरणके लिए प्रमुख सेमेटिक भाषा अरबीसे 'कुतुब्' [लिखना], कृतुल् [मारना] इन दो धातुओंको लीजिए, इन्हींसे **किताब, कुतुब, मकतब, कातिब, यक्तुबु [मैंने लिखा], तथा कत्ल, क़ातिल, यक़्तुलु [मैंने मारा]** आदि रूप बनते हैं।

प्रा० भा० यू० धातुओंके मूल रूपोंका विचार कर लेनेके बाद अब हम उन प्रमुख विशेषताओंकी ओर आयेंगे, जो संस्कृतके क्रियारूपोंमें पाई जाती हैं। संस्कृतके क्रियारूपोंमें इन प्रमुख विशेषताओंमेंसे एक द्वित्वकी विशेषता है, जहाँ धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। यह द्वित्व वैसे तो परोक्षभूत, सन्नन्त तथा यङ्लुङन्तमें प्राय सभी धातुओंमें पाया जाता है, किन्तु कुछ धातुओंके लट् तथा लुङ् आदिमें भी यह धातुका द्वित्व पाया

१. Dr. Allen : Indo-European primary affix B[h] p. 3. Transections of philological society of G. B. 1950.

जाता है। उदाहरणके लिए संस्कृतके अभात् [√भा] तथा अस्थात् [√स्था] को ले लीजिए, जो दोनों लुङ्के रूप हैं। यहाँ दोनों द्वित्वविहीन रूप हैं। किन्तु वर्तमान लट्में स्था को तिष्ठ आदेश होकर तिष्ठति रूप बनता है, जिसका काल्पनिक पूर्व रूप *स्तिष्ठति माना जा सकता है, जहाँ स्पष्ट ही धातुका द्वित्व पाया जाता है। गा, दा, धा, पा [पिबति],[1] स्था आदि ये धातु हैं, जिनके कई लकारोंके रूपोंमें द्वित्व पाया जाता है। ठीक यही बात ग्रीकमें पाई जाती है[2]। उदाहरणके लिए संस्कृत दा तथा स्था धातुओंके समानान्तर ग्रीक धातुओंके इन रूपोंको लीजिए—दिदोमि [didōmi] [सं० ददामि], हिस्तेमि [histemi] [सं० तिष्ठामि], जहाँ धातुका द्वित्व रूप स्पष्ट है। यह द्वित्व दोनों ही भाषाओंके परोक्षभूत लिट् [perfect] में नियत रूपसे पाया जाता है, यथा,

सं०	जजान	ग्रीक	गेगोन	[gegona]
	विवेद	,,	देदइल	[dedeil ha]
	रिरेच	,,	लेलोइप	[leloipa]
	बुभोज	,,	पेफेउग	[pepheuga]

संस्कृतके सन्नन्त तथा यङ्लुगन्त रूपोंमें भी धातुका द्वित्व पाया जाता है, जो पिपठिषति, बुभुक्षते, जिगमिषति, चिकीर्षति, वेविज्यते [√विज् से यङ्लुगन्त], मेनीयते, मर्मृज्यते, चोक्षूयते आदि रूपोंमें स्पष्ट है। इस सम्बन्धमें संस्कृत धातुके द्वित्वके कुछ साधारण नियमोंका उल्लेख कर देना आवश्यक होगा।

---

१. ध्यान देनेकी बात है कि रक्षार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व नहीं होता, वहाँ लट्के रूप 'पाति' आदि बनते हैं, पानार्थक 'पा' धातुमें द्वित्व होता है।

२. King and Cockson. Comparative Grammar of Greek and Latin, p. 136

[१] धातुके केवल प्रथम अक्षरका ही द्वित्व होता है, √बुध्–बुबोध, √पठ्–पपाठ।

[२] धातुके प्रथम ध्वनिके महाप्राण होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि-की प्राणता [aspiration] लुप्त हो जाती है, अर्थात् वह अल्पप्राण हो जाती है, यथा, √भी–बिभीते √धा –दधाति।

[३] धातुके प्रथम ध्वनिके कण्ठ्य [velar] होनेपर द्वित्व रूपमें प्रथम ध्वनि तालव्य पाई जाती है, यथा, √गम्–जगाम, √हन् [*घ्नन्]–जघान, √खन्– चखान, √कृ–चकार। इस ध्वनि परिवर्तनका कारण यह है कि प्रा० भा० यू० में इन द्वित्व रूपोंमें प्रथम अक्षरमें *ए [अग्र-स्वर] पाया था, जो ग्रीकमें अभी भी पाया जाता है। इस स्वरके परवर्ती होनेपर कण्ठ्य तथा कण्ठयोष्ठ्य ध्वनियाँ संस्कृतमें आकर तालव्य रूपमें विकसित हुई है, इसे हम चतुर्थ परिच्छेदमें देख चुके हैं। उदाहृत हन् धातुकी ह ध्वनि भी वस्तुत भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे घ है।

[४] यदि धातुके आरंभमें दो व्यञ्जन ध्वनियाँ पाई जाती हैं, तो प्रथम ध्वनिका ही द्वित्व होता है, यथा √क्रम–चक्राम।

[५] यदि धातुके आरंभकी दो व्यञ्जनध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि स है, तथा द्वितीय ध्वनि स्पर्श [अनुनासिक भिन्न स्पर्श ध्वनि] है, तो द्वित्व उस स्पर्शध्वनिका ही होगा, यथा √स्था–तस्थौ, √स्कन्द्–चस्कन्द। किंतु यदि द्वितीय ध्वनि अनुनासिक [न, म] या अन्तःस्थ है, तो स का ही द्वित्व होगा, यथा √स्वज्–सस्वजे, √स्मि–सिस्मिये।

[६] धातुका मूल स्वर द्वित्व होनेपर द्वित्वरूपमें [प्रथमाक्षरमें] ह्रस्व हो जाता है, जैसे √दा–ददाति, ददौ, √राध्–रराध।

इस संबंधमें यह भी कह दिया जाय कि संस्कृतमें कुछ ऐसे भी धातु है, जिनमें नियत रूपसे द्वित्व पाया जाता है, संस्कृतके वैयाकरणोंने इन्हें तीसरे गण [जुहोत्यादिगण] में स्थान दिया है। वैसे हम आगे देखेंगे कि कुछ

नियत द्वित्ववाले धातु अन्य गणोंमे भी पाये जाते है, जैसे √स्था [तिष्ठति], भ्वादिगणी है, जुहोत्यादिगणी नही।

डा० अलबेंत थुम्बने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हेन्दबुख देस सस्कृत' में प्रा० भा० यू० धातुओंको १४ वर्गोंको बाँटा है, जिन्हें हम सस्कृतके दस गणोंमें समाहृत रूपमें देखते हैं। ये चौदह वर्ग निम्न है —

[१] **प्रथम वर्गः**—इस वर्ग में शुद्ध धातुके साथ तिङ्प्रत्यय जोडा जाता है। यह सस्कृतका अदादि गण है। अस्ति, स्म, ग्रीक, एँस्ति, लैतिन एस्त, सु सुस, प्रा० भा० यू० *एँस्ति, *स्मस्, स० स्तौमि, स्तुम

[२] **द्वितीय वर्गः**—इस वर्गमें शुद्ध धातुके साथ 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *एँ] का प्रयोग पाया जाता है, तथा धातुका अपश्रुति-जनित रूप पाया जाता है। ग्रीकमें यह कभी एँ तथा कभी ओं मिलता है। भरामि, भरति, भरति, ग्रीक फेरो, फेरोउसि, लं० फेरे, फेरत, प्रा० भा० यू० *भेरो, *भेरेति, भेरेन्ति, स० बोधति [√बुध्],अजति [√अज्].

[३] **तृतीय वर्ग**—इस वर्गमें धातुका द्वित्व पाया जाता है। यह सस्कृतका जुहोत्यादि गण है —पिपर्मि, पिपृम, ग्रीक पिम्प्लमेन् [हम भरते है], प्रा० भा० यू० *पिपेल्मि, *पिप्लमोस्, स० जुहोमि, जुहुम, ददामि, दद्म, ग्रीक दिदोमि, दिदोमेन्, प्रा० भा० यू० *दिदोमि [देदोमि], *दिद्मोस [देद्मोस्]

[४] **चतुर्थ वर्ग**—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा थिमेटिक 'अ' [विकरण] [प्रा० भा० यू० *एँ]भी पाया जाता है —तिष्ठामि, ग्रीक हिस्तइति, लं० सिस्तित; स० सश्चति, [प्रा० भा० यू० *सेस्क्वेति]

[५] **पंचम वर्ग**—इस वर्गमे प्रा० भा० यू० क्रियाओंमें [१]

*ना–न्अ–न् विकरण अथवा [२] *नो–ने विकरण पाया जाता है। प्रथम कोटिमें अश्नामि, अश्नीम., अश्नन्ति, क्रीणामि, क्रीणीम, क्रीणन्ति रूपोंका समावेश होता है, द्वितीय कोटिमें संस्कृतके धातु नहीं पाये जाते, क्योंकि यहाँ आकार वे सभी प्रथम कोटिमें मिल गये हैं। ग्रीकमें ऐसे रूपोंका अस्तित्व है। थुम्बने इसके अवशेष दो-तीन संस्कृत क्रियाओंमें संकेत किये हैं —मिनति [वैदिक रूप], घूर्णते, कृपणते, किन्तु इनमें भी अन्तिम रूप तो नामधातु का है, जो 'कृपणवत् आचरति' से बना है।

[६] षष्ठ वर्ग.—इस वर्गमें भी दो कोटियाँ मानी गई हैं:—[१] प्रथम कोटिमें *नेव् [नु] विकरण माना गया है, इसके अपश्रुतिजनित *न्व तथा *नुव रूप भी होते हैं —स्तृणोमि, स्तृणुम, ग्रीक स्तोर्नुमेन्, प्रा० भा० यू० *स्तृनेव्मि, *स्तृनुमेस्। [२] द्वितीय कोटिमें 'नु' विकरणके साथ थिमेटिक 'अ' का भी प्रयोग पाया जाता है, चिन्वति, ग्रीक [होमर] तीनो [(*तिन्वो)], प्रा० भा० यू० *क्षिन्वेति।

[७] सप्तम वर्ग:—इसमें भी दो कोटियाँ हैं.—[१] प्रथम कोटिमें *ने/न् [सं० न] विकरणका प्रयोग पाया जाता है—छिनद्मि, छिद्म, भुनज्मि, भुञ्ज्म, [२] द्वितीय कोटिमें 'न्' विकरण धातुके मध्यमें पाया जाता है तथा अ विकरण भी जोड़ा जाता है, विन्दामि, लुम्पति।

[८] अष्टम वर्ग.—इस वर्गमें धातुके साथ *स् अथवा अस् [०४] या इस् विकरण तथा थिमेटिक 'अ' पाया जाता है। यह विकरण वस्तुतः सन्नन्त [इच्छार्थक] रूपोंमें पाया जाता है, पिपासति, जिज्ञोषिषामि।

[९] नवम वर्ग :—इस वर्गमें प्रा० भा० यू० धातुके साथ *स्कें विकरण पाया जाता था, जो सं० च्छ [छ], ग्रीक स्को, तथा लै० स्क्—के रूपमें विकसित हुआ है, गच्छामि [*ग्वृमस्को [-स्को]] पृच्छामि [*पृक्पृस्को]।

[१०] दशम वर्गः—इस वर्गका प्रा० भा० यू० विकरण *तो था। स० स्फुटति = *स्फूतति, प्रा० भा० यू० *√स्फुल् [स्फल्]+ता + ति [स्फल्तोति]। यह विकरण लैतिनकी साक्षीपर माना गया है— लै० फ्लेक्तो; जो ग्रीकमें 'को' के रूपमें विकसित हुआ है, ग्रीक फ्लेको।

[११] एकादश वर्गः—इस वर्गका विकरण *धो–*दो है, जिसका संस्कृतमें ध–द रूप मिलता है। स० योधति, कूर्दति, क्रोडति [*क्रिड़–द–ति]।

[१२] द्वादश वर्गः—इस वर्गका विकरण *इओ–ये [स०–य–] है, स० पश्यति, अवे० स्पस्येइति, लै० स्पेकिओ, ग्रीक पेस्सो। प्रा० भा० यू० *पेक्यो, स० कुप्यामि, मन्यते, दाम्यति।

[१३] त्रयोदश वर्ग.—इस वर्गमें धातुका द्वित्व तथा साथमें *यो–ये विकरण पाया जाता है। संस्कृतमें इस वर्गका कोई क्रिया रूप नहीं मिलता। प्राकृत ग्रीक [वल्गर ग्रीक] म इसका एक रूप मिलता है— ग्रीक तितइनो [tataino], प्रा० भा० यू० *ति–त्न्–यो। थुम्बने पाद-टिप्पणीमें पृच्छ्यते, वन्द्यते जैसे कर्मवाच्यरूपोंके 'य' विकरणका संबध इससे जोड़ा है।

[१४] चतुर्दश वर्गः—इस वर्गमें *एयो–*एये [स०-अय–] विकरण पाया जाता है। इसका सम्बन्ध संस्कृतके णिजंत रूपोंके 'य' विकरण तथा [चुरादि गणके भी विकरण] से जोड़ा जा सकता है। संस्कृत तर्पयामि, लै० तोर्रेयो [torreo] प्रा० भा० तोर्सेयो।

स० लोकयामि, लै० लूकेओ [luceo] प्रा० भा० यू० लोवूकेयो स० स्पृहयामि, प्राकृत [वल्गर] ग्रीक, स्पेर्खोमइ [sperkhomai]

संस्कृतमें ये सभी वैयाकरणोंके दस गणोंमें समाहित हो जाते हैं।

यहाँ इन विभिन्न गणोंपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। हम बता चुके हैं कि विकरणोंके आधारपर संस्कृत वैयाकरणोंने धातुओंको दस गणोंमें विभक्त कर दिया है — १. भ्वादि गण, २. अदादि गण, ३. जुहोत्यादि गण, ४. दिवादिगण, ५. स्वादिगण, ६. तुदादिगण, ७. रुधादिगण, ८. तनादिगण, ९. क्र्यादिगण, १०. चुरादिगण। वैसे कई ऐसे भी धातु हैं, जिनमें इनके अतिरिक्त स्वतन्त्र विकरणोंका प्रयोग पाया जाता है, किन्तु उनका समावेश इन्हींमेंसे किसी एकमें कर दिया गया है।

भ्वादिगण.—प्रथम गणके धातुओंका विकरण 'अ' है, इन धातुओंमें धात्वंशमें उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा उसकी स्वर ध्वनिमें गुण हो जाता है। इसे हम √जि, √भू, √बुध् के जयति, भवति, बोधति रूपोंमें देख सकते हैं, जहाँ वस्तुतः जि + अ + ति, भू + अ + ति, बुध् + अ + ति का विकास है। यह 'अ' विकरण ग्रीकमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ यह कभी ए होता है कभी ओ, यथा, ग्रीक फेरेते [pherete] [सं० भरत], फेरोमेन् [phero-men] [सं० भराम]। इस तथ्यसे यह स्पष्ट है कि प्रा० भा० यू० में यह विकरण कभी *ए तथा कभी *ओ रहा होगा। संस्कृतमें आकर ये दोनों अ के रूपमें विकसित हुए हैं। इसी सम्बन्धमें भ्वादिगणके दो धातु √यम् तथा √गम् का उल्लेख कर दिया जाय, जिनके वर्तमाने लट्में यच्छति तथा गच्छति रूप पाये जाते हैं। इन्हींके आधारपर प्रा० भा० यू० में एक विकरण *स्ख [*skh] की कल्पना की जाती है। इन धातुओंके लुङ् [aorist] तथा लुङ् लिङ् चिह्नोंके आधारपर बने लकारोंमें यह विकरण नहीं पाया जाता, यथा अगमत्, गम्यात् जगाम में। संस्कृतमें यह *स्ख विकसित होकर छ [च्छ] हो गया है, जो √यम्, √गम्, √प्रश् के यच्छति, गच्छति, पृच्छति जैसे रूपोंमें पाया जाता है। चूँकि यह विकरण संस्कृतके बहुत कम धातुओंमें

पाया जाता है, अत इसके आधारपर कोई अलगसे गण नही माना जाता, तथा इन्हे प्रथम या षष्ठ गणके अन्तर्गत ही समाविष्ट कर दिया गया है। गम् तथा यम् भ्वादिगणी धातु है, तो प्रश् तुदादिगणी धातु। ग्रीक आदि भाषाओमे भी इस *स्क विकरणके चिह्न मिलते हैं। ग्रीकमे यह स्क के रूपमें विकसित हुआ है।[1] संस्कृत गच्छामि के समानान्तर रूप बस्को [baskō] मे यह विकरण स्पष्टत परिलक्षित होता है।

संस्कृतमे भ्वादिगणी धातु सबसे अधिक पाये जाते है। प्राय सस्कृत धातुओमे आधे भ्वादिगणी है। प्राकृत तथा अपभ्रश कालमें भी यही गण धातुओमे प्रधान रहा है तथा शेष गण वहाँ लुप्त हो गये है। प्रा० भा० यू० भाषाओमे भ्वादिगणीमे थिमेटिक 'अ' [विकरण] का प्रयोग पाया जाता है, जो प्रातिपदिक [nominal stems] में भी पाया जाता है। इसके समानान्तर कतिपय उदाहरण निम्न है —

सं० प्लवते, प्रवते [तिरता है], ग्रीक प्लेवो [pleṷō] [मैं तैरता हूँ]
,, स्रवति [बहता है], ,, हेएइ [rheei]
,, स्वनति [शब्द करता है], लैटिन सोनित् [sonit]
,, स्तनति [गरजता है], ग्रीक स्तेनेइ [stenei]
,, बोधति [समझता है] ग्रीक पेउफोमइ [peuphomai]
,, सर्पति [रेंगता है] ,, हेर्पेइ [herpei], लै० सेर्पित [serpit]
,, त्रसति [कॉपता है, डरता है], ग्रीक त्रेओ [treō] [मैं डरता हूँ]
,, पतति [गिरता है], ,, पेतोमइ [petomai]
,, हवते [हवन करता है], अवेस्ता जवइति [zavaiti], प्रा० स्ला० ज़ोवेतु [zovetu]

---

[1]. Atkinson : Greek Language p. 47.

हम देख चुके हैं कि इस गणमें धात्वंशपर उदात्त स्वर तथा धात्वंशके स्वरका गुण पाया जाता है, किंतु कभी-कभी कुछ धातुओंमें वृद्धि भी होती है, जैसे बाधते, भ्राजते, धावति, भ्रामति [इसके आत्मनेपदीरूप भ्रमते हैं], आचामति में। इस गणके धातुओंको पुनः चार वर्गोंमें बाँटा गया है — [१] अनुनासिक तत्त्व वाले धातु जैसे, 'निन्दति' [√ निद्], [२]—व प्रत्यय वाले धातु, जैसे 'जीवति' तूर्वति, [३] च्छ विकरण वाले धातु गच्छति, यच्छति, [४] धातुके द्वित्वरूप वाले जैसे, तिष्ठति [√ स्था], पिबति [√ पा], जिघ्रति [√ घ्रा]।

भ्वादिगणी धातुके रूपोंके निदर्शनके लिए हम √ भू [होना] धातुके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदीके मुख्य तथा गौण तिङ् चिह्नवाले रूप दे रहे हैं —

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य, वर्तमाने लट् —

	प्रथम पु०	भवति	भवतः	भवन्ति
	मध्यम पु०	भवसि	भवथः	भवथ
	उत्तम पु०	भवामि	भवावः	भवामः
आत्मनेपदी	प्र० पु०	भवते	भवेते	भवन्ते
	म० पु०	भवसे	भवेथे	भवध्वे
	उ० पु०	भवे	भवावहे	भवामहे

परस्मैपदी, कर्तृवाच्य अनद्यतनभूते लङ् [Imperfect]

	प्र० पु०	अभवत्	अभवताम्	अभवन्
	म० पु०	अभवः	अभवतम्	अभवत
	उ० पु०	अभवम्	अभवाव	अभवाम
आत्मनेपदी	प्र० पु०	अभवत	अभवेताम्	अभवन्त
	म० पु०	अभवथा.	अभवेथाम्	अभवध्वम्
	उ० पु०	अभवे	अभवावहि	अभवामहि

अदादि गणः—इस गणके धातुओंमें कोई विकरण नही पाया जाता, धातुके साथ ही तिङ् चिह्नोंका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें लगभग १३० धातु इस गणमें पाये जाते हैं। अन्य भा० यू० भाषाओंमें ये अविकरण धातु प्रायः लुप्त हो गये हैं, तथा इनके स्थानपर सविकरण [थिमेटिक] रूप पाये जाते हैं। वैसे अविकरण धातुओंके कुछ अवशेष अन्य भा० यू० भाषाओंमें छुटपुट मिलते अवश्य हैं। जैसे, सं० अस्ति, ग्रीक ऐस्ति, लै० इस्त्; सं० एमि, इमः, ग्रीक ऐइमि, [मैं जाता हूँ] इमेन् [हम जाते हैं], लिथु० ऐइमि, सं० अत्ति, लै० इस्त्, रूसी ऑस्त्य [jest'] [वह खाता है], सं० आसते, ग्रीक हेस्तइ [hestai] [वह बैठता है], सं० शेते, ग्रीक केइतइ [वह सोता है]। इस प्रकारके अविकरण धातुओंकी स्थिति हित्ताइत भाषामें स्पष्टतः देखी जाती है, जैसे सं० हन्ति, घ्नन्ति, हित्ताइत कुएन्सि [kuenzi] [वह मारता है], कुनन्ज़ि [kunanzi] [वे मारते हैं], सं० वष्टि [√वश्], हित्ताइत वेक्ज़ि [wekzi] [वह चाहता है]; सं० शस्ति [√शस्], हित्ताइत शेश्ज़ि [वह सोता है]।

इस गणके धातुओंमें परस्मैपदी रूपोंमें धातुपर उदात्त स्वर पाया जाता है, तथा स्वरका गुण भी होता है, आत्मनेपदी रूपोंमें यह नही होता, वहाँ धातुका दुर्बल या मूल रूप [weak form] ही पाया जाता है तथा उदात्त स्वर तिङ् चिह्नपर पाया जाता है। हन्ति, घ्नन्ति, वश्मि, अस्मि, स्मः; किंतु आस्ते, द्विष्टे, शेते, आसते, द्विषते, शेरते।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें आरंभमें व्यञ्जन ध्वनि तथा बादमें 'उ' स्वर पाया जाता है, गुणके स्थानपर वृद्धि होती है—स्तौति [√स्तु], यौति [√यु]। वैसे कुछ अन्य धातुओंमें भी वृद्धि होती है, जैसे मार्ष्टि [√मृज्], प्र० पु० ब० व० रूप मृजन्ति।

इस गणमें विकरणका प्रयोग न होनेके कारण तिङ् चिह्नोंके साथ धात्वंशकी संधि होनेसे नये ढंगके रूप देखनेमें आते हैं, जो ध्वनिसंबंधी

दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। इसके कतिपय उदाहरण ये हैं :—√दुह् : दोह् + सि = धोक्षि, दोह् + ति = दोग्धि, √लिह् : लेह् + ति = लेढि, √शास् : शास् + धि = शाधि।

इस गणमें कतिपय धातु ऐसे भी हैं, जो मूलतः अविकरण धातु नहीं थे, यथा √त्रा [रक्षा करना], √शास् [शासन करना], √वस् [वस्त्र धारण करना]। ये धातु स्वर प्रक्रियाकी दृष्टिसे अपवाद रूप [इरॅग्यूलर] हैं। कई द्वित्व रूपवाले धातु भी इस गणमें संगृहीत हो गये हैं, जैसे √घस् [खाना] [घस्ति, घसन्ति, घस्त] [जो वस्तुतः एक विकृत [defective] धातु है]। √जक्ष् [निगलना, खाना [जक्षिति, जक्षित, जाध] [यह भी विकृत धातु है] इस गणमें कतिपय धातु ऐसे हैं, जिनमें धातुके साथ 'इ' अन्त प्रत्यय या विकरणका प्रयोग पाया जाता है, जैसे √रुद् [रोदिति], √स्वप् [स्वपिति], √अन् [साँस लेना] [अनिति], √श्वस् [श्वसिति], √जक्ष् [जक्षिति]। कुछ ऐसे भी धातु हैं, जिनमें वैदिक रूप 'इ' अन्त प्रत्ययवाले मिलते हैं, किंतु लौकिक रूपोंमें 'इ' का प्रयोग नहीं मिलता। वमिति [लौ० सं० वमति], जनिष्व [लौ० सं० जनस्व], वसिष्व, स्तनिहि, स्तथिहि, महाभारतमें ज्रोचिमि रूप मिलता है। 'इ' के अतिरिक्त इस गणमें 'ई' विकरण भी पाया जाता है, जो केवल √ब्रू धातुमें पाया जाता है, पर यहाँ भी यह केवल सबल रूपोंमें ही होता है, दुर्बल रूपोंमें इसका 'ब्रुव्–' रूप ही मिलता है, यथा ब्रवीति, अब्रवीत् [सबल रूप] ब्रुवम, ब्रुवन्ति [दुर्बल रूप]। इस धातुके समानान्तर अवेस्ता धातु √म्रव् के रूपोंमें यह 'ई' अन्त प्रत्यय नहीं पाया जाता, अवेस्ता म्रओइते [mraoite] [वह बोलता है], म्रओत् [mraot] [वह बोले] [आज्ञा रूप]। वैसे इस अन्त प्रत्ययके चिह्न अन्य यूरोपीय भाषाओंमें मिलते हैं :—लै० अउदीरे [audīre] प्रा० स्लावोनिक सुपितु [supitu] [वह सोता है], म्लुवित, [mluvitu] [बडबडाता है]। ह्रस्व 'इ' अन्त. प्रत्ययकी भाँति यह प्रत्यय भी लौकिक

संस्कृतमें प्राय लुप्त हो गया है—केवल √ब्रू धातुमें ही इसका प्रयोग पाया जाता है। वैदिक संस्कृतमें कुछ छुटपुट निदर्शन देखे जा सकते हैं —
अमीति [√अम् 'हानि पहुँचाना'], तवीति [√तु 'बलवान् होना']
शमीष्व [√शम् 'परिश्रम करना']।

अदादि गणके रूपोंके लिए निम्न निदर्शन देना पर्याप्त होगा —धातु √द्विष् [द्वेष करना]।

कर्तृवाच्य, परस्मैपदी वर्तमाने लट्

प्र० पु० द्वेष्टि, द्विष्टः, द्विषन्ति, म० पु० द्वेक्षि, द्विष्ठः, द्विष्ठ, उ० पु० द्वेष्मि, द्विष्वः, द्विष्मः ।

आत्मनेपदी, वर्तमाने लट् —प्र० पु० द्विष्टे, द्विषाते, द्विषते, म० पु० द्विक्षे, द्विषाथे, द्विड्ढ्वे, उ० पु० द्विषे ,द्विष्वहे, द्विष्महे ।

परस्मैपदी, अनद्यतनभूते लङ् —प्र० पु० अद्वेट्, अद्विष्टाम, अद्विषन्, म० पु० अद्वेट, अद्विष्टम, अद्विष्ट, उ० पु० अद्वेषम, अद्विष्व, अद्विष्म ।

आत्मनेपदी, अनद्यतनभूते लङ् —प्र० पु० अद्विष्ट, अद्विषाताम, अद्विषत, म० पु० अद्विष्ठाः, अद्विषाथाम, अद्विड्ढ्वम, उ० पु० अद्विषि, अद्विष्वहि, अद्विष्महि ।

जुहोत्यादिगण —इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं, जिनमेंसे लौकिक संस्कृतमें केवल १६ ही धातु इस गणके रूपोंका निर्वाह करते देखे जाते हैं। इस गणकी सबसे बडी विशेषता यह है कि यहाँ धातुका द्वित्व हो जाता है। ग्रीक भाषामें भी ऐसे द्वित्व रूपवाले धातु पाये जाते हैं —ग्रीक, पि [म्] प्लेमि, [मैं पूर्ण करता हूँ, मैं भरता हूँ], [स० पिपर्मि], ग्रीक, पि[म्] प्लमॆन् [हम भरते हैं] [स० पिपृम], ग्रीक पिइस्किफनइ [धारण करना, परिचय देना] [स०बिभर्मि, बिभृम], ग्रीक दिदोमि, [मैं देता हूँ], [स० ददामि], ग्रीक तिथेमि [धारण करता हूँ] [स० दधामि] ग्रीक हिस्तेमि [ठहरता हूँ] [स० तिष्ठामि] [संस्कृतमें √स्था धातु भ्वादि-गणी है]। अन्य भा० यूरोपीय भाषाओंमें ये रूप प्राय लुप्त हो गये हैं।

धातुके द्वित्वरूपमें, जिन धातुओंमें मूलतः इ या उ स्वर ध्वनि पाई जाती है, ठीक वही ध्वनि रहती है, चिकेति [√कि], जिह्वेति [√ह्री], विवेष्टि [√विश्], बिभेति [√भी], युयोक्ति [√युज्]। अन्य धातुओंमें द्वित्वरूपकी प्रथम स्वर ध्वनि या तो इ या अ पाई जाती है —[१] जिघ्रति [√घ्रा], पिपर्ति [√पृ], बिभर्ति [√भृ], जिगाति [√गा जाना], मिमाति [√मा बैलकी तरह शब्द करना], शिशाति [√शा शस्त्रको तेज करना] सिषक्ति [√सच्] [२] ददाति [√दा], दधाति [√धा], जहाति [√हा], बभस्ति [√भस् खाना], दर्धर्ति [√धृ], ससस्ति [√सस् सोना]।

इस गणके धातु रूपोंमें उदात्त स्वरका कोई निश्चित स्थान नहीं है। यह कभी तो धातुके सबल रूपोंमें धात्वंशपर पाया जाता है; जुहोति, जो धातुओंमें द्वित्वरूपपर भी पाया जाता है, जहाँ यह सदा प्रथमाक्षरपर होता है, दधाति। वैदिक संस्कृतमें प्रायः उदात्त स्वर इनके प्रथमाक्षरपर ही पाया जाता है, जब कि परवर्ती संस्कृतमें यह वास्तविक धात्वंशपर पाया जाता है,— बिभर्ति [वैदिक रूप], बिभर्ति [लौकिक रूप]। ग्रीकमें उदात्त स्वर द्वित्वरूप या प्रथमाक्षरपर ही होता है, दिदोमि [didomi]। विद्वानोंने यह अनुमान किया है कि मूलतः इस गणके धातुओंमें कर्तृवाच्य [परस्मैपदी] रूपोंमें तीनों पुरुषोंके ए० व० में उदात्त स्वर धात्वंशपर ही पाया जाता था, तथा इसके ब० व० रूपोंमें धातुके दुर्बल रूप होनेके कारण यह उदात्त स्वर द्वित्व अंशवाले प्रथमाक्षरपर रहता था . ददति, सश्चति।[1]

धातुके द्वित्व रूपोंमें, उन धातुओंमें जहाँ य् या व् ध्वनि पाई जाती है, इनका सम्प्रसारण हो जाता है —√व्यच् [विविक्तः], √ह्वर्

१. T. Burrow : Sanskrit Language P. 322

[जुहूर्या], तथा √सच् [सश्चति] और √भस् [बप्सति] धातु में एक अक्षरका लोप हो जाता है। 'आ' स्वरध्वनिवाले धातुओंके रूप अनेक तरहसे चलते हैं। इनमे साधारण कोटिके धातु √दा तथा √धा हैं, जिनके दुर्बलरूपमें स्वरध्वनि लुप्त हो जाती है—दद्व', दत्तः, दध्व', दध्मः। अन्य प्रकारके आ स्वरध्वनिवाले धातुओंमें धातु तथा तिङ् चिह्नके बीच इ या ई जोड दिया जाता है। जहिमः, जहिहि [√हा]; शिशीहि [√शा], मिमीते [√मा], ररीथाः [√रा 'देना']।

इस गणके रूपोंका संकेत √धा [धारण करना] धातुके निम्न रूपोंसे किया जा सकता है।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य वर्तमाने लट्:—प्र० पु० दधाति, धत्तः, दधति, म० पु० दधासि, धत्थः, धत्थ, उ० पु० दधामि, दध्वः, दध्मः।

आत्मनेपदी वर्तमाने लट्:—प्र० पु० धत्ते, दधाते, दधते, म० पु० धत्से, दधाथे, धद्ध्वे; उ० पु० दधे, दध्वहे, दध्महे।

परस्मैपदी कर्तृवाच्य, अनद्यभूते लङ्:—प्र० पु० अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः, म० पु० अदधाः, अधत्तम्, अधत्त; उ० पु० अदधाम्, अदध्व, अदध्म।

आत्मनेपदी अनद्यतनभूते लङ्:—प्र० पु० अधत्त, अदधा-ताम्, अदधत; म० पु० अधत्थाः, अदधाथाम्, अधद्ध्वम्, उ० पु० अदधि, अदध्वहि, अदध्महि।

दिवादिगण:—संस्कृतमें चतुर्थ या दिवादि गणके धातुओंकी संख्या लगभग १३० है। इस गणके धातुओंमें य विकरणका प्रयोग पाया जाता है। यह य विकरण नामधातुओंमें भी प्रयुक्त होता है। कर्मवाच्य रूपोंमे भी य विकरणका प्रयोग पाया जाता है, किंतु दिवादिगणके आत्मनेपदी रूपों तथा कर्मवाच्य क्रिया रूपोंमे यह वैषम्य है कि यहाँ उदात्त स्वर धात्वंश पर पाया जाता है, जब कि कर्मवाच्य रूपोंमे उदात्त स्वर विकरणपर पाया

जाता है, यथा तप्यते [आत्मनेपदी, दिवादिगण], पठ्यते [भ्वादिगणी √पठ् धातुका कर्मवाच्य रूप]। दिवादिगणी धातुओंके रूपोंका निदर्शन यह है —कुप्यति, नृत्यति, दीव्यति, तुष्यति, मुह्यति, युध्यति, विध्यति [√व्यध्], हृष्यति, पश्यति, नह्यति, तप्यते।

'य' विकरणवाले धातुरूपोंके समानान्तर रूप हित्ताइत तथा ग्रीकमें भी पाये जाते हैं —हित्ताइत वेमिएज़्ज़ि [uemiezzi] [ढूँढ़ता हूँ] [सम्भवत स० विन्दति], ज़हिएज़्ज़ि [zahhiezz] [युद्ध करता हूँ] [स० युध्यति], ग्रीक मइनेतइ [पागल होता हूँ] [स० मन्यते मानता है]। लैटिनमें 'य' विकरणवाले थिमेटिक रूपोंके स्थानपर 'इ' वाले अथिमेटिक रूप पाये जाते हैं —कुपिओ कुपित् [मैं कुपित होता हूँ, वह कुपित होता है], [स० कुप्यति]

इस गणके कतिपय धातुओंमें धातुके मूलस्वरकी वृद्धि पाई जाती है — माद्यति, [√मद्] श्राम्यति [√श्रम्]। कुछ ऐसे भी आ ध्वनिवाले धातु हैं, जिन्हें वैयाकरणोंने गलतीसे भ्वादिगणी मान लिया है, जैसे गायति [√गा], ग्लायति [√ग्ला], त्रायति [√त्रा], ध्यायति [√ध्या]। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे ये धातु वस्तुत दिवादिगणके ही माने जाने चाहिए, जहाँ य विकरण पाया जाता है[1], किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंने इनमें आ स्वर-ध्वनि न मानकर ऐ स्वरध्वनि मानी है तथा इनके धातु रूप क्रमश √गै, √ग्लै, √त्रै, √ध्यै माने हैं।[2]

---

१ T. Burrow Sanskrit Language p. 330

२ देखिए —ग्लै म्लै हर्षक्षये। ग्लायति [सिद्धान्तकौमुदी उत्तरार्ध २७३, पृ० १८२] गै शब्दे। गेयात् [वे० वही पृ० १८४], ध्यै चिन्तायाम् [वही पृ० १८३], त्रैङ् पालने त्रायते [वही पृ० १९७]। सिद्धान्तकौमुदीमें ये सभी धातु भ्वादिगणके ही प्रकरणमें निर्दिष्ट हुए हैं।

इस गणमें कतिपय आ ध्वनि वाले धातु ऐसे भी है, जिनमे उदात्त स्वर विकरणांशपर पाया जाता है तथा धात्वंशको स्वर ध्वनिका लोप हो जाता है। द्यति [√दा], [बाँधता हैं], छ्यति [√छा] [काटता हैं] स्यति [√सा], [बाँधता हैं], श्यति [√शा] [शस्त्र तेज करता हैं]। इस संबंधमें भी यह संकेत कर देना आवश्यक होगा कि यहाँ भी वैयाकरणोंने इन धातुओंका मूल स्वर आ न मानकर ओ माना है—√दो [अवखण्डने], √छो [छेदने], √शो [तनूकरणे], √षो [√सो] [समापने]। वैसे संस्कृत वैयाकरणोंने इन्हें दिवादिगणमें ही माना है।[1] इनके रूपोंका उदाहरण निम्न हैं —

प० वर्तमाने लट् —प्र० पु० दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति; म० पु० दीव्यसि, दीव्यथ , दीव्यथ, उ० पु० दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्याम। [√दिव् : 'जुआ खेलना']

आ० वर्तमाने लट् —प्र० पु० दीप्यते, दीप्येते, दीप्यन्ते, म० पु० दीप्यसे, दीप्येथे, दीप्यध्वे, उ० पु० दीप्ये, दीप्यावहे, दीप्यामहे। [√दीप् : चमकना]।

परस्मै० लङ् —प्र० पु० अदीव्यत्, अदीव्यताम्, अदीव्यन्, म० पु० अदीव्य , अदीव्यतम्, अदीव्यत, उ० पु० अदीव्यम्, अदीव्याव, अदीव्याम।

आ० लङ् —प्र० पु० अदीप्यताम्, अदीप्येताम्, अदीप्यन्त, म० पु० अदीप्यथा , अदीप्येथाम्, अदीप्यध्वम्, उ० पु० अदीप्ये, अदीप्यावहि, अदीप्यामहि।

इससे पूर्व कि हम पंचम गण [स्वादि गण] को लें, सुविधाकी दृष्टिसे हम षष्ठ तथा दशम गणोंको पहले निबटा देना ठीक समझेंगे, क्योंकि ये गण भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे इतने जटिल नहीं हैं।

---

१. देखिए : सिद्धान्तकौमुदी दिवादिप्रकरण. सूत्र. ७.३.७१. पृ० २८१–८२.

षष्ठगण, तुदादिगणः—इस गणके धातुरूप प्रायः भ्वादिगणके धातु रूपोंकी तरह ही चलते हैं। संस्कृतमें इस गणके धातु बहुत हैं, जिनकी संख्या लगभग १५० है। इसके उदाहरण ये हैं—रुजति, विशति, तुदति, किरति, सृजति, लिखति, मुचति, स्पृशति, मृषति, पृच्छति, दिशति। अन्य भारोपीय भाषाओंमें इस ढंगके धातु प्रायः नहीं पाये जाते। इस गणके कई धातुओंमें धात्वंशमें अनुनासिक तत्त्वका प्रयोग पाया जाता है, जैसे सिञ्चति [√सिच्], मुञ्चति [√मुच्], विन्दति [√विद्], कृन्तति [√कृत्], लुम्पति [√लुप्], लिम्पति [√लिप्]। इस गणके कतिपय धातुओंमें 'च्छ' [*स्क *स्क] विकरण भी पाया जाता है, जिसका संकेत हम पहले दे चुके हैं—इच्छति [√इष्] उच्छति [√वश् 'चमकना'], ऋच्छति [√ऋ 'जाना']। पृच्छति [√प्रश्] में यह विकरण धातुका ही अंग बन गया है, जो लिट्के रूप पप्रच्छ से स्पष्ट है तथा इस तरह संस्कृत वैयाकरणोंने इस धातुका मूल रूप ही √प्रच्छ् मान लिया है। यद्यपि भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे यह √प्रश् है, जो संस्कृतके इसी धातुसे बने अन्य रूप 'प्रश्न' से स्पष्ट है। इस बातका पुनः संकेत करना अनावश्यक न होगा कि भ्वादिगणी धातुके रूपोंसे इसमें यह अन्तर है कि वहाँ उदात्तस्वर धात्वंशपर पाया जाता है, जब कि यहाँ [तुदादिगणी धातु रूपोंमें] वह विकरणांशपर पाया जाता है। भवति, पठति, गच्छति [भ्वादिगणी रूप], लिखति, तुदति, दिशति [तुदादिगणीरूप] इनके रूप प्रायः भ्वादिगणी जैसे ही होते हैं, अतः रूपोंका संकेत करना अनावश्यक होगा।

दशम गण, चुरादिगण—इस गणके धातुरूप भी भ्वादिगणी रूपोंकी तरह ही पाये जाते हैं। इस गणका विकरण 'अय' है तथा उदात्त स्वर इस विकरणांशके प्रथमाक्षरपर पाया जाता है। संस्कृतमें यह अय'

विकरण णिजन्त [causative] तथा नाम धातु [denominative] क्रिया रूपोंमें भी पाया जाता है।[1] वैदिक संस्कृतमें इस गणके मूल धातु रूपोंको इन गौण क्रियारूपोंसे अलग रखनेका एक ढंग पाया जाता है। मूल धातुरूपोंमें वहाँ धातुके स्वरका गुण नहीं होता, जब कि नामधातु या णिजन्त वाले गौण क्रियारूपोंमें धातुके स्वरका गुणीभाव पाया जाता है, चितयति, इष्यति, तुरयति, द्युतयति, रुच्यति, पतयति, स्पृहयति, मृडयति, शुभयति। चुरादिगणसे ही सबद्ध कुछ धातु ऐसे भी हैं, जिन्हे वैयाकरणोंने भ्वादिगणी मान लिया है।

ह्वयति [√ह्व], श्वयति [√श्व], धयति [√ध], जिनमें वैयाकरणोंने हमारे द्वारा कोष्ठकमें निर्दिष्टधातु न मानकर क्रमश √ह्वे, [ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च] √श्वि [श्वि गतिवृद्धयो], √धे [धेट् पाने] धातुरूप माने है।

संस्कृतके णिजन्त तथा नामधातुओंके रूप भी इसी गणके अन्तर्गत आते हैं —कामयते, चोरयति, छादयति, अवलोकयति, वृषयति, भूषयति, ताडयति, गमयति, तर्पयति, तोषयति, शाययति, चूर्णयामि, वर्णयामि, विघ्नयामि आदि।

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियोंने संस्कृत धातुओंको ग्रीक धातुओंकी तरह दो वर्गोंमें बाँटा है —१ थेमैटिक [thematic] वर्ग, वे गण जिनमें अ विकरण [जिसे ग्रीकमें थेमा [thema] कहते है]पाया जाता है। इस वर्गमें प्रथम गण [भ्वादि], चतुर्थ गण [दिवादि], षष्ठ गण [तुदादि] तथा दशम गण आते हैं। हम देख चुके हैं कि चतुर्थ तथा दशम गणमें भी अ पाया जाता है —य् + अ = य [चतुर्थ गण का विकरण], अय् + अ = अय [दशम-

---

१ यह विकरण 'यो' के रूपमें लैटिनमें भी णिजन्त तथा नामधातुओंके साथ पाया जाता है, इस धातु वर्ग को वहाँ Yod-class कहा जाता है। दे० King and Cockson p 149.

गणना विकरण]। २. दूसरा वर्ग उन धातुओंका है, जिनमें यह अ विकरण [थेमा] नहीं पाया जाता। इन्हें ग्रीकमें 'अथेमेटिक' [athematic] कहा जाता है। इसके अन्तर्गत द्वितीयगण, तृतीयगण, पञ्चमगण, सप्तमगण, अष्टमगण तथा नवमगण आते हैं। हमने यहाँ पाश्चात्त्य भाषाशास्त्रियोंके ढगपर इन दो वर्गोंमें इनका वर्णन न कर सुविधाकी दृष्टिसे द्वितीय [अदादि] तथा तृतीय [जुहोत्यादि] गणका विवेचन पहले ही कर दिया है। अब हमारे सामने चार गण बचे रहते हैं, जो ग्रीकके ढगपर 'अथेमेटिक' कहे जा सकते हैं। इनके विकरण क्रमश ये हैं :—'नु' [पचमगण, स्वादि], 'न्' [सप्तमगण, रुधादि], 'उ' [अष्टमगण, तनादि], ना [नवमगण, क्र्यादि]। इन चारों गणोंके विकरण यद्यपि एक दूसरेसे भिन्न हैं, पर भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे परस्पर सबद्ध हैं। पचम तथा अष्टमगण दोनोंमें 'उ' विकरण समान है, यद्यपि पचममें उसके साथ 'न्' [नु = न् + उ] भी है। इसी तरह पंचम, सप्तम एव नवम तीनों गणोंमें यह समानता है कि इनमें सभीमें अनुनासिक तत्त्व 'न्' विकरणागमें पाया जाता है:—नु[न् + उ], न्, ना [न + आ]। अत इसके पहले कि प्रत्येक गणका विवेचन किया जाय, इन विकरणोंकी भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्तिपर एक साथ सकेत कर देना आवश्यक होगा।

पहले हम पञ्चम, सप्तम तथा नवम इन तीन गणके धातुओंके विकरणोंको ले लें। भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इन तीनों गणोंमें एक समानता पाई जाती है, इन तीनोंमें ही विकरणमें अनुनासिक ध्वनि 'न्' होती है। पञ्चमगणका विकरण नु सप्तमगणका न तथा नवमगणका ना है। इन सभीको प्राचीन भा० यू० विकरण *नॅ [*नॅा] से विकसित माना जा सकता है। यह न् विकरण ग्रीक तथा लैतिनमें भी पाया जाता है, किन्तु वहाँ इसका सस्कृत जैसा बाहुल्य नहीं है। उदाहरणके लिए ग्रीक तिनो [ti-n-ō] [मैं चुनता हूँ, स० चिनोमि] को ले सकते है।[1] सबसे पहले

1. Atkinson . Greek Language pp. 86–7.

सप्तमगणको लीजिए । इस गणके युनक्ति, भुनक्ति आदि रूपोंमें जो अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, वह वस्तुतः एक गौण तत्त्व है, क्योंकि इन्हींके युयोज, युयुजे; बुभोज, बुभुजे जैसे रूपोंमें इसका सर्वथा अभाव है। किन्तु पञ्चमगणके रूपोंमें; जैसे शृणोति में, यह अनुनासिक तत्त्व वस्तुतः धात्वंशका अभिन्न अंग-सा बन गया है। यहाँ यह 'नु' अक्षर है, जो सबल-रूप [वृद्धि, strong form] में 'नो' हो जाता है तथा दुर्बलरूप [मूलरूप] में केवल 'न्' रह जाता है। किन्तु यहाँ भी लुङ् [Aorist] के रूपोंमें यह अनुनासिक तत्त्व नहीं पाया जाता, जो [अश्रुधि], अश्रौषीत् आदि रूपोंमें स्पष्ट है। वस्तुतः इस प्रकारके धातुओंमें, आरम्भमें, प्रा० भा० यू० में न् विकरण नहीं पाया जाता था। उदाहरणके लिए संस्कृतके √स्तृ धातुको लीजिए, इसका प्राचीनरूप *स्तॅर् [*स्तॅरव्] रहा होगा। इसी रूपसे एक ओर गाथिक [Gotbic] भाषामें अनुनासिक विकरणविहीनरूप स्त्रौज [strauz] का विकास हुआ है, दूसरी ओर संस्कृतमें स्तृणोमि, स्तृणुमः [स्तृण्मः] जैसे रूपोंका, जिन्हें क्रमशः प्रा० भा० यू० *स्तृनेव्—, *स्तृ-नु—, *स्तृ-न्—से विकसित माना जायगा। इसके विषयमें यह कहा जा सकता है इस नु में वस्तुतः न् तथा उ इन दो विकरणोंका समावेश है। गाथिकमें यह केवल उ रूपमें ही पाया जाता है। यही न् जो संस्कृतके पञ्चमगणमें उ से मिलकर नु बन गया है, नवमगणमें आ विकरणसे मिलकर ना हो गया है। यह ना दुर्बल रूपोंमें, व्यञ्जनके पूर्व नी तथा स्वरके पूर्व न हो जाता है, यथा गृह्णाति, गृह्णीतः, गृह्णन्ति, क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति।

तात्त्विक दृष्टिसे अष्टमगणके धातुओंमें भी अनुनासिक तत्त्व पाया जाता है, किन्तु यहाँ यह अनुनासिक तत्त्व विकरण न होकर धातुका ही अंश है। इस कोटिके अधिकतर धातुओंमें यह 'न्' धात्वंशमें पाया जाता है, जो √क्षन्, √मन्, √तन् आदि धातुओंमें स्पष्ट है। ये धातु लुङ् तथा, उसके आधारपर बने लकार रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्वको नहीं छोडते,

क्षनिष्ठा, अमरत, अतनु। वस्तुत संस्कृतके तनोनि का तनो—प्रा० भा० यू० *तेनेव् से विकसित न होकर *तन् नो से विकसित हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि मूलत अष्टमगणके ये धातु पञ्चमगणके ही अग हैं। किन्तु, धीरे-धीरे सादृश्यके आधारपर कृणोमि जैसे रूपोंने वैकल्पिकरूप करोमि के रूपमें पाये जाने लगे और उन्हें तनोमि के समान मानकर इस अष्टमगणमें रख दिया गया।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह 'न्' ही वास्तविक विकरण था, या यह *ने/*नो का दुर्बलरूप [weak form] था। इस सबधमें रुधादि गण [सप्तमगण] के रूपोंपर थोड़ा दृष्टिपात कीजिए। उदाहरणके लिए रुणद्धि तथा मुञ्चति [जो वस्तुत षष्ठगण–तुदादिगणका धातु है] इन दो रूपोंको लीजिए। आरभमें ये दोनों रूप कुछ भिन्न प्रतीत होंगे, किन्तु इनके बहुवचन [प्र० पु० ब० व०] रूप रुन्धन्ति तथा मुञ्चन्ति इस बातको स्पष्ट करते हैं, कि रुणद्धि वस्तुत न विकरणयुक्त रूप है, जब कि मुञ्चति, न् [ञ्] विकरणयुक्त है। अर्थात् एकका अनुनासिक विकरण 'न' [ण] है, दूसरेका केवल न् [ञ्]। इस सबधमें एक और महत्त्वपूर्ण बात ध्यान देनेकी यह भी है कि 'अ' विकरणका प्रयोग मुञ्चति वाले रूपमें अधिक पाया जाता है। यही कारण है कि यहाँ उदात्त स्वर इस अ विकरणपर पाया जाता है, मुञ्चति, किन्तु रुणद्धि में उदात्त स्वर 'न' [ण] पर पाया जाता है। और अधिक स्पष्टीकरणके लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि रुध् का वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप अ विकरणसे युक्त पाया जाता अर्थात् यदि यह षष्ठगणका धातु होता, तो *रुन्धति रूप बनता, इसी प्रकार यदि √मुच् का यही रूप अ विकरणविहीन पाया जाता अर्थात् यदि यह सप्तमगणका धातु होता, तो *मुनक्ति रूप बननेकी सभावना थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रुधादि धातुओंके रूप वस्तुत मुचादि धातुओंके

हो 'अ'-विकरणहीन रूप हैं, तथा यहाँ वास्तविक अनुनासिक तत्त्व 'न' [*ने/*नें] ही है, केवल 'न्' नहीं।

पञ्चमगण, स्वादिगणः—संस्कृतमें इस गणके लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं, इस गणका विकरण 'नु' [न् + उ] है। इस 'नु' का सबल रूपमें 'नो' हो जाता है। ग्रीकमें इसका 'नु' [नू] रूप पाया जाता हैः—सं० ऋणोमि, ग्रीक ओर्नू मि [ornumi], सं० स्तृणोमि, ग्रीक स्तोर्नू मि [stornumi], सं० क्षिणोमि, ग्रीक थियनो [phthino], मिणोमि, लैटिन मिनुओ सं० धूनोमि, ग्रीक थूनो [thuno] संस्कृतसे इस गणके धातुओंके अन्य उदाहरण ये हैं:—चिनोति, हिनोति, वृणोति, धृष्णोति, अश्नोति, आप्नोति, राध्नोति। इनमेंसे कई धातु ऐसे भी हैं, जिनमें 'नु' के स्थानपर 'ना' [नवमगणके विकरण] का वैकल्पिक प्रयोग पाया जाता हैः— वृणोति-वृणाति, स्तृणोति-स्तृणाति, क्षिणोति-क्षिणाति।

अन्य भा० यू० भाषाओंमें इन धातुओंमेंसे कईके समानान्तर रूपोंमें 'नु' के स्थानपर केवल 'उ' विकरण पाया जाता है। इसमें स्तृणोति के समानान्तर गॉथिक रूप 'स्त्रौज' का संकेत हम कर चुके हैं, अन्य रूप ये हैं.—सं० ऋणोति [वैकल्पिक ग्रीकरूप 'ओराउओ [orouo]], धृष्णोति [ग्रीक थ्रासुस् thrasus]। स्वयं संस्कृतमें ही इनसे व्युत्पन्न कई नाम शब्दोंमें यह 'न्' वाला विकरणांश नहीं पाया जाता.—वृणोति-वरुत्र, जिनोति-जीव, साध्नोति-साधु। एक धातुमें यह 'उ' विकरणांशपर स्वयं धातुका ही अंग बन गया है; जो√शृ धातुमें पाया जाता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे यहाँ√श्रु [श्र्-] धातु माना जाना चाहिए, जो इसके वर्तमानकालके रूपसे स्पष्ट है.—'शृ-णो-ति' [√शृ-विकरण न् + उ-[तिङ् प्रत्यय] [प्रा० भा० यू०*क्लृ-न्-एउ-ति [kl-n-eu-ti]। इस वर्गके कुछ धातु

ऐसे भी हैं, जिनमें साथ ही 'अ' विकरण भी पाया जाता है —'पिन्वति' [दे० पिनुते, अवे० पिनग्रोइति, इन्वति [वैक० रू० इनोति], हिन्वति [वैक० रू० हिनोति], जिन्वति [–जिनोति]।

रूप —धातु √सु [उभयपदी] 'निचोडना, नहाना, मथना'।

वर्तमान, परस्मैपदी —प्र० पु० सुनोति, सुनुत , सुन्वन्ति; म० पु० सुनोषि, सुनुथ , सुनुथ, उ० पु० सुनोमि, सुनुव -सुन्व , सुनुम -सुन्म ।

वर्तमान, आत्मनेपदी —प्र०पु०सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते, म० पु० सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे, उ० पु० सुन्वे, सुनुवहे सुन्वहे, सुनुमहे सुन्महे ।

लङ्, परस्मैपदी —प्र० पु० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्, म पु० असुनो , असुनुतम्, असुनुत, उ० पु० असुनवम्, असुनुव असुन्व, असुनुम असुन्म ।

लङ्, आत्मनेपदी —प्र० पु० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत, म० पु० असुनुथा , असुन्वाथाम्, असुनुध्वम्, उ० पु० असुन्वि, असुनुवहि-असुन्वहि, असुनुमहि असुन्महि ।

सप्तमगण, रुधादिगण —इस गणके लगभग ३० धातु हैं। इस गणका विकरण अनुनासिक तत्व [न्] है। अन्य प्रा० भा० यू० भाषाओंमें इस गणके धातुओंमें अ विकरण जोड दिया गया है, यथा वे 'अथेमेटिक' [athematic] वर्गके धातु नही रहे है। यह प्रवृत्ति कतिपय धातुओंमें संस्कृतमें भी पाई जाती है, स० विन्दति, जबकि अवेस्तामें इसका समानान्तर रूप 'विनस्ति' है। यद्यपि इस गणको पचम तथा नवम गणसे सवया भिन्न माना गया है, किन्तु मूलत यह गण उन्हीका एक अग है। इनमें भेद केवल इतना है कि यहाँ 'न' विकरण धातुम घुलमिल सा गया है। इसीलिए प्रो० टी० बरोने इन तीनोंका विश्लेषण एक सा माना है —पचमगण —क्लृ-न्-एव् ति [kḷ n nw-ti] [स० शृणोति]

नवम गण—*प्लु-न्-ए?-ति [pl̥-n-e'H-ti] [सं० पृणाति]; सप्तम गण *-यु-न्-एग्-ति [yu-n-e'g-ti] [सं० युनक्ति]।[2] प्रो० बरोने बताया है कि ये धातु मूलतः व्यञ्जनान्त न होकर स्वरान्त थे। इस पुष्टि इस तथ्यसे होती है कि संस्कृतमें ही या तो इनके वैकल्पिक स्वरान्त रूप पाये जाते है, या इनसे व्युत्पन्न रूपोंमें अन्तिम व्यञ्जन ध्वनि नही पाई जाती है — सं० √युज् के साथ ही सं० √यु [यौति] भी उसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। √छिद् से वैक० रूप 'छ्यति' [काटता है] पाया जाता है, तथा इसका 'क्त' प्रत्ययान्त रूप 'छित' [*छित्त नही, वैसे इसका वैक० रूप 'छिन्न' भी है, जो *छित्तका स्थानापन्न] है।

इस वर्गके धातुओंके कतिपय रूप ये है —छिनत्ति [√छिद्] [लैं० स्किन्दो], भिनत्ति [√भिद्] [लै० फ़िन्दो], पिनष्टि [√पिष्] [लैं० पिंसो], शिनष्टि [√शिष्], भुनक्ति [√भुज्], रुणद्धि—रुन्धन्ति [√रुध्], वृणक्ति वृञ्जन्ति [√वृज्]।

रूप —√भुज् [परस्मैपदी, 'पालन करना', आत्मनेपदी 'खाना']।

वर्तमान परस्मैपदी —प्र० पु० भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति, म० पु० भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ, उ० पु० भुनज्मि, भुञ्ज्वः, भुञ्ज्मः।

वर्तमान आत्मनेपदी —प्र० पु० भुङ्क्ते, भुञ्जाते, भुञ्जते, म० पु० भुङ्क्षे, भुञ्जाथे, भुङ्ग्ध्वे, उ० पु० भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे।

लङ् परस्मैपदी —प्र० पु० अभुनक्, अभुङ्क्ताम्, अभुञ्जन्, म० पु० अभुनक्, अभुङ्क्तम्, अभुङ्क्त, उ० पु० अभुनजम्, अभुञ्ज्व, अभुञ्ज्म।

---

१. हमने ? चिह्नका प्रयोग Laryngeal Sound के लिए किया है, जिसे प्रो० बरोने H चिह्न के द्वारा व्यक्त किया है।

२. T. Burrow : Sanskrit Language p. 327.

लङ् आत्मनेपदी—प्र० पु० अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्; अभुञ्जत, म० पु० अभुङ्क्थाः, अभुञ्जाथाम्, अभुङ्ग्ध्वम्; उ० पु० अभुञ्जि, अभुञ्ज्वहि, अभुञ्ज्महि।

अष्टमगण, तनादि गण :—इस गणका विकरण नो-नु के स्थानपर ओ-उ पाया जाता है। इस गणके कई धातुओंमें धात्वंशमें 'न्' पाया जाता है, यथा √तन् धातुमें जिसका 'तनोति' रूप बनता है। इसी तरह अन्य धातुओंके उदाहरण ये हैं :—सनोति [√सन्], वनोति [√वन्], मनुते [√मन्], क्षणोति [√क्षण्]। इनके अतिरिक्त इस गणमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें धात्वंशमें 'न्' नहीं है यथा—√कृ [करोति, कुरुते]। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह 'न्' मूलतः धात्वंश न होकर विकरणांश ही था। इस तरह 'तनोति' का विकास *तन्-नेउ-ति [tn̥-neu-ti] से माना गया है, जहाँ प्रा० भा० यू० धात्वंश 'न्' [तृन्] का संस्कृतमें 'अ' हो गया है। जहाँ तक √'कृ' [करोति] धातुके रूपोंका प्रश्न है, वहाँ 'नो' नहीं पाया जाता; किंतु वेद तथा अवेस्ता दोनोंमें ही यहाँ भी 'नु'-'नो' विकरण देखा जाता है :—सं० कृणोति-कृणुते, अवे० क्अर्अन ओइति [kərən-aoiti], प्राचीन फारसी, अकुनवम्। इससे यह अनुमान होता है कि 'करोति' जैसे संस्कृत रूप वस्तुतः 'कृणोति' के ही वैकल्पिक रूप हैं, जिन्हें हम प्राकृत रूप मान सकते हैं। किंतु मजेकी बात तो यह है कि प्राकृतमें वैदिक रूपोंसे विकसित 'कुणइ' रूप भी मिलते हैं, जब कि लौकिक संस्कृतमें 'कृणोति' जैसे 'नु नो' विकरणवाले रूप सर्वथा लुप्त हो गये हैं।

रूप :—√'कृ' 'करना' [उभयपदी]।

लट्, परस्मैपदी :—प्र० पु० करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति, म० पु० करोषि, कुरुथः; कुरुथ, उ० पु० करोमि, कुर्वः, कुर्मः।

लट्, आत्मनेपदी :—प्र० पु० कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते, म० पु० कुरुषे, कुर्वाथे, कुरुध्वे, उ० पु० कुर्वे, कुर्वहे, कुर्महे।

लङ्, परस्मैपदी —प्र० पु० अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्, म० पु० अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत, उ०पु० अकरवम्, अकुर्व, अकुर्म।

लङ्,आत्मनेपदी —प्र० पु० अकुरुत, अकुर्वाताम् अकुर्वत, म० पु० अकुरुथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरुध्वम्, उ० पु० अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि।

नवमगण क्र्यादिगणः—इस गणका विकरण 'ना' है। इस गणमें लगभग ५० धातु पाये जाते हैं। इनके उदाहरण ये हैं —क्रीणाति [√क्री] [आयरिश 'क्रेनइद' [crenaid], लिनाति [√ली श्लेषणे], [आयरिश 'लैनइद' [lenaid] [चिपकता है], शृणाति [√शृ] 'नाश करना' [आयरिश अर्-श्रिनत् [ar-chrinat] [वे नष्ट होते हैं]], अश्नामि [√अश्], जानामि [√ज्ञा], पुनामि [√पू], लुनामि [√लू], प्रीणामि [√प्री], वृणामि [√वृ], बध्नामि [√बन्ध्], मथ्नामि [√मन्थ्], स्तभ्नामि [√स्तम्भ्]।

इस विवरणमें मूलतः दो विकरण हैं —ना = न् + आ [प्रा०भा०यू० न् + अ ? [n + aH-]]। संस्कृतमें 'ना' विकरण [अन्त प्रत्यय] कई रूपोंमें पाया जाता है, जो-'आय' वाले रूपोंमें पाये जाते हैं —गृभायति, मथायति, स्कभायति। ये वस्तुतः गृभ्णाति, मथ्नाति, स्कभ्नाति के वैकल्पिक रूप हैं, तथा चुरादिगणके रूप हैं। यह '-ना' विकरण कतिपय स्थानोंपर धातुका ही अंग बन गया है, जैसे √ज्ञा [जिनाति], √प्रा [पृणाति] में।

इस गणके उन धातुओंमें जिनमें ह्रस्व 'इ, उ, ऋ' स्वर पाये जाते हैं, दुर्बल प्रत्ययोंके साथमें दीर्घ ई, ऊ, ॠ हो जाते हैं।[1] यथा—पुनाति-पूत, पृणाति-पूर्ण। तिङ् रूपोंमें भी इन धातुओंमें कई का मूल स्वर दीर्घ हो जाता है। इस तरह इन्हें दो वर्गोंमें बाँटा जा सकता है —[१]–ना के पूर्व ह्रस्व इ उ स्वरवाले धातु, जिनाति, पुनाति, लुनाति आदि, [२] –ना के

१. T. Burrow. Sanskrit Language p. 325.

पूर्व धातुके मूल स्वरको दीर्घ करनेवाले, प्रीणाति, श्रीणाति, आदि। इनमें द्वितीय वर्गमें केवल 'इ' कारान्त धातु ही पाये जाते हैं। कईमें दोनों तरहके रूप पाये जाते हैं—क्लिनाति–क्लीनाति [√ क्ली] 'दबाता है'। हम बता चुके हैं कि –ना– विकरण दुर्बल तिङ्रूपोंमें –'नी'–तथा स्वर वाली तिङ् विभक्तिसे पूर्व –'न'– हो जाता है। यह विशेषता केवल संस्कृतमें ही पाई जाती है, अन्य किसी भा० यू० भाषामें नहीं।

रूप —√ क्री 'ख़रीदना' [उभयपदी]

लट्, परस्मैपदी —प्र० पु० क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति, म० पु० क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ, उ० पु० क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

लट्, आत्मनेपदी —प्र०पु० क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते, म० पु० क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे, उ० पु० क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

लङ्, परस्मैपदी —प्र० पु० अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्, म० पु० अक्रीणाः, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत; उ० पु० अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम।

लङ्, आत्मनेपदी —प्र० पु० अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत, म० पु० अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम्, उ० पु० अक्रीणि, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।

अब हम उन विकरणोंकी ओर आते हैं, जो किन्हीं विशेष लकारोंमें प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार न् विकरणके कई रूप हम अभी-अभी देख चुके हैं, उसी प्रकार मध्यम धातुओंके लुङ् रूपोंमें स् विकरणके कई रूप पाये जाते हैं। इस विकरणके चार रूप पाये जाते हैं—[१] स्, [२] इष्, [३] सिष्, [४] स। वैसे लुङ् लकारके कई रूपोंमें [५] विकरणहीन रूप, तथा [६] द्वित्ववाले रूप भी मिलते हैं।

इससे पूर्व कि हम लुङ्के रूपोंपर भाषावैज्ञानिक संकेत करें, हमें इस बातकी ओर ध्यान दे लेना होगा कि लिङ् चिह्नोंको भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे हम दो कोटियोंमें विभक्त कर सकते हैं, मुख्य तथा गौण। प्रथम परिच्छेदमें हम

इन दोनो प्रकारके तिङ् चिह्नोका जिक्र प्रा० भा० यू० क्रियाओंके सबन्धमे कर चुके है। इस सम्बन्धमें पहले यह समझ लिया जाय कि प्रमुख तथा गौण चिह्न दोनोका प्रयोग वर्तमान कालके रूपामें पाया जाता है, जब कि लुङ् [अयोरिस्ट]के साथ केवल गौण तिङ् चिह्नोका ही प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे इन दोनोमे इसके अतिरिक्त कोई भेद नही माना जा सकता। वस्तुत ये 'अ' विकरण वाले लुङ् रूप वे वर्तमान रूप ही है, जिनमें गौण चिह्न प्रयुक्त होते है। यही कारण है कि इस प्रकारके लुङ्रूप उन्ही गणामें पाये जाते है, जो '[य्] अ—' विकरणसे युक्त पाये जाते है। स् विकरणवाले लुङ् रूपाका सबन्ध इसी प्रकार स् विकरणवाले वर्तमान रूपवाले धातुओसे जोडा जाता है, किन्तु सस्कृतमे शुद्ध स् विकरणवाले धातु नहीं पाये जाते। यह स् वस्तुत य से मिलकर स्य के रूपमें पाया जाता है, जो सस्कृतम भविष्यत्के रूपमें प्रयुक्त होता है। सस्कृतमें यह स्य, वक्ष्यामि तथा देक्ष्यति में स्पष्ट है। वस्तुत आरम्भिक स्थितिमें ये स्य वाले रूप भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त न होकर [सजन्त] वर्तमानके अर्थमें प्रयुक्त होते थे। इन्हीसे स्य विकरणवाले लुङ्रूपोका सबन्ध माना जाता है। आगे जाकर यह स्य भविष्यत्के अर्थमें प्रयुक्त होने लग गया। स् की मीमासा हो जानेपर स की भी समस्या सुलझ जाती है, जो स् तथा अ विकरणके योगसे बना है। स विकरणवाले लुङ्रूपोकी एक विशेषता है कि यह केवल नो ही धातुआम पाया जाता है, तथा उन धातुओंके अन्तमे ज्, श्, ष्, ह् ध्वनियाँ पाई जाती है। उदाहरणके लिए हम इन रूपोको ले सकते है —

√मृज्–अमृक्षत्, √स्पृश्–अस्पृक्षत्, √रुह्–अरुक्षत्।

सस्कृतमें स्य वाले भविष्यत रूपामें सेट् रूप भी पाये जाते है, जिन्हें हम करिष्यति, भविष्यति आदिमें पा सकते है। अर्थात् भविष्यत्के इन रूपामें 'इस्य' [इष्य] विकरण पाया जाता है। जिस प्रकार स् [लुङ् का विकरण] स्य से सम्बन्धित है, उसी प्रकार इष् [लुङ् का विकरण] भी 'इस्य' [इष्य] से सम्बद्ध है, जो वस्तुत स् का ही 'सेट्' रूप है। असलमें यह

अलगसे विकरण न होकर स् के ही अन्तर्गत हैं। इस सेट् लुङ् रूपका उदाहरण हम √'स्तृ' [-स्तृ]—अस्तरिषम् दे सकते हैं। संस्कृतमें सिष् विकरणवाले लुङ् रूप भी पाये जाते हैं, किन्तु ये रूप बहुत कम पाये जाते हैं। इसकी उत्पत्ति एक समस्या है। संभव है, यह विकरण स् तथा इष् दोनोंके सम्मिश्रणसे बना हो। इसके रूप अयासिषम्, अयासिष्टाम् आदिमें देखे जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि स् विकरणयुक्त लुङ् रूप ग्रीकमें भी पाये जाते हैं, तथा वहाँ कई धातुओंमें लुङ्में, यह स् प्रयुक्त होता है। किन्तु जिन ग्रीक धातुओंके अन्तमें र, ल या अनुनासिकध्वनि होती है, वहाँ यह स् लुप्त हो जाता है। स् विकरण-वाले रूप ग्रीकमें दुर्बल लुङ् [weak Aorist] कहलाते हैं, यथा ऐ-लु स् अ [ऐलुस] [e lu-s-a][1] दूसरे प्रकारके सबल "अयोरिस्टोंमें" यह स् नहीं पाया जाता। यह उन धातुओंमें नहीं पाया जाता, जिनके वर्तमानमें किसी विकरणका प्रयोग पाया जाता है। जहाँ वर्तमानके रूपोंमें कोई विकरण पाया जाता है, वहाँ लुङ् रूप सीधे मूल [धातु] रूपसे बनाये जाते हैं। वर्तमानके रूपोंसे भूतकालके द्योतनके लिए [अनद्यतनभूते] लङ् [imperfect] के रूप बनाये जाते हैं।[2] ठीक यही बात कई धातुओंमें संस्कृतमें पाई जाती है। उदाहरणके लिए √गम् धातुको लीजिए। इसके वर्तमानके रूपोंमें 'छ' [*स्क] विकरणका प्रयोग होता है, किन्तु लुङ्में इसके रूप सीधे गम् से ही बनते हैं, जब कि लङ्में वर्त-मानके लट्के रूपोंकी तरह ही स विकरणवाले रूप पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए निम्न रूपोंको लीजिए—

---

१. इन्हें ग्रीकमें सिग्मेटिक अयोरिस्ट [Sigmatic Aorist] भी कहते हैं। दे० King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin p. 140

२. Atkinson : Greek Language pp 90-91.

√गम्–गच्छामि [लट्], अगच्छम् [लङ्], अगमम् [लुङ्]। इसी धातुके समानान्तर ग्रीक धातुके निम्न रूपोंमें भी हम यही बात देख सकते हैं:—बोस्को [bosko] [मैं जाता हूँ], बो-स्कोन् [boskon] [Imperfect] [मैं गया, लङ् रूप], बो-ओन् [bo-on] [Aorist] [मैं गया, लुङ् रूप], । इस प्रकार सबल 'अयोरिस्ट' [लुङ्] प्रायः वही तिङ् चिह्न प्रयोगमें लाते हैं, जो 'इम्परफेक्ट' [लङ्] में होते हैं। इन दोनोंका खास भेद यही है कि एकमें वर्तमानवाला विकरण प्रयुक्त नहीं होता, दूसरेमें वह प्रयुक्त होता है। उत्तम पुरुष एकवचनका 'लुङ्' [Aorist] का तिङ् चिह्न संस्कृतमें अम् है, ग्रीकमें 'ओन्' [on]।

लुङ् रूपोंमें अब जो श्रेणी बची रही, वह द्वित्ववाली है, उदाहरणके लिए हम √जन् धातुके अजीजनत् रूपको ले सकते हैं। सर्वप्रथम, यह द्वित्व एक समस्या उत्पन्न कर देता है, क्योंकि प्रायः लुङ् रूपोंकी रचना धातुके मूल रूपके आधारपर ही बनती है, साथ ही जिन धातुओं [जुहोत्यादि गण] के वर्तमाने लट्वाले रूपोंमें द्वित्व पाया जाता हैं, वहाँ लुङ्में द्वित्वका अभाव है। वैसे पदरचनात्मक दृष्टिसे इनका सम्बन्ध गौण तिङ् चिह्न युक्त वर्तमानके द्वित्व रूपोंसे जोड़ा जा सकता है, या द्वित्ववाले [परोक्षभूते] लिट्के रूपोंसे। फिर भी ये रूप एक समस्या ही बने रहते हैं। इनके समानान्तर रूप केवल अवेस्तामें ही देखे जाते हैं, यथा, ज़ीज़नत् [zizanat] [सं० अजीजनत्]। संभवतः इस तरहके लुङ् रूप भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता हैं।

लुङ्के इन विभिन्न रूपोंके दिङ्मात्र उदाहरण ये हैं.—

[अ] मूल धातुवाले लुङ् :—√दा–अदात्, अदाताम्, अदुः; √भू–अभूत्, अभूताम्, अभूवन्; आदि रूप।

[आ] अ विकरणवाले लुङ्—√सिच्–[परस्मैपदी] असिचत्,

असिचताम्, असिचन्; [आत्मनेपदी]√ असिचत, असिचेताम्, असिचन्त आदि रूप ।

[इ] द्वित्ववाले लुङ् रूप —√ श्रि–अशिश्रियत्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्, √ मील्–अमिमीलम् [उ० पु० ए० व०], √ द्रु–अदुद्रुवम्, √ जन्–√ अजीजनम्, √ मृ–अमीमरम्, √ दर्श–अदीदृशम्, √ विश्–अवीविशम्, √ युज्–अयूयुजम् ।

[ई]–स्–वाले लुङ् रूप —√ रुध्–अरौत्सीत्, अरौत्ताम्, अरौत्सुः, [परस्मैपदी], अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत, [आत्मनेपदी] √ नी–अनैषीत्, अनैष्टाम्, अनैषुः [परस्मैपदी], अनेष्ट, अनेषाताम्, अनेषत [आत्मनेपदी]

[उ] –इष्–वाले लुङ् रूप '—√ बुध्–अबोधीत्, अबोधिष्टाम्, अबोधिषुः [परस्मैपदी], अबोधिष्ट, अबोधिषाताम्, अबोधिषत [आत्मनेपदी]

[ऊ]–सिष् वाले लुङ् रूप :—√ या–अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः ।

[ए]–स–वाले लुङ् रूप —√ दिश्–अदिक्षत्, अदिक्षताम्, अदिक्षन् [परस्मैपदी], अदिक्षत, अदिक्षाताम्, अदिक्षन्त [आत्मनेपदी] ।

[ऐ]–इ वाले कर्मवाच्य क्रियाओंके लुङ् रूप —यह 'इ' विकरण केवल प्रथम पुरुषके ए० व० में ही प्रयुक्त होता है, जो उपर्युक्त विकरणोंसे सर्वथा भिन्न है । 'अश्रावि' [√ श्रु से कर्मवाच्य रूप] अदर्शि [√ दृश् से कर्मवाच्य रूप] । इ, उ या ऋ स्वरध्वनिवाले धातुओंमें इन लुङ् रूपोंमें स्वर ध्वनिका गुणीभाव पाया जाता है—अचेति [√ चित् से कर्मवाच्य], अबोधि [√ बुध्], असर्जि [√ सृज्] । अन्य स्थानोंपर वृद्धि रूप अधिक पाया जाता है—अगमि [√ गम्], अकारि [√ कृ], √ अस्तावि [√ स्तु], √ अयावि [√ यु], गुणरूप, कम [अजनि–√ जन्, अवधि—√ वध्] । यह 'इ' ईरानी वर्गमें पाया जाता है, यथा अवे०

स्रावि [सं० श्रावि]; पु० फारसी अदारिय् [सं० अधारि], किन्तु अन्यत्र नहीं पाया जाता।

दिवादिगणके संबंधमें हम एक विकरणका उल्लेख कर आये हैं। यह विकरण 'य' है। वैसे यह विकरण हम पश्यति में भी देख सकते हैं, जो संस्कृतमें दिवादिगणका धातु न होकर भ्वादिगणका धातु है। यह पश्यति संस्कृतमें √दृश् धातुका रूप माना जाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिसे इसका मूलरूप अलग धातु√*पश् रहा होगा। यह य विकरण, जो इस धातुके वर्तमान रूपोंमें स्पष्ट है प्रा० भा० यू० से ही विकसित हुआ है, यह तथ्य अवेस्ता स्पसयेइति [spasayeiti], तथा लैटिन स्पेकिओ [specio] से स्पष्ट है। किन्तु संस्कृतके लुङ् रूपोंमें यह य नहीं पाया जाता, इससे यह अनुमान होता है कि यह य वस्तुतः अ विकरणका ही विकसित रूप है। इसीलिए कई धातुओंमें अ तथा य दोनों प्रकारके वर्तमान रूप पाये जाते हैं। यथा, राधति, राध्यति, तृपति, तृप्यति। आगे जाकर यह य संस्कृतके कर्मवाच्य [भाववाच्य] रूपोंमें प्रयुक्त होने लग गया, पठ्-पठ्यते, भुज्-भुज्यते, √दा-दीयते, √भू-भूयते। यह य, [अ + य] के रूपमें णिजन्त रूपोंमें भी पाया जाता है, यथा पाठयति, भोजयति, दापयति, भावयति।

अब तक हमने वर्तमाने लट् तथा लुङ्का विचार किया, क्योंकि ये ही धातुओंके दो प्रकारों—सार्वधातुक तथा आर्धधातुक रूपोंके निर्णायक हैं। एक कोटि सार्वधातुक रूपोंकी भित्ति है, तो दूसरी आर्धधातुक रूपोंकी। ये रूप निर्देशात्मक हैं। अब हम हेतुहेतुमत्के रूपोंको लेंगे। इन रूपोंमें वेदमें, प्रायः अ विकरणका प्रयोग पाया जाता है। इस संबंधमें यह बात ध्यान देने की है हेतुहेतुमत् [conditional] के रूपोंमें गौण तिङ् चिह्नोंका प्रयोग होता है। उदाहरणके लिए शृण्वद् वचांसि मे, में [शृणु + अ + त्] पाया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे वर्तमाने लट् तथा लुङ् दोनोंके समान हेतुहेतुमत् रूप संस्कृतमें पाये जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसे रूप

वेदमें बहुत कम पाये जाते है, इसका एक उदाहरण ऊपर दिया गया है। भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित हेतुहेतुमत् वाला [लृङ् वाला] रूप वेदमें केवल एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जो 'करिष्यः' [लौ० सं० अकरिष्यः; √कृ] है। लृट्के आधारपर बनाये गये हेतुहेतुमत्रूप भी बहुत कम पाये जाते है; उदाहरणके लिए 'नेषत्' [√नी] को ले सकते हैं। लौकिक संस्कृतमें आकर हेतुहेतुमत्में केवल भविष्यत् [लृट्] से प्रभावित रूप ही पाये जाते हैं, जिनमें आरंभमें भूतकाल [लङ् तथा लुङ्] की तरह अ का आगम तथा अन्तमें गौण तिङ् विभक्तियाँ पाई जाती हैं।

भविष्यत्के लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं :—लृट् तथा लुट्। लृट्में धातुके गुणीभूत रूपके साथ स्य या–इष्य जोड दिया जाता है, तथा दास्यति, [√दा] धोक्ष्यति, [दुह्] पठिष्यति [√पठ्] गमिष्यति [√गम्]। लृट्के तिङ् चिह्न ठीक वही होते हैं, जो वर्तमाने लट्में पाये जाते है। स्य तथा इष्य वाले रूपोंके समानान्तर रूप केवल अवेस्ता तथा लियुआनियनमें पाये जाते हैं, जैसे :—अवेस्ता वख्स्या [vaxs᷄yā] [मैं कहूँगा] [सं० वक्ष्यामि], लियुआनियन दुओसिउ [du'osıu] [मैं [दूँगा] [सं० दास्यामि]। ग्रीकमें इसके –सो–या–से–वाले रूप मिलते हैं :—ग्रीक स्तेसो [ste-sō] [सं० तिष्ठामि], दो-सो [dō-so] [संस्कृत दास्यामि] तेनेसो [tenesō] [सं० तनिष्यामि]।[1] आरंभिक संस्कृत भाषामें यह लकार अवेस्ताकी भाषाकी भाँति बहुत कम पाया जाता है, तथा भविष्यत् कालके बोधनके लिए वहाँ हेतुहेतुमत्का प्रयोग देखा जाता हैं, धीरे-धीरे परवर्ती कालकी भाषामें इसका प्राचुर्य हो गया है।

इसके अतिरिक्त संस्कृतमें लुट्का प्रयोग भी भविष्यत्में पाया जाता है। इसका विकास संस्कृतके –तर् [–तृ] प्रत्ययवाले कर्तृबोधक प्रत्ययसे

---

१. King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin, p. 141.

हुआ है, जिनके साथ √अस् धातुके रूपोंका प्रयोग सहायक क्रियाके रूपमें पाया जाता है। प्रथम पुरुष ए० व०, द्वि० व० तथा ब० व० के रूप ठीक वही होते हैं, जो नाम शब्दके प्रथमा विभक्तिके रूप हैं:—कर्ता, कर्तारौ, कर्तारः, दाता, दातारौ, दातारः, गन्ता, गन्तारौ, गन्तारः। शेष रूपोंमें प्रथम पुरुष ए० व० के रूपके साथ सहायक क्रिया जोड़ दी जाती है:—म० पु० कर्तासि [कर्ता+असि], कर्ता-स्थः, कर्ता-स्थ, उ० पु० कर्तास्मि [कर्ता+अस्मि] कर्ता-स्व, कर्ता-स्मः। इसके आत्मनेपदी रूपोंमें प्र० पु० के रूप ठीक वही हैं, म० पु० तथा उ० पु० के रूप कुछ भिन्न हैं:—म० पु० कर्तासे, कर्तासाथे, कर्ताध्वे, उ० पु० कर्ताहे, कर्तास्वहे, कर्तास्महे। डॉ० चाटुर्ज्याने बताया है कि भविष्यत्‌के लिए प्रयुक्त ये यौगिक [भविष्यत्] रूप वस्तुतः संस्कृतपर प्राकृतका प्रभाव है।[1] वैदिक संस्कृतमें ये रूप नहीं पाये जाते। यही नहीं, परवर्ती संस्कृतमें लिट् [या सम्पन्न भूतकाल] तथा हेतुहेतुमत् या संभाव्य भविष्यत्‌के रूप, जो क्रमशः आमंत्रयामास, आमंत्रयाञ्चकार, कारयामास, कारयाम्बभूव, कारयाञ्चकार तथा अभविष्यत्, अकरिष्यत् जैसे उदाहरणोंमें पाये जाते हैं, यौगिक रूप हैं, इन्हें भी डॉ० चाटुर्ज्याने आदिम प्राकृतोंका प्रभाव माना है। यहाँ यह संकेत कर देना अनावश्यक न होगा कि इनमेंसे वैदिक भाषामें केवल लिट् के यौगिक रूप मिलते हैं, जो सबसे पहले यजुर्वेदमें पाये जाते हैं।

विधिलिङ् [optative] का प्रयोग दो अर्थोंमें पाया जाता है। प्रथम यह किसी ऐसे संभावनाके भावको घोषित करता है, जो निर्देशात्मक [Indicative] कोटिके द्वारा अभिव्यक्त तथ्यसे विरुद्ध है, दूसरे यह किसी इच्छाकी अभिव्यंजना करता है। इन दोनों प्रकारके उदाहरण ये हैं:—

[१] विशे च क्षत्राय च समदं कुर्याम्। [मैं समाज तथा क्षत्रोंमें परस्पर कलह कराऊँ।]

[२] दम्पती अश्नीयाताम्। [पति-पत्नी भोजन करें।]

---

१. डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृ० ८६।

विधिलिङ्का विकरण य है, जो दुर्बल रूपोंमें ई [)* ।ə] हो जाता है, तथा दद्याम् [दद् [√दा] + य + अम्], ददीत [दद् + ई + त]। यही विकरण लैटिनमें भी पाया जाता है। ग्रीकमें यह विकरण अ से युक्त होकर अाइ [oı] के रूपमें पाया जाता है, जैसे ग्रीक फेरोइ [pheroı] [सं० भरेत्]। संस्कृतमें यह *अोइ, ए [अ + इ] हो गया है, जो भरेत् में स्पष्ट है। वैदिक संस्कृतमें लुङ्के आधारपर स् विकरण युक्त विधिलिङ्के रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें धातुका स्वर 'इ' बना दिया जाता है, यथा, दिषीय [√दा]। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्से केवल इसी बातमें भिन्न है कि इसके रूप सदा लुङ् रूपोंके ही आधारपर बनते हैं, जब कि विधिलिङ् वाले रूप वर्तमान रूपोंके आधारपर बनते हैं। वैसे इन दोनोंके तिङ् चिह्न गौण हैं, तथा प्रायः एकसे ही होते हैं। उदाहरणके लिए गच्छति [लट्], गच्छेत् [विधिलिङ्], तथा अगमत् [लुङ्], गम्यात् [आ० लिङ्] रूपोंको देखिए, जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा।

विधिलिङ्में अ-विकरणहीन तथा अ-विकरणयुक्त रूपोंमें उदात्त स्वरकी दृष्टिसे भिन्नता पाई जाती है। अ विकरणहीन धातुओंमें उदात्त स्वर तिङंशपर पाया जाता है, जब कि अ-विकरणयुक्त धातुओंमें वह धात्वंश पर पाया जाता है—भवेत्, भवेताम्, भवेयुः [पर०], भवेत, भवेयाताम्, भवेरन्, [आत्म०] द्विष्यात्, द्विष्याताम्, द्विष्युः [पर०], द्विषीत, द्विषीयाताम्, द्विषीरन् [आत्म०]

संस्कृतमें लोट्वाले रूपोंमें वस्तुतः कई रूपोंकी खिचड़ी पाई जाती है। इसके प्रथम पुरुषके तीनों वचनके रूप हेतुहेतुमत् वाले [subjective] वैदिक रूप हैं, तथा मध्यम पुरुष तथा प्रथम पु० के द्वि० व० एवं म० पु० ए० व० के रूप निषेधार्थक वैदिक रूप [injunctive

forms]। म० पु० ए० व०, प्रथम पुरुष ए० व० तथा ब० व० के रूप विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। म० पु० ए० व० म थिमेटिक क्रियाओंमें क्रियाका मूलधातु रूप ही प्रयुक्त होता है, वस्तुतः यहाँ 'शून्य' तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह विशेषता यही नही अन्य भारतयूरोपीय भाषाओंमें भी पाई जाती है :—स० भर अवे० बर, ग्रीक फॅरॅ, आर्मीनियन बॅर, गॉथिक बइर, आयरिश बेइर।

स० पृच्छ, लै० पोस्कॅ; सं० अज, ग्रीक, अगॅ, लै० अगॅ।

किंतु अथेमेटिक धातुओंमें यहाँ –हि [–धि] वाले रूप पाये जाते है — सं० इहि, अवे० इदि, ग्रीक इथि स० विद्धि, ग्रीक इस्थि। इस –धि के अन्य उदाहरण जुहुधि [$\sqrt{}$हु], शृणुधि [$\sqrt{}$श्रु] गधि [$\sqrt{}$गा], वृधि [$\sqrt{}$वृ] है। प्रथम पु० ए० व० ब० व० में गौण तिङ् चिह्न-त्-, —न्त् के साथ–उ जोडा जाता है —'भवत् उ' [भवतु], भवन्त्-उ [भवन्तु]। यह-उ तिङ् चिह्न हित्ती भाषामें पाया जाता है —एश्तु [स० अस्तु], कुएन्तु [स० हन्तु], कुनन्तु [स० घ्नन्तु]। आत्मनेपदी रूपोंमें म० पु० ए० व० में –'स्व' चिह्न पाया जाता है। यह तिङ् चिह्न केवल अवेस्तामें मिलता है— अवे० कृनव्अश्वा [स० कुरुष्व], बरङ्ह [भरस्व]। प्रथम पु० ए० ब० ब० व० में–आम् तिङ् चिह्न पाया जाता है। यह अवेस्तामें–अम् पाया जाता है —बरॅंग्यतम्, खओसॅन्तम्।

संस्कृत लिट् लकारके रूपोंकी दो प्रमुख विशेषताएँ है, प्रथम तो इसमे धातुका द्वित्व पाया जाता है, दूसरे तिङ् चिह्न वर्तमानके मुख्य तथा लुङ् के गौण तिङ् चिह्नोंसे भिन्न होते है। लिट् लकारमे द्वित्ववाले अक्षर [पाणिनिने इसकी पारिभाषिक संज्ञा, 'अभ्यास' दी है][1] में प्रायः 'अ' स्वर [प्रा० भा० यू० *ऍ] प्रयुक्त होता है, किंतु जिन क्रियाओंमें मूल स्वर इ या उ होता है, वहाँ द्वित्ववाले अक्षरमें 'अ' के स्थानपर क्रमशः इ या उ स्वर

---

१. पूर्वोऽभ्यासः। पाणिनिसूत्र ६ १.४।

पाया जाता है:—पपाठ [√पठ्], बभाज [√भज्], दिद्वेष [√द्विष्], लिलेह [√लिह्], बुबोध [√बुध्], चुक्रोध [√क्रुध्]। लिट् के द्वित्वीकरणकी दृष्टिसे इन रूपोंको निम्न वर्गोंमें बाँटा जा सकता है:—

[१] वैदिक संस्कृतमें कतिपय लिट् रूपोंमें द्वित्वाक्षरमें 'अ' 'इ' 'उ' के स्थानपर दीर्घ स्वर 'आ' 'ई' 'ऊ' पाया जाता है, यथा दाधार [√धृ], जागार [√गृ], मामृजे [मृज्], पीपाय [√पा], तूताव। वस्तुतः ये पौन.पुन्यार्थक बोधक द्वित्वके रूप हैं।

[२] 'ऊ' स्वरवाले दो धातुओंमें द्वित्वरूपमें 'अ' स्वर पाया जाता है:—बभूव [√भू], ससूव [√सू]।

[३] आदिमें 'अ' स्वर ध्वनिवाले धातुओंमें लिट् में आ [अ + अ] पाया जाता है। यथा, आद [∠ *अअद] [√अद्], आस [∠ *अअस] [√आस्]। आदिमें अ ध्वनिवाले कतिपय धातुओंमें द्वित्व रूपसे 'न्' ध्वनि भी पाई जाती है; आनञ्ज, आनञ्जे [√अञ्ज्], आनश, आनशे [√अश्]। इसके सादृश्यपर आदिमें ऋ ध्वनिवाले धातुओंमें भी यह 'न्' तत्व पाया जाने लगा है : आनर्च, आनृचे [√ऋच् अथवा √अर्च्]।

[४] आदिमें इ या उ ध्वनिवाले धातुओंमें इ-उ का द्वित्व होता है, द्वितीय अक्षरमें इ, उ का गुण रूप 'ए'–'ओ' पाया जाता है तथा प्रथम अक्षर एव द्वितीय अक्षरके स्वरोंमें सधि रोकनेके लिए 'य' अथवा 'व' श्रुतिका प्रयोग किया जाता है; दुर्बल रूपमें इ तथा उ को ई तथा ऊ बना दिया जाता है। इयेष [इ + य् + एष], ईषे [इ + इषे] [√इष्], उवोच [उ + व् + ओच], ऊचे [उ + उचे] [√उच्]।

[५] य तथा कतिपय व वाले धातुओंमें भी इसी तरहका द्वित्व पाया जाता है; यहाँ भी दुर्बल रूपमें क्रमशः ई-ऊ पाये जाते हैं:—इयाज-ईजे [√यज्], उवाच—ऊचे [√वच्]।

[६] जिन धातुओंमें 'अ' ध्वनि व्यञ्जन-मध्यग है, वहाँ द्वित्वरूपमें 'अ'

ही पाया जाता है, पपात, बभाज, बभार [√भृ-भर्], पपाठ, जगाम। इसके दुर्बल रूपमें वहाँ धातुके 'अ' के स्थानपर 'ए' हो जाता है तेने, पेचे।

[७] संस्कृतमें एक धातु ऐसा भी है, जिसमें लिट्में धातुका द्वित्व नहीं होता : सं० वेद [√विद्]। इसके अन्य भा० यू० समानान्तर रूप भी द्वित्वहीन ही हैं : ग्रीक ओइद [oida], गॉथिक वइत [wait]। वैदिक संस्कृतमें कतिपय अन्य द्वित्वहीन लिट् रूप भी मिलते हैं —तक्षथुः, तक्षु, स्कम्भथु, स्कम्भु.[1]

भा० यू० परिवारकी कई भाषाओंमें लिट् [परिपूर्ण भूत] में यह द्वित्व प्रक्रिया नही पाई जाती। लैटिन तथा जर्मनीय वर्गमें द्वित्व प्रक्रिया नही है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस तरह लुङ् एव लङ्के रूपोंमें प्रा० भा० यू० में 'अ' आगमका प्रयोग अत्यावश्यक था उस तरह लिट्के रूपोंमें द्वित्व प्रक्रिया आवश्यक नही मानी जाती थी। वैसे ग्रीक तथा सस्कृतने लिट् रूपोंमें द्वित्व प्रक्रियाका पालन किया है, किन्तु यहाँ भी सं० वेद, ग्रीक ओइद जैसे द्वित्वहीन छुटपुट रूप मिल ही जाते है। भा० यू० भाषाओंके लिट्के समानान्तर रूपोंके कतिपय उदाहरण ये हैं:—

स० जजान, ग्रीक गेगोने स० ददर्श, ग्रीक देदोर्के; स० चिच्छेद, चिच्छिदे, लै० स्किकिदी [scicidī], गॉथिक स्कइस्कइद् [skaiskaiϑ], दिदेश, दिदिशे, ग्रीक देदेइख [dedeikha], देदेइग्मइ [dedeigmai], रिरेच, रिरिचे, ग्रीक लेलोइप, लै० लीक्वी [līquī], गॉथिक लइह्व [laihw], स० निनेज, निनिजे, आयरिश नेनइग [nenaig]।

स० तुतोद, तुतुदु, लै० तुतुदी [tutudī] गॉ० स्तइस्तौत [staitaut]।

---

[1] T. Burrow; Sanskrit Language p. 342.

सं० ववर्त, लै० वोर्ती, वेर्तो [verti, vorti], गाथिक वर्थ [warϑ]।

सं० दधर्ष, गाथिक ग-दर्स [ga-dars]

सं० जघान, आयरिश उ० पु० ए० व० गेगोन [gegon], प्र० पु० ए० व० गेगोइन [gegoin]

तिङ् चिह्न:—सर्वप्रथम तिङ् प्रत्यय कर्तृवाच्य [परस्मैपद] तथा स्ववाच्य [आत्मनेपद] के आधारपर दो तरहके होते हैं। इसके बाद प्रत्येक कोटिमें मुख्य तिङ् चिह्न तथा गौण तिङ् चिह्न इन दो श्रेणियोंको और माना जा सकता है। ये तिङ् चिह्न पुरुष तथा वचनके अनुसार भिन्न-भिन्न हैं, तथा प्रा० भा० यू० 'अथेमेतिक' तथा 'थेमेतिक' रूपोंमें भी ये तिङ् चिह्न भिन्न-भिन्न प्रकारके थे, किन्तु संस्कृतमें आकर यह दूसरा भेद नहीं पाया जाता। [परोक्षभूते] लिट्के तिङ् चिह्न संस्कृतमें बिल्कुल अलग तरहके हैं। मुख्य चिह्नों तथा गौण चिह्नोंमें जो प्रमुख भेद है, वह यह है कि मुख्य चिह्नोंमें तिङ् चिह्नोंका सबल रूप [strong form] पाया जाता है, जब कि गौण चिह्नोंमें उनका दुर्बल रूप [weak form] पाया जाता है। उदाहरणके लिए, उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा प्रथम पुरुष एकवचनके मुख्य तिङ् चिह्न क्रमशः मि, सि, ति [भरामि, भरसि, भरति] हैं, जब कि गौण तिङ् चिह्नोंमें इनके दुर्बल [स्वरहीन] रूप—म्, स्, त् [अभरम्, अभरः, अभरत्] पाये जाते हैं। यह दुर्बल रूप प्रा० भा० यू० में भी पाया जाता था। ग्रीकमें भी इसका अस्तित्व है। संस्कृतके एक और चिह्नको ले-लें—प्रथम पुरुष बहुवचनका तिङ् चिह्न 'न्ति' है, जब कि गौण रूपमें वह *न्त् पाया जाता है। इस *न्त् का त् अब लुप्त हो जाता है, और इस तरह केवल न् बचा रहता है, यथा भरन्ति; अभरन् [*अभरन्त्]। विकरणहीन धातुओंमें यह न्ति प्रायः अति के रूपमें परिवर्तित हो जाता है, यथा √दा–ददति। वस्तुतः व्यञ्जनके बाद यह न्ति, अति हो जाता है [*वद्+न्ति ()वेद्-न्ति]-दद्+

सन्ति = वसति] । उत्तम पुरुष बहुवचनका मुख्य तिङ् चिह्न मसि है, जो संस्कृतमें मस् [म], [यथा, पठाम मे] पाया जाता है । अवेस्तामें यह 'महि' [Mahi] हो गया है । ग्रीकमें इसका समानान्तर 'मेन्' [Men] शब्दमें विकसित हुआ है । ग्रीककी एक विभाषा दोरिक [Doric] में यह मेस् [Mes] पाया जाता है । इसीका गौण रूप केवल 'म' [माम] रह गया है, जो अपठाम, अभराम, अगच्छाम आदि रूपोंमें स्पष्ट है । वर्तमाने लट्के मध्यम पुरुष ब० व० का 'थ' तिङ् चिह्न सम्भवतः लिट्का प्रभाव हो, मिलाइए— भरथ, पठथ । द्विवचनके तिङ् चिह्नोंका विकास प्रत्येक भाषामें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, अतः भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनके विकासपर कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता । वैसे ये चिह्न तस्, थस्, वस् [त, थ, व] तथा ताम् तम, व हैं ।

परोक्षभूते लिट्के तिङ् चिह्न सर्वथा भिन्न हैं और ये चिह्न प्रा०भा०यू० स्वतन्त्र चिह्नोंसे ही विकसित हुए हैं । प्रथम तथा उत्तम पुरुष ए० व० का चिह्न अ है, जो सं० वेद, ग्रीक [वो—] ओइदा [W]oida] में पाया जाता है । इसका प्रा० भा० यू० रूप *ओ [*O] था । मध्यम पुरुष ए० व०का चिह्न थ है, जो ग्रीकमें भी थ ही है, किन्तु ग्रीक थ का विकास प्रा० भा० यू० *थ से भी हो सकता है, अतः इसका प्रा० भा० यू० रूप अनिश्चित ही है । संस्कृतमें लिट्के प्रथम पुरुष ए० ब० का चिह्न उ [>उर्] है, जो जग्मुः, पेठुः आदि रूपोंमें स्पष्ट है । यह 'उर्' अवेस्तामें अर्‌अर तथा लैटिनमें एरे पाया जाता है । लिट्के अन्य चिह्न प्रायः वर्तमानके चिह्नोंसे विकसित हुए हैं ।

प्रा० भा० यू० में स्ववाच्य [आत्मनेपद] ए० व० के तिङ् चिह्न *मइ, *सइ, *तइ है । इन्हींसे संस्कृतके ए [भाये], से [भायसे], ते [भायते] विकसित हुए है, किन्तु ग्रीकमें मइ, सइ, तइ ही रहे हैं । प्र० पु० ब० व० में प्रा० भा० यू० तिङ् चिह्न *-तइ है, जो संस्कृतमें-न्ते

[भायन्ते] पाया जाता है, किन्तु जुहोत्यादि धातुओंमें यह चिह्न केवल अते [दद् + अते = ददते] ही है। उत्तम पु० बहु० व० में मुख्य तिङ् चिह्न महे [भायामहे, भरामहे], तथा गौण तिङ् चिह्न 'महि' [अभायामहि] है। मध्यम पु० बहु० व० का मुख्य तिङ् चिह्न ध्वे [प्रा० भा० यू० *ध्वइ] है, जो अवेस्तामें दुये हो गया है। इसका गौण चिह्न ध्वम् है जो अवेस्तामें 'दूम्' है। आत्मनेपदके गौण तिङ् चिह्नोंमें संस्कृतमें लुङ्के उ० पु० ए० व० का चिह्न इ पाया जाता है, जो अ विकरणसे मिलकर ए भी हो जाता है, यथा √कृ– अक्रि, √भृ–अभरे। यह इ वस्तुतः भारत-ईरानी वर्गकी ही विशेषता है।

आज्ञार्थ लोट्के म० पु० ए० व० में सविकरण धातु प्रायः शून्य तिङ् चिह्नयुक्त होता है, यथा भृ + अ + ० = भर, किन्तु अविकरण धातुमें यह तिङ् चिह्न– ध [हि] होता है, यथा इहि, अद्धि। यह चिह्न प्रा० भा० यू० *धि से विकसित हुआ है। लोट्के प्रथम पु० तथा मध्यम पु० के एकवचनमें तात् तिङ् चिह्न भी पाया जाता है, यथा पठतु–पठतात्, पठ–पठतात्। यह तात् लैतिनमें तोत् [tōt] के रूपमें पाया जाता है, अतः इसका विकास प्रा० भा० यू० *तोत् [*tōt] से माना जा सकता है, लै० वेहितो [vehito], स० वहतात्, लै० एस्तो [सं० स्तात्] संस्कृतके आत्मनेपदी धातुओंके कई रूपोंमें प्रथम पुरुष एकवचनमें एक 'र्' ध्वनि तिङ् चिह्नके साथ-साथ पाई जाती है। यह ध्वनि दुह्राम्, दुह्रताम्, असृग्रम, अदुह्रन्, अशेरन् आदिमें देखी जा सकती है। यह 'रेफ' तत्त्व केल्तिक परिवारकी आयरिश तथा वेल्शमें विशेष पाया जाता है, वैसे लैतिनमें भी यह 'र्' 'मिडिल' तथा 'पैसिव' वोयसके लिए प्रयुक्त होता है।[1]

---

१. उदाहरणके लिए lucto का मिडिल वायसका रूप lucto–r = luctur पाया जाता है। दे० Cockson : P. 148–19.

इसके कुछ रूप इलेतिक परिवारकी भाषाओंमें तथा तोखारिशमें भी पाये जाते हैं। संस्कृतके परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी रूपोंमें कई स्थानपर 'र्' पाया जाता है, यह हम देख चुके हैं। इतालिक तथा आयरिशके 'मिडिल' तथा 'पेसिव' रूपोंमें यह 'र्' तिङ् चिह्नोंके साथ प्रयुक्त होता है। कुछ उदाहरण ये हैं :—

आयरिश बेरि-र् [beri-r] [उसे ले जाया गया है।]
,, बेर्त-र् [bertu-r] [उन्हें ले जाया गया है।]
वेल्श केनिर् [cenir] [संगीत चल रहा है, या संगीत चलेगा।]
,, दिवेदिर [dywedir] [लोग कहते हैं।][1]

वस्तुतः यह र् पुरुषहीन [impersonal] प्रत्यय [अथवा विकरण] था, जिससे केवल क्रियामात्रका बोध कराया जाता था।

यहाँपर दो शब्द गौण धातुरूपोंपर कह दिये जायें। संस्कृतके गौण धातु रूपोंको पाँच वर्गोंमें बाँटा जा सकता है—[१] कर्मवाच्य रूप, [२] यङन्त तथा यङ्लुगन्तरूप, [३] सन्नन्तरूप, [४] णिजन्तरूप तथा [५] नामधातु। कर्मवाच्य रूपोंमें 'य' विकरण पाया जाता है, इसका संकेत हम कर चुके हैं। इस दृष्टिसे ये रूप दिवादिगणी रूपोंके समान होते हैं। दूसरी विशेषता कर्मवाच्य रूपोंकी यह है कि ये सदा आत्मनेपदी ही होते हैं। इन रूपोंमें उदात्त स्वर सदा य विकरणपर पाया जाता है, जबकि दिवादिगणी रूपोंमें यह स्वर धात्वंश पर होता है—म्रियते, ध्रियते, मुच्यते, क्षीयते। इस तरहके कर्मवाच्यरूप केवल अवेस्तामें ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं—अवे॰ कियँइन्ते [kiryeinte] [सं॰ क्रियन्ते]। कर्मवाच्यके लिट् तथा लुट्के रूप प्रायः वही होते हैं, जो आत्मनेपदी क्रिया रूपोंके पाये जाते हैं,

---

१. T. Hudson-Williams : A short Introduction to the study of Comparative Grammar, p. 75.

गया, ददे [दिया गया], दास्यते [दिया जायगा]। यड्लुगन्त रूपोंका अस्तित्व छान्दस भाषामें भी पाया जाता है तथा वेदमें लगभग ९० धातुओंके ऐसे रूप पाये जाते हैं। इनमें धातुका द्वित्व रूप पाया जाता है। इ या उ ध्वनिवाले धातुओंमें इसमें स्वरका गुणीभाव पाया जाता है—नेनेक्ति-नेनेक्ते [√नी], वेवेत्ति[√विद्], देदिष्टे [√दिश्], जोहवीति [√हू]। क्रियाके पौनःपुन्य बोधकके लिए संस्कृतमें उक्त यड्लुगन्त रूपोंके अतिरिक्त यडन्त रूप भी पाये जाते हैं, जिनमें 'य' [यड्] विकरण का प्रयोग होता है, चूँकि उक्त रूपोंमें यह य नही पाया जाता, अतः उन्हें 'यड्लुगन्त' [यड् लुक् अन्त] कहा जाता है। य विकरणवाले रूप ये हैं—जाजायते, जञ्जन्यते, जेघ्नीयते, वरीवृत्यते, मरीमृत्यते। णिजन्त रूपोंमें चुरादि गणके धातुओंकी तरह—'अय'—विकरण पाया जाता है। प्राचीन भाषामें इन दोनोंमें यह भेद था कि चुरादि गणके कुछ धातुओंमें धातुका गुणीभाव नही पाया जाता,जबकि णिजन्त रूपोंमें उसका गुणीभाव पाया जाता है—द्युतयति-द्योतयति, रुचयति-रोचयति, पतयति-पातयति। इनमें द्वितीय रूप णिजन्त प्रक्रियाके हैं। णिजन्त रूपोंमें धातुका सदा गुणीभाव पाया जाता है—तर्पयति [√तृप्], वर्धयति [√वृध्], बोधयति [√बुध्]। आ अन्तवाले धातुमें णिजन्तमें—प्—विकरणका समावेश कर दिया जाता है—दापयति [√दा], स्नापयति [√स्ना], मापयति [√मा], यापयति [√या], । कतिपय धातुओंमें—ल्, न्, ष् ,त्, य् भी पाये जाते हैं—पालयति [√पा 'रक्षा करना'], पाययति [√पा 'पीना'], प्रीणयति [प्री], भीषयते [√भी], घातयति [√हन्]। सन्नन्त रूपोंमें स विकरण पाया जाता है तथा धातुका द्वित्व होता है—बिभित्सति, बुभुत्सामि, दिदृक्षामि, विविदिषामि, दित्सामि [√दा], धित्सामि [√धा], शुश्रूषामि [√श्रु], जिगीषामि [√जि]। नामधातुओंका विकरण भी 'य' है, तथा इनके रूप भी णिजन्तकी तरह चुरादिगणी हैं। इनमें उदात्त स्वर

विकरणपर ही होता है—दण्डयामि, अर्थयते, चूर्णयति, दोलायते, भिषज्यति, तपस्यति।

इस सम्बन्धमें थोडा विचार ऐसे धातुओंपर कर लिया जाय, जो आरंभमे भिन्न थे, किन्तु बादमें आकर परस्पर समाहित हो गये है। वैदिक संस्कृतमें कई ऐसे धातुओंका संकेत मिलता हैं, जो एक ही अर्थमें प्रयुक्त होते थे। वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इनके अर्थोमें थोडा सूक्ष्म भेद अवश्य था। धीरे-धीरे वह भेद लुप्त हो गया तथा ये धातु एक दूसरेमें समाहित हो गये। उदाहरणके लिए √भू-अस्; √पश्-दृश्-स्पश्, √गम्-गा-इण् इन तीन वर्गोको ले लीजिए। भू तथा अस् दोनो धातु सत्तार्थक है। आरंभिक स्थितिमें दोनो धातुओंके सभी रूप भिन्न-भिन्न पाये जाते होंगे। धीरे-धीरे √अस् धातु √भू मे समाहित होने लगा, और आज इसके अस्ति, अस्तु, आसीत्, स्यात् ये ही रूप पाये जाते है, बाकी रूपोंमें √भू के रूपोंका ही प्रयोग होता है। यदि √अस् का भविष्यत् [लृट्] पूछा जाय, तो वैयाकरण भविष्यति बतायेगा, *अस्स्यति नही। किन्तु √भू धातुके दसयके सभी रूप सुरक्षित है, तथा वहाँ भवति, भवतु, भवेत्, अभवत्, भविष्यति, भविता, अभविष्यत्, भूयात्, बभूव, अभूत् सभी रूप पाये जाते है।

√पश्-दृश् तथा √स्पश् तीनो धातुओंका अर्थ 'देखना' है। √स्पश् धातु वेदमें पाया जाता है, किन्तु लौकिक संस्कृतम इसका प्रयोग एक प्रकारसे नही पाया जाता, वैसे इससे बना नाम शब्द 'स्पश' [स्पश् + अच्] संस्कृतमें प्रयुक्त होता है, यथा 'शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा' [माघ, २ सर्ग]। √पश् तथा दृश् दो अलग-अलग धातु थे। किंतु वेदमें ही आकर हम देखते है कि √पश् के लुङ्वाले रूप नही पाये जाते। धीरे-धीरे पश् [पश्य] वर्तमान तथा उससे सबद्ध लकारोमें √दृश् के स्थानपर आदेश माना जाने लगा, पश्यति, पश्यतु, पश्येत्,

अपश्यत्। किन्तु लुङ् तथा उससे सबद्ध ऌकारोंमें यह दृश् ही रहा, जैसे, द्रक्ष्यति, अद्राक्षीत् आदि।

√गम्, गा तथा √इण् इन तीनों धातुओंका अर्थ 'जाना' है। √'गा' [गमनार्थक] धातु वेदमें पाया जाता है तथा यह 'जुहोत्यादिगण' का धातु है, जिसके रूप जिगाति, जिगातु आदि पाये जाते हैं। √गम् धातु संस्कृतमें स्वतन्त्र रूपमें पाया जाता है, किंतु √गा धातु व्याकरणमें √इण् में आकर समाहित हो गया है। संस्कृत व्याकरणके अनुसार √इण् धातुके लुङ्में 'गा' आदेश हो जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र 'इणो गा लुङि' के अनुसार √इण्-गतौ धातुके लुङ्के रूप अगात् आदि बनते हैं। यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है, क्या इस √गा का √गम् से कोई सबंध है? हमारे मतानुसार इस √गा को भी उसी प्रा० भा० यू० धातु *ग्वम् से विकसित मानना सगत है। इस *ग्वम् के, जो स्वय शून्यरूप [zero-form] है, *ग्वेम् तथा *ग्वेम् क्रमश गुण तथा वृद्धि रूप माने जा सकते हैं। यह वृद्धि रूप *ग्वेम् संस्कृतमें आकर ध्वनि-शास्त्रीय नियमोंके अनुसार गा हो जायगा।

असमापिका क्रिया [infinite verbs]—अब तक हमने समापिका क्रियाओं [finite verbs] का उल्लेख किया है। यहाँ सक्षेपमें असमापिका क्रियाओंका सकेत कर देना आवश्यक होगा। इन्हें मोटे तौरपर तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं—[१] वर्तमानकालिक, भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक कृदन्त प्रत्यय। [२] तुमन्तरूप, [३] पूर्वकालिक क्रिया रूप।

१ [अ] वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय—न्त्[-त्-], -मान, तथा -आन है। इनमें '-न्त्' परस्मैपदी रूपोंके साथ जुड़ता है, शेष दो आत्मनेपदीरूपोंके साथ। संस्कृत वैयाकरण इन्हें क्रमश 'शतृङ्' तथा 'शानच्' कहते हैं। आन अथेमेटिक [अ-विकरणहीन] आत्मनेपदी धातुओंमें प्रयुक्त होता है, शयान, दधान, दधान, जबकि-मान थेमेटिक [अ-विकरणयुक्त] आत्मनेपदी धातुओंमें प्रयुक्त होता है—भाषमाण, भरमाण,

वर्तमान । इन प्रत्ययोंकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं । लैटिनमें इसके समानान्तर रूप क्रमश –'एन्त्' [–न्त्] तथा–मिनि, 'म्नुम्' पाये जाते हैं — रेगेन्तेस [reg-ent-es], अलुम्नुस् [alumnus] । ग्रीकमें कर्तृवाच्य परस्मैपदी क्रियाओंमें–ओन्–ओन्त् वाले कृदत रूप पाये जाते हैं —फेरोन्त्; ऐसोन्त् । कर्मवाच्य तथा आत्मनेपदी रूपोंमें ग्रीकमें–'मेनोस्' तथा–म्नो प्रत्यय पाये जाते हैं —फेरोमेनोस् [स० भरमाण], बेले म्नोन् । संस्कृतमे इन प्रत्ययोंके उदाहरण ये हैं:—

भवत् [भवन्त्–], भवमान, द्विषन्त्, द्विषाण, यन्त्, इयान,दुहत्, दुहान ।

[आ] भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्तः—'त[क्त]'तथा 'न'। इनकी व्युत्पत्तिका संकेत हम कर चुके हैं । इनका ग्रीकमें –'तोस्' तथा लैटिनमें '–तुस्' रूप मिलता है –ग्रीक 'बतोस्' [स० गत], क्लुतोस् [स० श्रुत], लै० (इन–) क्लुतुस् [स० श्रुत] । संस्कृतमें इस प्रत्ययसे निष्पन्न रूपोंमें ध्वन्यात्मक तथा सन्ध्यात्मक [Prosodic] परिवर्तन पाये जाते हैं —

दग्ध[$\sqrt{}$दह्], नद्ध [$\sqrt{}$नह्], सत्त[$\sqrt{}$सद्], लब्ध [$\sqrt{}$लभ्], दिष्ट [$\sqrt{}$दिश्], सिक्त [$\sqrt{}$सिच्], श्रुत [$\sqrt{}$श्रु], मूढ [$\sqrt{}$मुह्], पृष्ट [$\sqrt{}$पृच्छ्], जात [$\sqrt{}$जन्], खात [$\sqrt{}$खन्], हित [= *धित, $\angle$धा], मित [$\angle$मा], दत्त [$\angle$दा] शमित [$\angle$शी], गलित [$\sqrt{}$गल्], मिलित [$\sqrt{}$मिल्], गृहीत [$\sqrt{}$ग्रह्]

कतिपय धातुओंमें कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूपोंमें 'न प्रत्यय मिलता है । इसका ग्रीकमें 'नोस्'तथा लैटिनमें'नुस्'रूप पाया जाता है — ग्री०, हग्नोस्, स्तुग्नोस् लै० प्लेनुस् दिग्नुस् । संस्कृतमें इस प्रत्ययके उदाहरण ये हैं —खिन्न [$\sqrt{}$खिद्], भिन्न [$\sqrt{}$भिद्], विषण्ण [$\sqrt{}$सद्], प्रापन्न [$\sqrt{}$पद्,] क्षीण [$\sqrt{}$क्षी], हीन [$\sqrt{}$हो], गीर्ण

[√गिर्], जीर्ण [√जर्], भग्न [√भञ्ज्], भुग्न [√भुज्], मग्न [√मज्ज्], लग्न [√लग्]

[इ] कर्तृवाच्य भूतकालिक कृदंतः—इनमें–तवन् [तवन्त्] [सं० क्तवत्] प्रत्यय पाया जाता है जो वस्तुतः उक्त 'त' वाले रूपोंके साथ–'वन्त्' [वत्] जोड़कर बनाया है। उक्त-उक्तवन्त् [उक्तवान्], चिन्तित-चिन्तितवन्त् [चिन्तितवान्], आदिष्ट-आदिष्टवन्त् [आदिष्टवान्]।

[ई] भविष्यकालिक कर्मवाच्य कृदंत [Gerunds]—इनमें संस्कृतमें तीन प्रत्यय पाये जाते हैं.— –य–, –तव्य–, –अनीय– । इनमें प्रथमका संबंध प्रा० भा० यू० *यो [io] से जोड़ा जाता है, जो ग्रीक हग्योस् ['agios] से स्पष्ट है। इसके संस्कृत उदाहरण ये हैं—ज्ञेय [√ज्ञा], ध्येय [√ध्या], विक्रेय [वि + √क्री], नेय [√नी], भाव्य [√भू], पाठ्य [√पठ्], पाच्य [√पच्]। द्वितीय प्रत्ययका संबंध प्रा० भा० यू० *–तेवो [teuo] से जोड़ा जाता है जो ग्रीक 'दोतेओस्' [doteos] [सं० दातव्यम्] से स्पष्ट है। इसके उदाहरण ये हैं—

स्थातव्य [√स्था], कर्तव्य [√कृ], वर्तितव्य [वृत्] ।'अनीयर्' [अनीय] की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, वैसे इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० यू० –*एनो,–*ओनेरो मानी गई है, जो संस्कृतमें 'अन'–[ल्युट्] के रूपमें भी पाया जाता है [पचनम्, मननम्, पठनम् आदिमें]। इसके उदाहरण हैं—करणीय [∠कृ], दर्शनीय [∠दृश्], भोजनीय [भुज्], पठनीय [√पठ्], पानीय [√पा]।

संस्कृतमें भविष्यत्‌के कर्तृवाच्य कृदन्त रूप भी मिलते हैं, जो वस्तुतः वर्तमानकालिक कृदन्तोंमें ही–'स्य'–जोड़कर बनाये जाते हैं:—भविष्यत्, करिष्यमाण ।

[२] तुमन्त कृदंत प्रत्यय [Infinitives]—वेदोंमें तुमन्त अर्थमें कई प्रत्यय पाये जाते हैं, जिनका संकेत हम कर चुके हैं। लौकिक

संस्कृतमें–'तु' ही बचा है। इससे मिलता-जुलता तुमन्त कृदन्त केवल लैटिन तथा लिथुआनियनमें पाया जाता है —लै० दतुम् [सं० दातुम्], लिथु० देतुम् [सं० ध तु], इसके रूप ये हैं —जेतुम् [√जि], भेतुम् [√भी], श्रोतुम् [√श्रु], वक्तुम् [√वच्], गन्तुम् [√गम्], रोढुम् [√रुह्], द्रष्टुम् [√दृश्], भवितुम् [√भू], शयितुम् [√शी], वर्तितुम् [√वृत्], चेष्टितुम् [√चेष्ट्], ग्रहीतुम् [ग्रह्]।

[३] पूर्वकालिक क्रिया रूप [Absolutives]—पूर्वकालिक क्रियार्थमें संस्कृतमें दो प्रत्यय पाये जाते हैं — –'त्वा', –'य' [ल्यप्]। इनमें प्रथम शुद्ध [अनुपसर्ग] धातुके साथ जोड़ा जाता है, द्वितीय सोपसर्ग धातुके साथ। दोनोंके उदाहरण क्रमशः ये हैं —

जित्वा [√जि], नीत्वा [√नी], श्रुत्वा [श्रु], भूत्वा [भू], मुक्त्वा [√मुच्], लब्ध्वा [√लभ्], त्यक्त्वा [√त्यज्], ज्ञात्वा [√ज्ञा], दत्त्वा [√दा], हित्वा [√धा], पीत्वा [√पा]।

उपनीय [उप + √नी], अव-तीर्य [√तॄ], नि पत्य [√पत्], प्र विश्य [√विश्], आ-हूय [√हू], आ ज्ञाय [√ज्ञा], आ दाय [√दा], आ-गत्य [√गम्], अनु मत्य [√मन]।

क्रियाविशेषण—

संस्कृत क्रियाविशेषणोंको हम दो वर्गोंमें विभक्त कर सकते हैं:— एक वे क्रियाविशेषण जो मूलतः सविभक्तिक रूप थे ये वस्तुतः संज्ञा शब्द विशेषण या सर्वनामसे बने वे सविभक्तिक रूप हैं, जो धीरे-धीरे अव्ययके रूपोंमें प्रयुक्त होने लगे हैं, दूसरे वे क्रियाविशेषण जो किन्हीं प्रत्ययोंसे बने हैं। ग्रीक तथा लैटिनमें दोनों तरहके क्रियाविशेषण पाये जाते हैं। वहाँ भी कई सविभक्तिक शब्द क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त देखे जाते हैं।[१]

---

१ Atkinson : Greek Language PP 100–101 साथही Papillon : Comparative Philology applied to Greek anp Latin Inflexions Appedix II C D. P 253

१. सविभक्तिक क्रियाविशेषण :—

[अ] द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

[i] संज्ञा रूपोंसे बने क्रियाविशेषण :—कामम्, समकालम्, अहर्निशम्, सुखम्, रहः।

[ii] विशेषणोंसे बने क्रियाविशेषण :—अनन्तरम्, चिरम्, नित्यम्, प्रत्यक्षम्, बाढम्, साम्प्रतम्, आशु, साधु।

[iii] सर्वनाम शब्दोंसे बने क्रियाविशेषणः—तत्, यत्, किम्, यावत्, तावत्। ग्रीकमें भी द्वितीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं:—दिकेन्, खरिन्, इनके साथ ही तुलनात्मक विशेषण रूपोंके द्वितीया ए० व० व० व० के रूप ही क्रियाविशेषणके रूपमें प्रयुक्त होते हैं —मकोन्। लैटिनमें भी संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषणोंके द्वितीया ए० व० ब० व० के रूप क्रियाविशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं —वर्बोम्, क्वम्, [ए० व०] विवम्, अलिमस् [व० व०]।

[आ] तृतीया विभक्तिवाले क्रियाविशेषण:—

[i] संज्ञावाले रूप :—क्षणेन, दिष्ट्या, सहसा।

[ii] विशेषणोंसे बने रूप :—दूरेण, दूरतरेण, तिरश्चा, उच्चैः, प्रोच्चैः, शनैः।

[इ] चतुर्थी विभक्तिवाला केवल एक ही क्रियाविशेषण संस्कृतमें पाया जाता है:—अर्थाय।

[ई] पञ्चमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण प्रचुर हैं —

[i] संज्ञावाले रूप :—बलात्, सक्षेपात्।

[ii] विशेषणवाले रूपः—अचिरात्, दूरात्, कृच्छ्रात्, साक्षात्।

[iii] सर्वनामवाले रूप —तात्, यस्मात्, ग्रीक तथा लैटिनमें अपादान [Ablative] वाले सविभक्तिक विशेषण प्रचुर हैं, कतिपय उदाहरण ये हैं:—ग्रीक होस् [सं० तात्]; होपोस् [सं० यस्मात्],

लैतिन रेक्तेद् [rected], फकिलूमेद् [facillumed], मेरितोद् [meritod]

संस्कृतमें षष्ठी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण नहीं पाये जाते, लैतिनमें भी इनका अभाव है, ग्रीकमें कतिपय सर्वनाम शब्दोंके संबंध कारकीय [genitive] क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, जैसे— होउ [स० तस्य], हपोउ [स० कस्य]।

[ऊ] सप्तमी विभक्तिवाले क्रियाविशेषण :—

प्रगे, प्रगे, अग्रे।

ग्रीक तथा लैतिनमें अधिकरण [locative] कारकवाले क्रियाविशेषण पाये जाते हैं, कुछ उदाहरण ये हैं —ग्रीक होइ [स० तस्मिन् अथवा तत्र], पोइ [कस्मिन् अथवा कुत्र], होथि [स० तत्र] पोथि [स० क्व, कुत्र] लैतिन उबि, इबि [स० तत्र, अत्र]।

२ सप्रत्यय क्रियाविशेषण:—

[अ] –वत् प्रत्यय, जो सादृश्यके अर्थमें पाया जाता है —ब्राह्मणवत्, पुत्रवत्, मूकवत्, चित्रकर्णवत्, यथावत्। इस प्रत्ययका संबंध पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'वत्'–'वन्त्' से जोड़ा जा सकता है।

[आ] –त [तसिल्] प्रत्यय —अतः, इतः, ततः, यतः, कुतः, परतः, पुरतः, सर्वतः, दूरतः, आदितः, अर्थतः, दैवतः।

इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० यू० *तोस् से मानी गई है, जिसका रूप ग्रीकमें *तोस् तथा लैतिनमें *तुस् पाया जाता है। यथा, ग्रीक एक्तोस्, एक्तोस्, लैतिन इन्तुस्, रादिकितुस्।[1]

[इ] –ति प्रत्यय—'इति'।

[ई] –त्र प्रत्यय —अत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अन्यत्र, सर्वत्र।

---

१. Thumb : Handbuck des Sanskrit § 403 p 276.

संस्कृत वाक्य-रचना

जैसा कि हम प्रथम परिच्छेदमें बता आये हैं, प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्य-रचनाके विषयमें भाषाशास्त्रियोंने कोई अनुमान नहीं लगाये हैं। यद्यपि ध्वनि तथा पदरचनाकी दृष्टिसे इस काल्पनिक भारोपीय भाषा [Grundsprache] का अत्यधिक विवेचन हो चुका है, किन्तु इसकी वाक्यरचनापर कोई कार्य नहीं हुआ है। वैसे कुछ विद्वानोंने, जिनमें प्रमुख नाम श्लाईखर [Schleicher] का लिया जा सकता है, इस काल्पनिक भाषामें हमें "एक भेड़ तथा एक घोड़ेकी कहानी" देनेकी चेष्टा की है। इसका एक वाक्य यहाँ इसलिए दिया जाता है कि इस काल्पनिक वाक्य-रचनाका थोड़ा संकेत पाठकोंको मिल जाय। यद्यपि श्लाइखरने इसकी ध्वनियोंका प्राचीन रूप दिया है, पर हम यहाँपर नये संकेतोंका प्रयोग करेंगे, जो ध्वनिशास्त्रीय दृष्टिसे विशेष शुद्ध हैः—

*ओविस्....देदोर्के एक्वम्स् तेम् बघेम् गेरुम् वेघेन्तेम्, तेम् भारेम् मेघेम्.......ओविस् एक्वभ्यम्स अ वेवेकेत् ।]

[*owis dedorke, ekʷms, tem, baghem, gerum, weghentem tem bharem, meghem...owis ekʷmbʰyms a weweket]

सं० [अविः .. ददर्श अश्वं त वाहं गुरुम् वहन्तं, तं भारं महान्तं, ... अविः अश्व अवोचत् ।]

किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं इस काल्पनिक भाषाके रूप सूत्रमात्र [formulae] हैं। अतः इस प्रकारके पुनर्निमित [reconstucted] वाक्योंकी कल्पना वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, न इससे भाषाविज्ञानमें

तब तक कोई सहायता ही पहुँच सकती है, जब तक कि इस वाक्यरचनात्मक विशेषताकी पुष्टि हम किसी बाह्य प्रमाणसे न कर सकें। अतः ऐसी कल्पनाओं-की अवहेलना करना ही विशेष श्रेयस्कर तथा वैज्ञानिक है। वस्तुतः प्रा० भा० यू० भाषाकी वाक्यरचनाके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते।

संस्कृतकी वाक्य रचना विशेष जटिल नहीं है। प्रत्येक वाक्यमें प्रायः एक क्रिया तथा एक कर्त्ता होता है, यदि क्रिया सकर्मक है, तो कर्म भी होता है। विशेषण संज्ञाके साथ प्रयुक्त होते हैं तथा क्रियाविशेषणोंका भी प्रयोग होता है। प्रत्येक नाम शब्द वचन, लिंग तथा कारकसे युक्त होता है। प्रत्येक क्रियामें वाच्य, लकार, पुरुष एवं वचन रहता है। कुछ ऐसे भी अव्यय संस्कृत वाक्योंमें प्रयुक्त होते हैं, जिन्हें वैसे तो हम संबंधबोधक पर-सर्ग [postpositions] कह सकते हैं, किन्तु संस्कृत वैयाकरणोंकी परि-भाषामें इन्हें 'कर्मप्रवचनीय' कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये 'कर्मप्रवचनीय' वाक्यकी क्रियाके साथ किसी कर्तृभिन्न संज्ञा या सर्वनामका संबंध व्यक्त करते हैं। शब्दों तथा वाक्योंको परस्पर कुछ अन्य प्रकारके अव्ययोंसे जोड़ा जाता है, जो समुच्चय बोधक होते हैं, यथा, च, पर, तथा, अथवा।

संस्कृतकी सबसे बड़ी वाक्यरचनात्मक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक पदका पारस्परिक संबंध विभक्तिके द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसीलिए संस्कृत वाक्यमें किसी पदका ठीक उसी तरह नियत स्थान नहीं होता, जैसा हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओंमें है। उदाहरणके लिए एक वाक्य ले लीजिए—"स पुरुषः त श्वानमताडयत्" इस वाक्यको हम "त पुरुषोऽ-ताडयत्त श्वान" अथवा "त श्वानमताडयत् स पुरुषः" के रूपमें भी रख सकते हैं। प्रत्येक दशामें इसका ठीक वही अर्थ होगा—उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा। ठीक यही बात ग्रीक या लैटिनमें पाई जाती है। संस्कृतके इसी वाक्यके समानान्तर वाक्यको ले लें।

हो अन्थ्रोपोस् तोन कुन् एप्ताजेन।

[ho anthropos ton kun eptazen]

[उस आदमीने उस कुत्तेको पीटा ।]

इस वाक्यको या भी रख सकते हैं —[१] तोन् कुन् एपताज़ेन् हो अन्थ्रोपोस् अथवा [२] हो अन्थ्रोपोस् एपताज़ेन् तोन् कुन् ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आरम्भिक स्थितिमें प्रा० भा० यू० वाक्य-रचनाकी एक विशेषता यह रही होगी कि यहाँ पदोंकी कोई नियतस्थिति न थी, उनका प्रयोग वाक्यमें कहीं भी हो सकता था, उनके सम्बन्धका बोध विभक्तिके द्वारा करा दिया जाता था ।

वाक्यरचनाकी दृष्टिसे सर्वप्रथम हम नाम शब्दोंको लेंगे । नाम शब्दोंकी पदरचनाको हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें देख चुके हैं । नाम शब्दोंके वचनके विषयमें दो बातें यह देना आवश्यक होगा । संस्कृतमें द्विवचन पाया जाता है । वैसे बादमें प्राकृतमें आकर यह वचन ठीक उसी तरह लुप्त हो गया है, जैसे 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर ग्रीकका द्विवचन लुप्त हो गया है । जैसा कि हम कह चुके हैं द्विवचनका बोध उन दो वस्तुओंके वर्णनमें था, जो युग्म रूपमें पाई जाती थी । दूसरी विशेषता यह है कि वैदिक संस्कृतमें कहीं-कहीं नपुंसक लिंग बहुवचन कर्ताके साथ एकवचन क्रियाका प्रयोग पाया जाता है । यह सम्भवतः इसलिए कि नपुंसक लिंग ब० व० के 'आकारान्त' वैकल्पिक रूपको 'आकारान्त' स्त्रीलिंगके प्रथमा ए० व० के तुल्य माना जाता हो । यह हम देख चुके हैं कि नपुंसक लिंगके प्रथमा-द्वितीया ब० व० का विभक्तिचिह्न 'आ' भी था [भुवनानि विश्वा] । यह विशेषता ग्रीकमें भी पाई जाती है । होमरकी भाषामें तथा ग्रीककी एक विभाषा 'एतिक' [Attic] में यह विशेषता पाई जाती है[१] । 'हेलेनिस्टिक' कालमें आकर यह प्रयोग बहुत कम हो गया । संस्कृतमें भी इस तरहके प्रयोगका धीरे-धीरे लोप हो गया तथा लौकिक संस्कृतमें यह प्रयोग नहीं पाया जाता ।

संस्कृतमें वाक्यके कर्ताके लिए प्रथमा तथा तृतीया दोनों विभक्तियोंका प्रयोग पाया जाता है । तृतीयाका प्रयोग कर्मवाच्यमें होता है, प्रथमाका

१ Atkinson : Greek Language p 104

कर्तृवाच्यमे । तृतीयाका प्रयोग कर्ताके अतिरिक्त करणमे भी पाया जाता है, तभी तो पाणिनिने कहा है—कर्तृकरणयोस्तृतीया । कर्तृवाच्यके प्रयोगमे जहाँ सत्तार्थक क्रियाका [भू या अस्का] वर्तमाने प्रयोग होता है, कभी-कभी यह क्रिया प्रयुक्त नही होती । किन्तु ऐसी दशाम प्राय विधेयको उद्देश्यके पूर्व रखते है या वादमें । साथ ही ऐसी दशामे विशेषक सर्वनामका सदा प्रयोग होता है । उदाहरणके लिए 'स पुरुष शूर' या 'शूर. स पुरुष.' में [अस्ति या भवति] क्रियाका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नही, उसके बिना भी काम चल सकता है । किन्तु, यदि विधेयका प्रयोग विशेषक सर्वनाम तथा कर्ता [उद्देश्य] के बीच किया जायगा, तो क्रियाके प्रयोगके बिना काम नहीं चलेगा । 'स शूर पुरुष' [अस्ति], में 'अस्ति' की आकाक्षा बनी रहती है । ठीक यही विशेषता ग्रीकमे पाई जाती है । उदाहरणके लिए, हो अन्थ्रोपो स् कलो स् [ho anthropos kalos] तथा 'कलो स् हो अन्थ्रोपो स्' पूरे वाक्य है, किन्तु हो कलो स् अन्थ्रोपो स् में ए स्ति [esti] की आवश्यकता है । इस वाक्यका अर्थ है, "यह पुरुष अच्छा है" । सबोधनके अर्थमे कभी कभी सस्कृतमें हे का प्रयोग पाया जाता है, हे देव, हे हरे, हे विष्णो । ग्रीकमें सबोधनके अर्थमे ओ [ō] पाया जाता है, जो शब्दके पहले प्रयुक्त होता है, यथा ओ ले ओस् [ō leos] [हे सिंह], ओ क्रीत [ō krita] [हे न्यायाधीश] ।

द्वितीया विभक्तिका प्रयोग प्राय सकर्मक क्रियाके लिए पाया जाता है । यह वह वस्तु है, जो किसी क्रियाके कर्ताका ईप्सिततम कर्म है । 'कर्तुरीप्सिततम कर्म' । ईप्सिततम पदम तमप् का प्रयोग इसलिए किया गया है कि प्रमुख कर्म करते समय जो और कर्म होंगे, वे क्रियाके मुख्य कर्म न होनेके कारण कर्म नही माने जायँगे, तथा उनमे द्वितीया विभक्ति नही होगी । यथा, 'दध्ना ओदन भुङ्क्ते' इस वाक्यमें केवल 'ओदन' ही कर्म

है, क्योंकि खानेवालेको ईप्सिततम यही है, दधि नहीं। कर्मवाच्यमें यह कर्म प्रथमा विभक्तिमें प्रयुक्त होता है। ठीक ऐसा ही कर्मवाच्य प्रयोग ग्रीकमें पाया जाता है, जहाँ कर्म क्रियाका कर्त्ता [nominative] बन जाता है। किन्तु ध्यान रखिए, जहाँ ग्रीकमें कर्मवाच्यके कर्मको कर्त्ता माना जाता है, वहाँ संस्कृतमें इसे कर्त्ता नहीं माना जाता। हमारे वैयाकरणोंके मतानुसार यहाँ प्रथमा विभक्ति होनेपर भी कर्मत्व ही माना जायगा, 'रामेण हन्यते वालि.' में 'वालि.' प्रथमा विभक्तिमें होते हुए भी कर्म है, 'रामेण' की विभक्ति तृतीया है, किन्तु इस वाक्यका कर्त्ता यही है। यही कारण है कि हमारे व्याकरणमें प्रथमा तथा कर्त्ता, द्वितीया तथा कर्म, तृतीया तथा करणका ठीक वैसा ही अविच्छेद्य सबंध नहीं है, जैसा अन्य भाषाओंमें। वस्तुत अन्य भा० यू० भाषाओंमें प्रथमा, द्वितीया जैसी कोई गणना है ही नहीं।

कर्मका प्रयोग क्रियासे बने कई कृदन्तोंके साथ भी होता है। यथा शतृ तथा शानच्, क्त-क्तवतू आदिके साथ कर्मकारकका प्रयोग पाया जाता है, यदि वे सकर्मक क्रियासे बने हैं —

[१] दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।

[२] सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम्।

इसी तरह तुमुन्‌के साथ भी कर्मका प्रयोग पाया जाता है, वर्तते प्रियकामिना प्रियास्वदते प्रापयितुं क ईश्वर। वैसे वैदिक संस्कृतमें तुमुन् तथा उसके समानान्तर तवे, तवै आदिके लिए द्वितीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी तीनोंका वैकल्पिक प्रयोग देखा जाता है—अहये हन्तवै, परमेतवे। किन्तु लौकिक संस्कृतमें आकर केवल द्वितीया ही प्रयुक्त होने लगी।

संस्कृतमें कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्म पाये जाये हैं। ये क्रियाएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।[1] इन क्रियाओंमें प्रमुख [कथित] तथा गौण [अकथित]

---

१. दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-पृच्छि-चि ब्रू-शास्-जि-मन्थ-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथित तथा स्यान्नीहृ-कृष्-वहाम्॥

दोनो कर्म द्वितीया विभक्तिमें होते हैं। इसी बातको महर्षि पाणिनिने अपने सूत्र 'अकथितञ्च' में संकेतित किया है। यह अकथित कर्म प्रायः अन्य किसी कारकका रूप रहता है, जो द्विकर्मक क्रियाओंके साथ कर्म हो जाता है। यथा, **गां दोग्धि पयः** [गायसे दूध दुहता है], **माणवकं पन्थानं पृच्छति** [लड़केसे मार्ग पूछता है], **सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति** [समुद्रसे अमृत मथता है] आदि वाक्योंमें **गां, माणवकं, क्षीरनिधिं** में यह अकथित कर्मवाली द्वितीया विभक्ति ही है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाओंके साथ दो कर्मोंका प्रयोग देखा जाता है।[1]

संस्कृत णिजन्त प्रक्रियामें जहाँ द्विकर्मकक्रिया होती है, प्रमुख कर्म द्वितीयामें ही बना रहता है, किन्तु गौण कर्मका प्रयोग तृतीयामें होता है; यथा **"अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः"** [नैषध, प्र० सर्ग] में प्रधान कर्म **भ्रमीः** द्वितीयामें है, गौण कर्म **हयेन** तृतीयामें। जहाँ तक नी, हृ, कृष् तथा वह धातुका प्रश्न है, इनमें गौण कर्म विकल्पसे तृतीया तथा द्वितीया दोनोंमें होता है—**भारं वाहयति भृत्यं भृत्येन वा।**

जैसा कि हम बता चुके हैं संस्कृतके कुछ अव्यय आदि ऐसे हैं, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे परसर्ग [postposition] हैं, तथा जिनके साथ उनसे संबद्ध नाम शब्दोंमें द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। जैसे, **"द्या मन्तरा वसुमतीमपि गाधिजन्मा, यद्यन्यमेव निरमास्यत नाकलोकम्"** [नैषध, ११ सर्ग], में **'अन्तरा'** के योगसे **'द्यां'** में द्वितीया विभक्ति पाई जाती है। पाणिनिके सूत्र **'अन्तरान्तरेण युक्ते'** के अनुसार यहाँ द्वितीया विभक्ति होती है। इस तरहके शब्दोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं। ग्रीकमें भी ऐसे कर्मप्रवचनीय पाये जाते हैं, जिनके साथ कर्म [द्वितीया] का प्रयोग होता है। फिर भी वाक्यरचनाकी दृष्टिसे ग्रीकमें तथा संस्कृतमें एक भेद पाया जाता है। संस्कृतमें जहाँ ये कर्मप्रवचनीय

---

1. Atkinson : Greek Language p. 106.

नियत रूपसे उस कर्मके बाद प्रयुक्त होते हैं, जिससे इनका सम्बन्ध होता है, ग्रीकमें ये सदा उससे पूर्व प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए जहाँ ग्रीकमें ये पुरसर्ग [preposition] हैं, वहाँ संस्कृतमें ये परसर्ग [postposition] हैं। संस्कृतमें 'अन्तरा त्वा' जैसा प्रयोग व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध होगा।

यहाँपर परसर्गोंकी उत्पत्तिपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। वस्तुत ये सभी परसर्ग [कुछको छोड़कर] उपसर्गोंसे विकसित हुए हैं। वैदिक संस्कृतमें उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न होकर कर्मके बाद प्रयुक्त होते थे, वैसे ये वाक्यमें किसी भी स्थानपर रख दिये जा सकते थे। वैदिक संस्कृतमें ये सदा क्रियासे अलग प्रयुक्त होते रहे हैं, यथा प्र नून पूर्णवन्धुर: स्तुतो **याहि** [१. ८२. ३] में, जहाँ 'प्र' लौकिक संस्कृतमें आकर याहि का अविच्छेद्य अग बनकर प्रयाहि रूप बन जाता है। इन्ही उपसर्गोंमसे कई उपसर्ग क्रियाके अविच्छेद्य अग न रहकर परसर्ग बन गये। कुछमें उपसर्गोंसे भिन्नता बतानेके लिए अन्य ध्वन्यात्मक अश जोड़ दिये गये हैं। उदाहरणके लिए '**अभित**' तथा '**परित**' को लीजिए। वस्तुत ये **अभि** तथा **परि** के ही विकसित रूप हैं, जिनमे त [*तोस्] जोड़कर ये नये रूप बना दिये गये हैं। बादमें जाकर इनके शुद्ध रूप क्रियाके अविच्छेद्य अग—उपसर्ग बन गये, जो अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति मे स्पष्ट है, किन्तु ये '–त' वाले रूप 'कर्मप्रवचनीय' बन गये है। यह उपसर्गोंका दो प्रकारका विकास हमें लौकिक सस्कृतमें कही-कही स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरणके लिए **अनु** को लीजिए, यह **अनु** जब उपसर्ग [क्रियाके अग] के रूपमे प्रयुक्त होता है, तो क्रियाकी स ध्वनिको ष बना देता है, अनुषिञ्चति। किन्तु यदि वह उपसर्गके रूपमें प्रयुक्त नही होता तो क्रियाकी 'स' ध्वनि अविकृत रहती है, **अनु** सिञ्चति। ग्रीकमें प्रोस् [pros] [स० प्र], एपि [epi] [स० अपि], परा [para] [स० परा], हुपो [hupo] [स० उप], अव [awa] [स० अव], हुपर [huper] [स० उपरि], पेरि [peri]

[स० परि], अम्फि [amphi] [म० अभि] के योगमें कर्मकारक [accusative case] का प्रयोग पाया जाता है। हम देखते हैं कि उपसर्गोंमें से अधिकांश संस्कृतमें कर्मवचनीय रूपमें प्रयुक्त होते हैं। संस्कृतसे इस प्रकारके प्रयोगके कुछ उदाहरण दे देना ठीक होगा। संस्कृत व्याकरणके प्रसिद्ध वार्तिक 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' के आधारपर इन उदाहरणोंको ले लें

[१] अभितः कृष्णं देवाः।

[२] विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति।

[३] हा देवदत्तम्।

'हा' का प्रयोग इसी ढंगका ग्रीकमें भी पाया जाता है, जहाँ इसका हॉस् [hos] रूप पाया जाता है।

इसके पूर्व कि करण, सम्प्रदान तथा अपादानको लें, पहले संबंध या षष्ठी विभक्तिको ले लें। संबंधको संस्कृत वैयाकरण कारक नहीं मानते। इसका कारण यह है कि कारक वह है, जिसका क्रियासे साक्षात् संबंध हो। षष्ठी विभक्तिका संबंध किसी संज्ञा या नाम शब्दसे होता है, यथा "दशरथस्य पुत्रः लङ्कायां बाणेन रावणं जघान" में दशरथस्य का जघान से कोई संबंध नहीं है, उसका संबंध पुत्र से है। वस्तुतः षष्ठ्यन्त संबंधीका सम्बद्ध नाम शब्दमें वही संबंध होता है, जो क्रियाका अपने कर्मसे होता है। किसी संज्ञा या नाम शब्दसे अन्य संज्ञा या नाम शब्दके साक्षात् संबद्ध होनेपर प्रथम संज्ञा या नाम शब्द षष्ठ्यन्त होता है। किन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म षष्ठ्यन्त पाया जाता है। पाणिनिके प्रसिद्ध सूत्र "अधिगर्थदयेशां कर्मणि" में इसका संकेत किया गया है। मातुः स्मरणम्, सर्पिषो दयनम् में कर्म षष्ठ्यन्त है। अथवा जैसे, "अद्यापि तद्गजघटापटलस्य शेते, भोज्यः स्मरन् हरिरहोऽतलमंदुरायाम्" में गजघटापटलस्य में स्मरन् के कारण ही षष्ठीविभक्ति कर्मको द्योतक है। ग्रीकमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं, जिनमें कर्म [object] में संबंध कारक [Genative Case] पाया जाता है।

ये क्रियाएँ भक्षार्थक, स्पर्शार्थक, इच्छार्थक, शासनार्थक तथा अनुभवार्थक हैं।[1] षष्ठी विभक्तिका प्रयोग कुछ अव्ययोंके साथ भी पाया जाता है, उदाहरणके लिए 'उपरि' के साथ, यथा "दक्षिणस्या ध्रुव उपरि", "तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः"। ग्रीकमें भी जब हुपेर [huper] का प्रयोग "ऊपर" अर्थमें होता है, तो सबधी नाम शब्द सबध कारकमें ही होता है। षष्ठी विभक्तिका अन्य कई स्थलोंपर प्रयोग होता है, जिनमें विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोग निष्ठा प्रत्ययके साथ विकल्पसे तृतीया तथा षष्ठीका है। जहाँ निष्ठा प्रत्ययका प्रयोग समस्त शब्दमें हो गया है [प्राय बहुव्रीहि समासमें], वहाँ यदि नाम शब्दका सबध निष्ठा प्रत्ययके कर्ताके रूपमें है तो तृतीया होगी, किन्तु यदि उसका सबध निष्ठा प्रत्ययसे न होकर समासके अन्य पदसे है, तो षष्ठी विभक्ति होती है —

[१] प्रतीहार्या गृहीतपञ्जरः [तृतीया], [२] श्रुतदेहविसर्जन पितु [षष्ठी]।

तृतीया विभक्तिका प्रयोग करणके अर्थमें होता है। कर्मवाच्यमें क्रियाका कर्ता भी तृतीयान्त होता है, इसे हम बता चुके हैं। कई ऐसे परसर्ग भी हैं जिनके पूर्व तृतीया विभक्ति पाई जाती है। सह, सम, साधं, बिना, नाना, आदि कईके साथ तृतीयाका प्रयोग होता है। इसमें सह, सम, साधं का प्रयोग पाया भी जाता है, ये लुप्त भी हो सकते हैं। पित्रा सम गतः पुत्र. में सम का प्रयोग पाया जाता है। देवो देवेभिरागमत् जैसे प्रयोगोंमें ये लुप्त हैं। ग्रीकमें ठीक ऐसा ही प्रयोग 'सुन्' [sun] का पाया जाता है। ये दोनो प्रा० भा० यू० *स एँ म् [*sem] से विकसित माने जा सकते हैं। ग्रीकमें वैसे तृतीया [करण, instrumental] तथा सप्तमी [अधिकरण locative] दोनों ही चतुर्थी [सम्प्रदान, dative] में समाहित हो गई है, अत वहाँ 'सुन्' के साथ सम्प्रदानका प्रयोग पाया जाता है।

---

१. Atkinson . Greek Language P. 114

चतुर्थीका प्रयोग सम्प्रदानके अर्थमें होता है। वस्तुतः यह 'दानार्थक' क्रियाका गौण कर्म होता है, यथा 'ब्राह्मणाय गां ददाति' में। दानार्थक क्रियाके अतिरिक्त कभी-कभी कथनार्थकमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। संस्कृतमें क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया अर्थवाली क्रियाओंके कर्म भी चतुर्थीमें पाये जाते हैं :—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः। कुछ ऐसे भी परसर्ग और शब्द हैं, जिन्हें चतुर्थीका कर्मप्रवचनीय कहना अनुचित न होगा। इनका उल्लेख "नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च" इस प्रसिद्ध सूत्रमें हुआ है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें जर्मनमें चतुर्थी विभक्ति या सम्प्रदान कारक पाया जाता है। कई परसर्गोंके बाद जर्मनमें संज्ञा या सर्वनाम सम्प्रदान कारकमें होता है। इश कान निश्ट ओने इन गेहेन [Ich kann nicht ohne ihn gehen] [मैं उसके बिना नहीं जा सकता], में 'इन' [ihn] में कर्मकारक [accusative case] है, जो ओने [ohne] के साथ प्रयुक्त होता है। लेकिन फोन [von] के साथ सम्प्रदान कारक [dative Case] पाया जाता है, यथा नेमेन सी दास बुख फोन इम [Nehmen Sie das Buch von ihm] [उससे किताब ले लो।] ध्यान दीजिए 'इन' [ihn] कर्मकारकमें है, तो इह्म [ihm] सम्प्रदान कारकमें।

पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग अपादानमें पाया जाता है, यथा वृक्षात् पर्णं पतति में। पञ्चमी विभक्तिका प्रयोग दो वस्तुओंकी तुलना कर एककी निकृष्टता और दूसरेकी उत्कृष्टता बतानेके लिए भी होता है—गरीयान् अश्वाद् गर्दभः। कुछ ऐसे परसर्ग भी हैं, जिनके साथ पञ्चमीका प्रयोग होता है, जैसे तस्मात् बिना में। भयार्थक तथा त्राणार्थक धातुओंमें भय पैदा करनेवाले हेतुका अपादानमें प्रयोग होता है—[भीत्रार्थानां भयहेतुः], यथा, कृष्णाद् बिभेति कंस, कंसाद् त्रायते गोपान् कृष्णः।

सप्तमीका प्रयोग अधिकरणके अर्थमें पाया जाता है, जैसे गृहे तिष्ठति में। कभी-कभी वैदिक संस्कृतमें उप के साथ सप्तमीका प्रयोग पाया जाता

है, यथा उप सूर्ये। ग्रीकमें भी हुपो तथा प्रोस्के साथ अधिकरण कारकका प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि हम बता चुके है ग्रीकमें अधिकरण कारक, सम्प्रदानमें समाहित हो गया है, वस्तुत वहाँ सम्प्रदान कारक पाया जाता है, जो अधिकरणका भी काम करता है। संस्कृतकी सप्तमी विभक्ति किसी क्रियाके देश तथा कालकी बोधक होती है।

संज्ञाओंकी भाँति ही संस्कृतके सर्वनाम शब्दोंका वाक्यगत प्रयोग देखा जाता है। लौकिक संस्कृतमें सर्वनामोंके प्रयोगमें एक विशेषता पाई जाती है, कि **'अस्मत्', 'युष्मद्'** शब्दोंके वैकल्पिक रूपों—**मा, वा, मे, ते** आदिका प्रयोग वाक्यके आदिमें नहीं होता, जैसे **आगतस्ते** पिता वाक्य शुद्ध है, किन्तु **ते पिता आगत** के स्थानपर **तव पिता आगत [त्वत्पिता आगत]** शुद्ध माना जायगा।

विशेषणोंका प्रयोग संस्कृतमें ठीक संज्ञा जैसा ही होता है। ये उसी लिंग, वचन तथा विभक्तिमें प्रयुक्त होते है, जो लिंग, वचन तथा विभक्ति विशेष्य नाम शब्दकी होती है, यथा, **कृष्ण पुरुष, कृष्णा स्त्री, कृष्ण वस्त्र** आदिमें।

अब हम परस्मैपद तथा आत्मनेपदके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते है। ग्रीकमें भी ये दोनो प्रकारके पद पाये जाते है, जो वहाँ क्रमश "एक्टिव" एव "मिडिल वॉयस" कहलाते है। आरभमें आत्मनेपदका प्रयोग प्राय कर्ताके अपने आप क्रियाफलके भोक्ता होनेके अर्थमें होता था, किन्तु धीरे-धीरे परस्मैपद तथा आत्मनेपदका इस प्रकारका भेद नष्ट हो गया। लौकिक संस्कृतमें आकर हम देखते है कि कुछ क्रियाएँ [धातु] केवल परस्मैपदी है, कुछ केवल आत्मनेपदी। कुछ क्रियाएँ ऐसी भी है, जिनके रूप दोनों प्रकारके पदोंमें पाये जाते हैं। ये उभयपदी धातु है। लौकिक संस्कृतमें यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गोंके प्रयोगसे धातुका पद भी बदल जाता है। उदाहरणके लिए $\sqrt{}$**स्था** धातुको लीजिए। इस धातुके पूर्व सम्, अव, प्र, वि उपसर्गोंमेंसे किसी एकके होनेपर, यह धातु आत्मनेपदी बन जाता है, **[समवप्रविभ्य. स्थ.]**। इसके उदाहरण **सतिष्ठते, अवतिष्ठते,**

वितिष्ठते, प्रतिष्ठते, संतस्थे, अवस्थे, वितस्थे प्रतस्थे, दिये जा सकते हैं, अन्यथा परस्मैपदके रूप तिष्ठति, तस्थौ बनते हैं। इसी प्रकार√जि धातुके पूर्व वि, परा उपसर्ग होनेपर आत्मनेपद होता है, [विपराभ्यां जेः] जयति, विजयते, पराजयते। इस प्रकार हम देखते हैं कि परस्मैपद तथा आत्मनेपदका अब लौकिक संस्कृतमें ठीक वही रूप नहीं रह गया है, जो मूलतः था। ठीक ऐसा ही परिवर्तन ग्रीकमें भी हो गया है। ग्रीकमें तो यहाँ तक पाया जाता है कि कुछ धातु जो वस्तुतः 'एक्टिव वॉयस' के हैं, उनके भविष्यत् [Future Indefinite] रूप 'मिडिल वॉयस' में पाये जाते हैं, तथा कुछ धातु जो वस्तुतः 'मिडिल वॉयस' [आत्मनेपदी] हैं उनके परोक्षभूत 'एक्टिव वॉयस' [परस्मैपदी] हैं। उदाहरणके लिए संस्कृत√दृश् धातुके समानान्तर ग्रीक धातुको ले लें। इसका उत्तम पुरुष एकवचनका वर्तमान कालिक [Present Indefinite, संस्कृत लट्] रूप "र्देकोमइ" [derkomai] [सं० *दृशे [पश्यामि]] है, जो वस्तुतः मिडिल वॉयसका रूप है। किन्तु इसका परोक्षभूत रूप ग्रीकमें देदोर्क [dedorka] [सं० ददर्श] पाया जाता है, जो एक्टिव वॉयसका रूप है। संस्कृतमें दृश् के स्थानपर पश्य् के आदेशके भाषावैज्ञानिक तथ्यका संकेत हम पूर्ववर्ती परिच्छेदमें कर चुके हैं। वैदिक संस्कृतसे भी इसी ढंगका एक दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ वर्तते के साथ ही साथ उसका लिट् रूप ववर्त भी पाया जाता है। संस्कृतमें ये दोनों, आत्मनेपद तथा परस्मैपद कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त होते हैं।

कर्मवाच्य रूपोंका प्रयोग प्रा० भा० यू० में नहीं होता था। किन्तु ज्यों-ज्यों सभ्यताका विकास हुआ, भावोंको अभिव्यंजनाके लिए इसकी आवश्यकता हुई, इसकी पूर्तिके लिए कोई न कोई प्रणालीका आश्रय लिया गया। ग्रीकमें प्रायः अकर्मक आत्मनेपदी क्रियाओंके द्वारा कर्मवाच्यका

१. Atkinson Greek Language p. 139.

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथेमि [tithemi] [सं० दधामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [keimai] [धीये] [मैं धारण किया जाता हूँ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपोंका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरंभ किया। यथा संस्कृत पठति, गच्छति, ददाति से क्रमश पठ्यते, गम्यते, दीयते रूप बनाये गये। ध्यान रखिए, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे संबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं? जिन धातुओंको सकर्मक श्रेणीमें रखा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तकं पठ्यते में। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओं के भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं। इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होता है कि इनका कर्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है—यथा मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैर्म्रियते, अस्माभिः क्षीयते आदिमें।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकार लेट्को अलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शाश्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

---

१. लज्जा-सत्ता स्थिति जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

बोध कराया जाने लगा। उदाहरणके लिए तिथेमि [tithemi] [सं० दधामि] के कर्मवाच्यका बोध केइमइ [Leimai] [थीमे] [मैं धारण किया जाता हूँ] के द्वारा कराया जाने लगा। संस्कृतने भी वैसे तो कर्मवाच्यके लिए आत्मनेपदी रूपोंका ही आश्रय लिया, किन्तु इसमें धातुके मूल रूपके साथ बीचमें 'य' का प्रयोग भी जोड़ना आरम्भ किया। यथा संस्कृत पठति, गच्छति, ददाति से क्रमशः पठ्यते, गम्यते, दीयते रूप बनाये गये। ध्यान रखिए, संस्कृतके कर्मवाच्य सदा आत्मनेपदी होते हैं, परस्मैपदी नहीं। इन्हींसे सबद्ध वे धातु हैं, जिनके भाववाच्य रूप मिलते हैं। ये भाववाच्य रूप क्या हैं? जिन धातुओंको सकर्मक श्रेणीमें रखा जाता है, उनके कर्मवाच्य प्रयोगमें कर्ता तृतीया विभक्तिमें तथा कर्म प्रथमा विभक्तिमें होता है, यथा तेन पुस्तकं पठ्यते में। इसमें क्रियाका पुरुष तथा वचन कर्मके अनुकूल होता है। किन्तु अकर्मक क्रियाओंके भी कर्मवाच्य जैसे आत्मनेपदी रूप पाये जाते हैं। इन्हें भाववाच्य रूप कहते हैं। वाक्यरचनाकी दृष्टिसे इनमें तथा कर्मवाच्य रूपोंमें यह भेद होता है कि इनका कर्ता तो तृतीयान्त होता है, किन्तु कर्मके अभावके कारण क्रिया सदैव प्रथम पुरुष एकवचनमें होती है—यथा मया स्थीयते, तेन भूयते, रामेण शीयते, तैः म्रियते, अस्माभिः क्षीयते आदिमें।

काल तथा लकारके वाक्यगत प्रयोगकी ओर आते हुए हम देखते हैं कि संस्कृतमें तीन काल तथा दस लकार पाये जाते हैं। यहाँ हमने वैदिक लकार लेट्को अलगसे नहीं माना है। वर्तमानके लिए लट् लकारका प्रयोग होता है, किन्तु यह वर्तमान कई भावोंका बोध करानेके लिए प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम यह किसी शाश्वत सत्यका बोध कराता है, यथा जले

१. लज्जा-सत्ता-स्थिति-जागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्।
शयनक्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः॥

पद्मं उत्पद्यते। दूसरे, यह वर्तमानकालिक क्रियाका बोध कराता है, यथा अहं ओदनं भुञ्जे। इसका तीसरा प्रयोग ऐतिहासिक रूपमें अतीतकी घटनाओंके वर्णनके लिए पाया जाता है, यथा अस्ति ब्रह्मस्थलं नाम नगरम्। तत्र काचित् वीणा ब्राह्मणी प्रतिवसति। संस्कृतमें यावत् तथा पुरा के योगमें वर्तमान कालका प्रयोग पाया जाता है [यावत् पुरानिपातयोर्लट्] ऐसी ही विशेषता ग्रीक तथा लैटिनमें भी पाई जाती है। ग्रीकमें परोस् [paros] [सं० पुरा] तथा पलइ [palai] के योगमें क्रिया सदा वर्तमानकालमें पाई जाती है। वर्तमान फ्रेंचके बोलचालमें इस प्रकारका प्रयोग पाया जाता है, जहाँ वर्तमान कालका प्रयोग भूतकालके अर्थमें होता है, जब कि कार्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ है, यथा 'जे स्विसिसी देप्वा लाँ ताँप [Je suis ici depuis long temps] [मैं यहाँ बड़ी देर से हूँ।] इसी भावके बोधनके लिए प्रा० भा० यू० में परोक्षभूते लिट्का प्रयोग होता था।

इस सम्बन्धमें हम पहले परोक्षभूते लिट्को ले लें। जैसा कि हम बता आये हैं 'लिट्' का प्रा० भा० यू० प्रयोग शुद्ध भूतकालिक न था। साथ ही वैदिक साहित्यमें भी इसका प्रयोग वर्तमानके अर्थमें होता रहा है। लौकिक संस्कृतमें आकर यह 'लिट्' लकार उस भूतकालिक घटनाके लिए प्रयुक्त होने लगा, जो हमारे परोक्षमें हुई है। किन्तु यहाँ परोक्षका तात्पर्य उस कालसे है, जब वक्ता उस समय उत्पन्न ही न हुआ हो जब कि घटना घटित हुई थी। अत: वक्ताके जीवनकालमें हुई घटनाके लिए लङ् लकारका या लुङ्का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार लौकिक संस्कृतमें आकर लिट्का प्रयोग अर्थकी दृष्टिसे बहुत संकुचित हो गया है। अतीतकी प्रत्यक्ष घटनाके वर्णनमें लिट्का प्रयोग लौकिक संस्कृतमें अशुद्ध माना जाने लगा है। "रामो रावणं जघान" का लिट्वाला प्रयोग शुद्ध है, किन्तु "अहं काशीं जगाम" का प्रयोग अशुद्ध माना जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लिट् लकारका प्रयोग उत्तम पुरुषके साथ कभी भी प्रयुक्त नहीं होता।

वैयाकरणाने बताया है कि जहाँ व्यक्ति स्वयं वर्तमानकालमें अपने द्वारा किये गये भूतकालिक व्यापारको किन्हीं कायाम अत्यधिक व्यस्त होनेके कारण नहीं जान पाता, वहाँ भी इस तरहका प्रयोग हो सकता है। इसी तरह प्रथम पुरुष एवं अन्य पुरुषके विषयमें भी जहाँ कोई कार्य आपके सम्मुख न हुआ हो, तथा उस क्रियाका केवल साधन ही आपका प्रत्यक्ष विषय हो, वहाँ भी लिट्का प्रयोग हो सकता है, जैसे अयं पपाच [इसने पकाया], त्वं पेचिथ [तुमने पकाया]।[1] उत्तम पुरुषके साथ लिट्के प्रयोगका उदाहरण माघका एक प्रसिद्ध पद्य है —

बहु जगद पुरस्तात् तस्य मत्ता किलाहं चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य ।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य व्यपगतमदयाऽह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा॥
[११-३९]

इस पद्यमें उत्तम पुरुषके साथ लिट् [जगद, चकर] का प्रयोग इसलिए अदुष्ट है कि मुग्धानायिका उस समय शराबके नशेमें चूर थी, पर अब सुबह सखियोंकी ठिठोली करते देखकर यह समझ गई है कि रातको उसने पतिके समक्ष प्रौढाकी तरह आचरण किया था। पर वह तो नशेमें थी, उसे अभी भी पूरी तरह पता नहीं है, अतः अपने उक्त आचरणका वह अनुमान भर लगा पाती है, मदके कारण उसे उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। फलतः यहाँ कविने लिट्का प्रयोग किया है, जो इस बातको व्यंजना करता है कि नायिकाने जो भी क्रिया वह मदके कारण था, मद न होनेपर मुग्धा-नायिका ऐसा आचरण कदापि न करती, साथ ही मदके उतरनेपर स्वयं उसे ही पता नहीं है कि उसने मदाविष्ट होकर क्या किया था।

भूतकालके द्योतनके लिए अनद्यतनभूतमें लङ् तथा सामान्यभूतमें लुङ् का प्रयोग और पाये जाते हैं। जैसा कि पारिभाषिक संज्ञासे स्पष्ट है, लङ्का

---

१. देखिए सिद्धान्तकौमुदीमें 'परोक्षे लिट्' [३-२-११५] सूत्रकी ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकृत तत्त्वबोधिनी व्याख्या।

प्रयोग उस घटनाके लिए होता है, जो आज घटित नहीं हुई है, तथा लुङ्का प्रयोग किसी भी भूतकालिक घटनाके लिए हो सकता है। किन्तु लङ् तथा लुङ्का प्रा० भा० यू० रूप थोड़ा भिन्न था। ग्रीकमें यह भिन्नता पाई जाती है। वहाँ लङ् [Imperfect] क्रियाकी अपूर्णावस्थाको व्यक्त करता है, तो लुङ् [Aorist] क्रियाकी पूर्णताको।

भविष्यत् कालके लिए संस्कृतमें दो लकार पाये जाते हैं, लृट् तथा लुट्। वैसे तात्त्विक दृष्टिसे इनके प्रयोगमें विशेष भेद नहीं जान पड़ता। संस्कृतमें अधिकतर वाक्यगत प्रयोग 'लृट्' का ही देखा जाता है। इसीसे रूपकी दृष्टिसे मिलता-जुलता हेतुहेतुमत् है, जो हेतु वाक्य तथा हेतुमत् वाक्य दोनोंमें भूतकालिक स्थितिको बतानेके लिए किया जाता है। इन वाक्योंमें 'यदि' तथा "तर्हि" [तदा] का प्रयोग समुच्चयबोधक अव्ययके रूपमें होता है, यथा "यदि त्वमपठिष्यः तर्हि परीक्षामुदतरिष्यः।" जैसा कि हम बता चुके हैं लृङ् वस्तुतः लृट् तथा लङ् रूपोंके योगसे बना है।

अब हमारे सामने तीन लकार और रह जाते हैं, आज्ञार्थे लोट्, विधिलिङ् तथा आशीर्लिङ्। जैसा कि हम बता आये हैं, आज्ञाबोधक तथा विध्यात्मक प्रयोग प्रा० भा० यू० में पाये जाते थे। आज्ञात्मक रूपोंमें कोई तिङ् चिह्न नहीं पाया जाता था। संस्कृतका आशीर्लिङ् विधिलिङ्का ही विकसित रूप है। संस्कृत वाक्यरचनामें अधिकतर विधिलिङ्का प्रयोग देखा जाता है। कभी कभी विधिके लिए आशीर्लिङ्का तथा 'आशी.' के लिए विधिलिङ्का प्रयोग भी देखा जाता है। लोट्का प्रयोग अवश्य स्वतन्त्र है। वस्तुतः लोट् आज्ञा या 'मिलिट्री कमान्ड' के भावका वहन करता है। लिङ्में वक्ता केवल अपनी इच्छा प्रकट करता है। यहाँ लोट्के विषयमें एक बात कह दी जाय। संस्कृत वाक्यरचनामें लोट्के साथ निषेधार्थक रूपमें 'मा' [माङ्] का प्रयोग पाया जाता है। इस आज्ञार्थक रूपमें कभी-कभी मा के साथ 'लुङ्' का भी प्रयोग पाया जाता है, किन्तु

विशेषीकरणकी ओर अग्रसर होता है। इस विशेषीकरणमें, जितनी भी अव्यवहृत तथा अनावश्यक वस्तुएँ हैं, वे नष्ट होती रहती हैं। उदाहरणके लिए प्राणिशास्त्रके "सरीसृप-वर्ग" [रेप्टाइल्स] के इतिहासको देखिए। प्राणिशास्त्रियोंका कहना है कि हजारों वर्ष पूर्व इन प्राणियोंके छोटे-छोटे पाँव होते थे, किन्तु धीरे-धीरे ये पेटके बल चलने लगे और वैसे इस जातिके कई प्राणियोंमें जैसे मगर आदिमें अब भी पैर होते ही हैं। पर इनमेंसे कुछ उपवर्गके प्राणियोंमें आज पैर नहीं पाये जाते, जैसे सर्प उपवर्गके प्राणियोंमें।[1] इसी प्रकार भाषामें ज्यों-ज्यों विकास होता है, अव्यवहृत तथा अनावश्यक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, यह सरलताकी ओर बढ़ती जाती है।

ओत्तो येस्पर्सनने एक अन्य स्थानपर कहा है—"भाषाकी यह सरलता-प्रवृत्ति विकासवती तथा लाभदायक है, इस बातको पुरानी पीढ़ीके भाषा-वैज्ञानिकोंने उपेक्षित ही समझा, क्योंकि प्राचीन भाषाओंके रूपमें उन्होंने एक रम्य सुव्यवस्थित विश्वका दर्शन किया और वे उसके आदी हो गये थे, फलतः उन्होंने उस व्यवस्थाका नवीन भाषाओंमें अभाव पाया।"[2] चाहे पुराने विद्वान् भाषाकी इस सारल्य-प्रवृत्तिको ह्रास समझें, भाषाके भ्रष्ट होनेका लक्षण मानें, भाषावैज्ञानिक तो इस प्रवृत्तिको भाषाके विकासके लिए उपयोगी ही समझता है। भाषावैज्ञानिक भाषाके निरन्तर प्रवहमान

---

१. प्राणिशास्त्रमें इसी संबंधमें एक सिद्धान्त है, जो लेमार्कियन थियरीके नामसे प्रसिद्ध है। यह मत Theory of use and disuse कहलाता है। इसके मतानुसार प्राणियोंके वे अंग जो ज्यादा काममें आते हैं विकसित और अभिवृद्ध होते हैं, और वे जो काममें कम आते हैं या नहीं आते, नष्ट होते जाते हैं। उसके मतसे ऊँट या जिराफकी लंबी गर्दन भी ज्यादा काममें आनेका ही फल है। पर अब लेमार्कके सिद्धान्तका मेन्डेलके 'हेरेडिटरी लाज' [Hereditary Laws] [पैतृक नियम] के द्वारा खंडन हो गया है।

२. Otto Jespersen : Language, ch. XVIII, P. 366.

निर्झरको ही नैसर्गिक रूप मानता है, व्याकरणके आलवालसे परिवेष्टित कलुषित पल्वलवाले रूढ रूपको नहीं। और इस दृष्टिसे पुरानी भाषाओंको, जो आज प्रवहमान निर्झरकी स्थितिमें नहीं है, वह 'मृत' कहता है, तो इसमें उसका यही भाव है, तथा लोगोंको इसमें कोई आपत्ति होनेकी गुंजायश नहीं। 'मृत' विशेषणसे उसका यह भाव नहीं, कि ये विगत साहित्यिक रूढ भाषाएँ अब अध्ययनकी चीज नहीं हैं। अपितु भाषा-वैज्ञानिकके लिए उनके अध्ययनका बहुत बड़ा महत्त्व है, वह उसके वैज्ञानिक अध्ययनकी निश्चित दृढ आधार-भित्ति जो है। भाषावैज्ञानिकके लिए ही नहीं, समाजवैज्ञानिकके लिए भी इन 'मृत' भाषाओंके साहित्य तथा भाषावैज्ञानिक स्वरूपका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, इसे भूल जाना भ्रान्त दिशाकी ओर ही ले जायगा।

तो, येस्पर्सनके द्वारा संकेतित सारल्य-प्रवृत्ति भाषाके विकासकी जान है। हम देखते हैं कि आधुनिक ग्रीक, होमर या अरस्तूकी ग्रीककी अपेक्षा कम जटिल है। इसी प्रकार आधुनिक फारसी, अवेस्ताकी भाषा, या पह्लवी [प्राचीन फारसी] से अधिक सरल है। ठीक यही बात संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासके बारेमें देख सकते हैं। यदि जटिलताकी दृष्टिसे देखा जाय तो भा० यू० परिवारमें संस्कृतका व्याकरणात्मक संघटन सबसे अधिक जटिल है। इस दृष्टिसे ग्रीक या लैटिन भी संस्कृतसे कम जटिल है। इसका संकेत हम यह यत्र तत्र दे चुके हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओंमें व्याकरणात्मक दृष्टिसे रूसी तथा जर्मन कुछ जटिल है, संस्कृत उनसे भी जटिलतर है। पर संस्कृतका परवर्ती विकास धीरे धीरे व्याकरणात्मक [ध्वन्यात्मक भी] सरलता की ओर बढ़ता है। जैसा कि हम देखेंगे प्राकृतकालमें व्याकरणा-त्मक सारल्य बढ़ गया और अपभ्रंशकालमें तो आजकी व्यवहित प्रवृत्ति पाई जाने लगी। संस्कृतकी अपेक्षा शौरसेनी एवं मागधी विशेष सरल है, और आजकी हिन्दी या बँगला इन सभीसे अधिक सरल है। इसका कारण यह है कि आधुनिक [वर्तमान] भारतीय भाषाएँ अपने प्राचीन रूपोंको

छोडती हुई *विशेष सारल्य तथा* विशेषीकरणकी ओर बढ गई है। उदाहरणके लिए सुप्–तिङ् रूपोंको लीजिए। सस्कृतके इन रूपोंकी जटिलता कम हो गई हैं। द्विवचन प्राकृतकालमे ही लुप्त हो गया है, प्राकृतकालमे चतुर्थी-षष्ठी, पञ्चमी-तृतीयाका समाश्लेष हो गया है। यह सरलता इतनी बढी कि आधुनिक भारतीय भाषाओमें दो ही विभक्ति रूप रह गये हैं।—अविकारी तथा विकारी। इनमे सबघतत्त्वका बोधन करानेके लिए "परसर्गो" [postpositions] का विकास हो गया है, जो कभी सुप् चिह्नोंसे, कभी किन्ही अव्ययोंसे विकसित हुए हैं। लिंगोंकी दृष्टिसे हम देखते हैं कि नपुसक लिंगका लोप हो गया है। इसी प्रकार तिङ्रूपोंका भी विशेषीकरण हो गया है। हिन्दीके वर्तमानके रूप शतृप्रत्ययान्त रूपोंसे विकसित हुए हैं, तो भूत एव भविष्यत्के[1] रूप क्त प्रत्ययान्त रूपोंसे।

सस्कृतके परवर्ती विकासको भाषावैज्ञानिकोंने तीन स्थितियोंमे माना है।—[१] प्राकृत-कालीन विकास, [२] अपभ्रंश-कालीन विकास, [३] आधुनिक भाषागत विकास। इन्हें हम क्रमश. प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाएँ इन तीनके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं। वैसे प्रत्येकके अन्तर्गत भी विकासकी कई स्थितियाँ रही होगी, जिनमेंसे कुछका सकेत भाषावैज्ञानिकोंने किया है। यहाँ हम सस्कृतके परवर्ती विकासको दो भागोंमें विभक्त करेंगे —[१] मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, [२] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं। इन्हीको दृष्टिमें रखकर इस विकासका अध्ययन किया जायगा।

× × ×

संस्कृतकी वैदिक कालीन विशेषताओंका सिंहावलोकन:—

इसके पहले कि हम सस्कृतके परवर्ती विकासको लें, दो बातोंको समझ लेना जरूरी होगा—पहले तो वैदिक भाषाकी कुछ विशेषताओंका सकेत,

---

१. हिन्दी भविष्यत्का 'गा' संस्कृत "गत." के क्तप्रत्ययान्त रूपसे विकसित हुआ है।

तथा दूसरे, संस्कृतमें कौन-कौन विजातीय तत्त्व आकर प्राकृतवाले विकासमें सहायक हुए हैं। यहाँ हम प्रथमको ले रहे हैं।

जैसा कि हम देखते हैं ऋग्वेदके मन्त्रोंकी भाषा प्राचीनतम भारतीय भाषा है। यह भाषा अवेस्ताकी भाषाके अत्यधिक निकट है, तथा प्रा० भा० यू० "ग्रुन्दस्प्राख" [Grundsprache] का पूर्णतः प्रतिनिधित्व करती है। इसीका विकसित रूप लौकिक संस्कृत तथा प्राकृत[1] है। अवेस्ताकी प्राचीनतम भाषा अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे वैदिक संस्कृतसे भिन्न नहीं मानी जा सकती। देखा जाय तो वह कालिदासकी संस्कृतसे वैदिक भाषाके कहीं अधिक नजदीक है। ऋग्वेदकी भाषा आज भी विश्वस्त रूपमें मिलती है, उसका अपरिवर्तित रूप आज तक सुरक्षित रहा है। किन्तु, फिर भी कुछ स्थलोंपर ऋग्वेदकी भाषाको ठीक उसी रूपमें नहीं लेना होगा, जो हस्तलेखोंमें रक्षा है। जैसा कि हम बता आये हैं, ऋग्वेद कालकी भाषामें कई कालकी कई विभाषाओंका संग्रह मानना होगा। सम्पूर्ण ऋग्वेदको दस मण्डलोंमें विभक्त किया गया है। यह मण्डल-विभाजन ऐतिहासिक आधारपर है, पर इसमें कुछ अपवाद भी है। द्वितीयसे लेकर सप्तम मण्डल तक "गोत्र मण्डल" कहलाते हैं। इन गोत्र-मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डलके सारे मन्त्र एक ही गोत्रके ऋषियोंके बनाये हुए हैं, यथा, सप्तम मण्डलके ऋषि वसिष्ठ गोत्र-वाले है, इसी तरह द्वितीय मण्डलके ऋषि गृत्समद गोत्रके है, तो तृतीयके विश्वामित्र गोत्रके। द्वितीयसे सप्तम मण्डल तकके ऋग्वेदांशकी भाषा प्राचीन-तम है। प्रथम तथा दशम मण्डलमें कुछ भाग प्राचीन है, कुछ बादके। वैसे लोगोंका मत है कि दशम मण्डलका प्रायः सारा ही अंश बादका है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नवम मण्डलका विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें सोम देवता सम्बन्धी सभी मन्त्रोंका समावेश हो गया है। अतः यह मण्डल

१. यहाँ 'प्राकृत' शब्दका प्रयोग हम कुछ विस्तृत अर्थमें कर रहे हैं, जिसमें अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ भी सम्मिलित हैं।

है—आमन्त्रयाञ्चकार, आमन्त्रयामास। यजुर्वेदके गद्यभाग, ऋग्वेदकी ऋचाओंके बहुत बादकी रचना हैं, यह ध्यानमें रखनेकी बात है।

संस्कृत तथा उसके परवर्ती विकासमें विजातीय तत्त्वोंका प्रभावः—

जब आर्य भारतमें आये थे, तब यहाँ उनके पूर्व द्राविड तथा आस्ट्रिक परिवारके लोग रहते थे। इन लोगोंकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ थीं। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाको ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक दृष्टिसे इन भाषाओंने चाहे कम प्रभावित किया हो, शब्द-सम्पत्तिकी दृष्टिसे अत्यधिक प्रभावित किया है। गोंड तथा संथाल जातिके पूर्वज मुण्डा लोगोंकी भाषा 'आस्ट्रिक परिवारकी' थी। इसी परिवारकी कई बोलियाँ आज भी भारतके कई भागोंमें बोली जाती हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन्हें 'कोलवर्गके' नामसे अभिहित करना ठीक समझते हैं। इनका सम्बन्ध भाषाशास्त्रीय दृष्टिसे, इन्डोनेशिया तथा आस्ट्रेलियाके निवासियोंकी भाषाओंसे जोड़ा जाता है, तथा इसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' या 'मोन-ख्मेर' भाषावर्गके नाममें पुकारा जाता है। मुण्डा-वर्गकी भाँति ही द्राविडवर्गकी भाषाने भी उस कालमें आर्योंकी भाषाको प्रभावित किया था। द्राविड लोगोंकी भाषाएँ भिन्न परिवारकी मानी जाती हैं, तथा भाषाविज्ञानमें 'द्राविण-वर्ग' के नामसे प्रसिद्ध हैं। वैसे कुछ विद्वान् इन्हें 'यूराल-अल्ताइ' परिवार [जिसकी प्रमुख भाषा तुर्की है] से जोड़नेकी कल्पना करते हैं।

मुण्डा तथा द्राविण भाषाओंने, जहाँ तक ध्वन्यात्मकता तथा शब्द-सम्पदा प्रश्न है, निःसन्देह संस्कृतको प्रभावित किया है, साथ ही आधुनिक आर्य भाषाओंके, जो प्राकृत द्वारा विकसित हुई हैं, विकासमें भी उनका योग रहा है। किन्तु व्याकरण या पदरचनात्मक प्रभावके विषयमें विद्वानोंके दो मत हैं। प्रो० टॉमसनके मतानुसार आ० आर्य भाषाओंकी विभक्तियोंके विनिपीकरणमें मुण्डाका ही प्रभाव है, किन्तु डॉ० स्तेन कोनो [Sten Konow] इस बातसे सहमत नहीं। वैसे स्तेन कोनो स्वयं भी विहारी

भाषाके कुछ क्रियारूपोंके विकासमें मुण्डा पदरचनाका प्रभाव मानते हैं।[1] ध्वनियोंके विकासके सम्बन्धमें विद्वानोंका मत है कि प्रतिवेष्टित [मूर्धन्य] ध्वनियाँ मुण्डा या द्राविड प्रभाव हैं, क्योंकि वहाँ दोनों वर्गोंमें मूर्धन्य ध्वनियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं, गुजराती तथा पश्चिमी राजस्थानी एवं भीलीकी "स [च]" ध्वनि, संभवतः किसी मुण्डा विभाषाका ही प्रभाव है, क्योंकि भारतीय आर्य परिवारमें यह ध्वनि नहीं पाई जाती। वैसे बाल्तो-स्लाव्हिक भाषाओंमें इसका अस्तित्व है, यथा रूसीमें 'त्स' [च] [ts] ध्वनि पाई जाती है, जो उसके "त्सार" शब्दमें है, जिसका अर्थ जार होता है।

आधुनिक आर्य भाषाओंमें चार या बीसवाली गणना मुण्डा भाषाओं का ही प्रभाव है। साथ ही इसी गणनाके सांकेतिक शब्द गण्डा [४], कौडी [२०], मुण्डा भाषाओंसे आये हैं। इसी तरह कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें हमारे प्राकृत वैयाकरणोंने देशी या देशज मानकर तत्सम तथा तद्भव कोटिसे भिन्न माना है। इनमेंसे बहुतसे शब्द मुण्डा या द्राविड शब्दकोषसे आये हैं। प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski], ब्लॉख, सिलवाँ लेवी [Sylvan Levi], तथा डॉ० चाटुर्ज्याने कई ऐसे शब्द ढूँढे हैं, जो संस्कृतमें मुण्डा या द्राविड भाषाओंसे आये जान पड़ते हैं। इनमेंसे कुछ शब्दोंका संकेत यहाँ दिया जाता है, विशेष अध्ययनके लिए डॉ० पी० सी० बागची द्वारा सम्पादित 'प्रि-आर्यन एंव प्रि-ड्रेविडियन' नामक पुस्तिकामें उपर्युक्त पण्डितोंके लेखोंको देखना चाहिए।

बाण, पिनाक, दोनों संस्कृत शब्दोंका संबंध पिन+आक से जोड़ा जाता है। आक, अनक, आअ शब्द इसी अर्थमें मुण्डा भाषामें पाये जाते हैं। वहाँ इनका अर्थ धनुष तथा बाण है।

---

१. Dr. Bagchi : "Pre-Aryan and Pre-Dravidian." [Introduction], p. XI.

कपोल संस्कृत शब्द मुण्डा भाषाके कापो, तपोम आदि रूपोंसे जोडा जाता है, जिनमे मूल रूप "—पोल" है। मुण्डा भाषाओंमें 'क' 'त' का विपर्यय पाया जाता है।

नारिकेल संस्कृत शब्द मुण्डा शब्द नियोर [नारियलका वृक्ष], तथा कोलई [फल] इन दो शब्दोके सयोगसे बना माना जा सकता है।

भेक शब्द मुण्डा सबेग, बुमाक से सबद्ध माना गया है, जिसका अर्थ 'मेंढक' है।

जङ्घा का सबध मुण्डा छान-छोग, जग्गा, [सथाली], जोंग, जुङ्ग से जोडा जाता है।

कपोत शब्दका सबध मुण्डा कपोत, कबोत से जोडा जाता है।

काक शब्दका सबध मुण्डा कुआग, काग, गाग, कएक से बताया गया है।

हलाहल [अर्थ, जहर] संस्कृत शब्द भी मुण्डा हाले, हलेक से सबद्ध माना गया है, जहाँ इनका अर्थ 'काला साँप' है।

इनके अतिरिक्त जितने भी 'म्ब' 'बु' ध्वनिवाले संस्कृत शब्द है, उनमेंसे अधिकतर शब्दोको प्रो० प्रजीलुस्की [Przyluski] ने मुण्डा भाषाकी देन कहा है। दाडिम्ब, कदम्ब, शिम्ब, बिम्ब, रम्भा, स्तम्ब, तुम्ब, तुम्बुरु, उदुम्बर, निम्बु[क], अम्बु, जम्बीर, लाबु, अलाबु जैसे कई शब्द मुण्डा-वर्गकी ही देन माने जाते है। संस्कृतका गुड शब्द भी मुण्डाके गुल, गुला, गूल, हूलो से सबद्ध है, जिसका अर्थ 'शक्कर' है। क्या हिन्दीके गुलगुला शब्दका भी उद्गम मुण्डामें ही है? प्रो० सिल्वाँ लेवीने बताया है कि कई भौगोलिक स्थानोंके नाम भी संस्कृत भाषामें मुण्डासे ही आये हैं। उनके मतानुसार कोसल तोसल, अंग-वग, कलिंग त्रिलिंग, उत्कल-मेकल, पुलिंद-कुलिंद आदि देश नाम मुण्डासे ही आर्य भाषाओंमें आये

१. ibid. p. xxviii. and also pp. 149. to 160.

है।[1] आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमेंसे कईमें जो प्रतिध्वनि शब्द [जैसे, घोड़ा-वोड़ा, पैसा-वैसा, जल-वल, रोटी वोटी, जलेबी-वलेबी] हैं, क्या वे मुण्डा प्रभाव तो नहीं है ?

द्राविड़ भाषाओंसे भी संस्कृतमें कई शब्द आये हैं। प्रो० ब्लॉखने अपने निबन्ध 'संस्कृत तथा द्राविड़' में इसपर प्रकाश डाला है।[2] 'घोड़े' के लिए वास्तविक आर्य शब्द 'अश्व' है, किन्तु बादमें संस्कृतमें घोटक [घोट–] शब्दका प्रयोग पाया जाता है। यह शब्द सर्वप्रथम आपस्तम्ब श्रौतसूत्रमें पाया जाता है। वस्तुतः यह द्राविड़ भाषाके गुर्रम् [तैलगू], कुदुरु [कनड], कुदिरेइ [तामिल] से सम्बद्ध है। यहाँसे पहले यह बोलचालकी प्राचीन भाषामें आया है, और बादमें संस्कृतमें भी गृहीत हो गया है। दूसरा उदाहरण हम हिन्दी पेट शब्द ले सकते हैं। संस्कृतमें इसके लिए उदर शब्द है। प्राकृत तथा परवर्ती भा० आ० भाषाओंमें यह शब्द विकसित नहीं हुआ है। जब कि प्राकृतमें पेट्ट शब्द पाया जाता है। वैसे संस्कृतने भी पेट शब्दको अपनाया है, पर भिन्न अर्थमें। संस्कृतके पेटक, पेटिका [संदूक, संदूकची] जैसे शब्द मूलतः इसीसे सबद्ध हैं। संस्कृतका बिडाल शब्द लीजिए, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम रामायण व महाभारतमें पाया जाता है। इसीसे हिन्दी बिल्ली, बिलैया, जिप्सी बलारी, शब्द निकले हैं। इसका सबन्ध भी द्राविड़ शब्द पिल्ली [कन्नड] से माना जाकर, इसे द्राविड़ प्रभाव कहा गया है। संस्कृतके गर्दभ शब्दके विषयमें यह मत है कि इसमें दो अंश हैं, एक मूलशब्द [*गर्द] दूसरा–भ प्रत्यय। यह शब्द ऋग्वेद तकमें पाया जाता है। यह तो निश्चित है कि यह आर्य शब्द नहीं है, पर कहाँ से आया है यह प्रश्न समस्या बना हुआ है। विद्वानोंने यह तो कहा कि यह द्राविड़ भाषाका प्रभाव है, पर यह

१. ibid Prof. Sylvan Levi's article "Pre Aryan and Pre-Dravidian in India" PP. 63 to 123

२. ibid. Prof. Bloch's article. pp. 37 to 59.

समस्या अभी सुलझ न पाई है। छान्दोग्य-उपनिषद्में एक शब्द मटची मिलता है, इसका सम्बन्ध विद्वानोंने कन्नड मिडिचे से जोडा है, जिसका अर्थ 'घासका घोडा' [एक कीडा] है। संस्कृतका 'मयूर' शब्द जो ऋग्वेदमें पाया जाता है, द्रविड शब्द मयिल [तामिल], मय्लु [कन्नड], मलि [तेलगू] से जोडा जाता है।

संस्कृतमें द्राविड भाषासे आये शब्दोंमें कतिपय निम्न हैं :—

सं० अनल [आग], तामिल अनल, [अग्नि, धातु 'जलाना'], मल० कन्नड, नल, [अग्नि, ताप], अनलु [ताप]।

सं० अलस [आलसी], ता० अलचु, म० अल्युक, कन्नड, अलनु [थका हुआ]।

सं० उलूखल [ओखल], ता० उलक्कइ, म० उलक्क, कन्नड, ओलके, तेल० रोकली।

सं० एड [भेड], ता० याटु, आडु [बकरी, भेड], कन्नड, आडु [बकरी], तै० एट [मेढा]।

सं० कज्जल, ता० करिकल [कालिमा]।

सं० कटु [कड़वा], ता० कटु, म० कटु, तेलगू, कटु।

म० करीर [बाँस], क० करिले, तु० कणिले, ब्राहुई खरिंग। [बाँसकी कोपल, अकुरित होना]

सं० कानन [वन], ता० का, कान, कानन, कानल, म० कावु, कानल।

सं० कुटी, ता० कुटी, तै० गुडी।

सं० कुटिल, ता० कोटु कूट, म० कोटु, कन्नड, कुडु।

सं० कुद्दाल [कुदाली], तै० गुद्दलि, क० गुद्दु।

सं० कुतल [बाल], ता० म० कूतल, क० कूदल।

सं० कुवलय [कमल], ता० कुवळइ, कन्नड, कोमळें, कोवळ, कोळे [तु० सं० कमल]।

सं० खल, ता० कल्, कळ्वान [चोर], कन्नड कळ्ळ [चोर], ते० 'कळ्ळ' [धोखा]।

सं० घुण [कीडा], कन्नड गोण्णे [-पुरु] [कीडा]।

सं० घूक [उल्लू], ता० कूकइ, कन्नड, गूगि, गूगे, गूबि, ते० गूबि, गूब।

सं० चंदन, ता० चातु, चात्तु म० चानु, चालु, कन्नड, साद्दु, ते० चाँदु।

सं० √चुम्ब् [चूमना], ता० चूप्पु [चूसना]।

सं० चूडा [बालोंका गुच्छा], ता० चूट्टु [सिरपर पहनना, सिरके बालोंका गुच्छा], म० चूट्टु [मुर्गेकी कलंगी], कन्नड सूडु।

सं० दण्ड, ता० तण्टु, कन्नड दण्टु, ते० दण्टु।

सं० निर्गुण्डी [गिलोय], ता०, म० नोच्चि, क० लेक्कि, लेक्कि, लक्कि।

सं० नीर [जल], ता०, म० कन्नड, नीर, ते० नीरु, ब्राहुई, दीर।

सं० √पण् [शर्त करना], ता० पणइ [बाँधना], कन्नड, पोणे [जमानत]।

सं० पण्डित [विद्वान्], ते० पण्डु 'परिपक्व', पण्ड, 'बुद्धि'।

सं० पालि [पंक्ति], क० पारि, म० पालि, ते० पाडि।

सं० वक, ता० वक्का, वंक, ते० वक्कु।

सं० बिल्व [बेल] ता० विळा, विळातु, वेल्लिळ, म० विळा, कन्नड बेलावल।

सं० मीन, [मछली], ता० मीन, कन्नड, मीन, ते० मीनु।

सं० मुकुल [कली] ता० म० मुकिर्, ता० मुकइ, कन्नड मुगुल।

सं० वलय [कड़ा], ता० वलइ, कन्नड वले।

सं० शव [मुर्दा], ता० चा [मरना], चावु, [मृत्यु], कन्नड 'सा' [मरना], सावु [मृत्यु]।

सं० हेरम्ब [भैंसा], ता० एरुमइ, म० एरिम [भैंसा]।

भाषाओंके परस्पर शब्द-ग्रहणके संबंधमें, साथ ही भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनमें उनके शब्द-कोषकी तुलनामें हमें बहुत सतर्क रहना होगा। ऊपर हमने उन मुण्डा-द्राविड शब्दोंको देखा, जो संस्कृतमें ध्वन्यात्मक परिवर्तनके बाद विकसित हुए हैं। इनमें हमें कुछ शब्द ऐसे भी मिल सकते हैं जो ग्रहण [loan word] नहीं माने जा सकते। हमें ऐसे शब्दोंको एक ओर रखकर फिर आदान-प्रदानके तत्त्वका अध्ययन करना होगा। मेरा तात्पर्य "काक"—कोटिके शब्दोंसे है। इस कोटिके जितने भी शब्द होंगे, उन्हें मैं भाषावैज्ञानिक अध्ययन करते समय उपेक्षित समझूँगा। इस कोटिमें मैं उन शब्दोंको लूँगा, जिन्हें हम ध्वन्यात्मक या अनुकरणात्मक [onomatopoeic] शब्द कहते हैं। प्रो० जे० आर० फर्थ इस कोटिके शब्दोंको प्रतीकात्मक [symbolic] कहना विशेष ठीक समझते हैं, जिस पारिभाषिक संज्ञामें अनुकरणात्मकसे अधिक क्षेत्रका समावेश होता है। ये प्रतीकात्मक शब्द विभिन्न भाषाओंमें स्वतन्त्र रूपसे भी विकसित हो सकते हैं, और यदि ये किसी भाषामें किसी अन्यसे लिये भी गये हों, तो इसके लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। अतः किन्हीं भी दो भाषाओंके शब्द-कोषकी तुलनामें ऐसे शब्दोंको हम पहले से ही निकाल कर एक ओर रख देंगे। संस्कृतमें काक, कोकिल, कुक्कुट, निर्झर, मर्मर ऐसे कई शब्द इस 'काक-कोटि'में गृहीत होंगे। इसलिए शब्दावलीके आदान-प्रदानके बारेमें निर्णय देते समय भाषावैज्ञानिकको बड़ा सतर्क होकर चलना है। इस सम्बन्धमें एक बात याद आ गई। फ्रेंच भाषामें 'टोप' के लिए एक शब्द पाया जाता है, उसका उच्चारण 'शापो' [chapeau] होता है, ठीक यही उच्चारण एक राजस्थानी शब्दका है.—'शापो' [स्यापो] [हि० साफा], जिसका अर्थ 'पगड़' है, पर भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे इनका एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार संस्कृत 'नारंग' शब्दको लीजिए 'सन्तरे' के लिए स्पेनिश भाषामें इसीसे मिलते-जुलते शब्द 'नारंख' [naranja] का प्रयोग पाया जाता है। पर जब तक हमारे

पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही कि सस्कृतको यह शब्द विदेशी देन है, तब तक कुछ कहना अनर्थ प्रलाप होगा। यदि हमारे पास यह प्रमाण है कि कुछ विदेशी जातियाँ [सभवत हूण] इस शब्दको एक ओर सस्कृत और दूसरी ओर स्पेनी जैसी रोमान्स भाषा तक ले गये, तो भी दोनों जगह विदेशी तत्त्व होनेसे यह शब्द न तो स्पेनी भाषाकी ही शब्द सघटनाका, न सस्कृतकी ही शब्द-सघटनाका शुद्ध उदाहरण बन सकेगा। इसके प्रतिकूल अगरेजी भाषाकी 'स्लैंग' [slang] में प्रयुक्त 'पाल' [pal] [इसका उच्चारण कुछ-कुछ 'फाल' [p'al] जैसा होता है] तथा 'चेल' [chal] शब्दको हम सस्कृतके भ्राता तथा चेट शब्दसे पूर्णत सबद्ध मान सकते हैं। ये दोनों शब्द वस्तुत अगरेजोमे जिप्सी [रोमानी] भाषासे आये हैं। जिप्सी भाषा सस्कृतसे निकली हुई भारतीय आर्य भाषा है, जो उन घुमक्कडोकी भाषा है, जिनके पूर्वज ईसाकी पहली तथा तीसरी शताब्दीके बीचमें घूमते हुए यूरोप पहुँच गये थे। जिप्सी भाषाकी यह विशेषता है कि वहाँ सस्कृत 'त' ध्वनि [साथ ही 'ट' ध्वनि भी] 'ल' हो जाती है, तथा सस्कृत भ'ध्वनि'फ' हो जाती है। इस प्रकार सस्कृतके भ्राता तथा चेट जिप्सीमें आकर 'फाल' और 'चेल' हो गये हैं। वहीसे ये अँगरेजीकी 'स्लैंग' में आ गये हैं। इस सबधमें यह भी कह दिया जाय कि सस्कृत चेट शब्द भी शुद्ध आर्य न होकर मुण्डा या द्राविड देन है। क्या अपभ्रशवाला 'छइल्ल' [हि॰छैला] शब्द इसीका तो विकास नही?

आगे जाकर लौकिक सस्कृतमे कई ऐसे भी शब्द आ गये है, जो प्राकृत रूप थे, और सस्कृत माने जाने लगे। ये प्राकृत शब्द वस्तुत सस्कृतसे ही विकसित हुए थे, पर बादमें ये सस्कृतमें भी प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतसे सस्कृतमें आये कुछ शब्द ये है —वट ∠ वृत, नापित ∠ √स्ना, लाछन ∠ लक्षण, पुत्तल ∠ पुत्र + ल, भट्टारक ∠ भर्ता, भट ∠ भृत, मनोरथ ∠ मनोऽर्थ। [दे॰ डॉ॰ चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ॰ ९७] उदाहरणके लिए पुनः मारिष, इंगाल, मैरेय इन शब्दोको

लीजिए। ये तीनों प्राकृतके शब्द हैं। वैसे 'मारिष' प्राकृतमें मारिस है, यहाँ संस्कृतके ध्वनि नियमके अनुसार ष ध्वनि आ गई है। इस शब्दका अर्थ 'मित्र' है तथा यह प्राकृत रूप संस्कृत 'मादृशः' से विकसित हुआ है। प्राकृतमें ही यह शब्द संस्कृत नाटकोंमें आकर 'मारिष' हो गया है। 'इंगाल' शब्द संस्कृत अंगार का प्राकृत रूप है। विद्वानोंने वैसे इस शब्दको भी शुद्ध आर्य न मानकर अंगु, इंगुण आदि मुण्डा शब्दोंसे जोड़नेकी चेष्टा की है। यह प्राकृत इंगाल फिरसे संस्कृतमें प्रयुक्त होने लगा है। श्रीहर्षने नैषधमें इसका प्रयोग किया है:—"क्षितेर्तुरिंगालमिवायशः परे" [प्रथम सर्ग]। मैरेय शब्दकी भी ऐसी ही कहानी है। संस्कृतके मद शब्दसे दूसरा शब्द बनता है मदिर, इसीका प्राकृत रूप मइर होता है। इसी प्राकृत मइर से फिर दूसरा शब्द बनता है 'मइरेय' [मइरेय][1]इसीका संस्कृत रूप मैरेय है जिसका शुद्ध संस्कृत रूप *मदिरेय बनता है। मैरेय शब्दका प्रयोग 'शराब' के अर्थमें लौकिक संस्कृतमें बहुत पाया जाता है। माघने शिशुपालवधमें इसका प्रयोग बहुत किया है— "......पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन", [एकादश सर्ग]। इसीके बादके कालमें साहित्यिक संस्कृतमें अरबी फारसी शब्द भी आ गये हैं, पर बहुत कम। श्रीहर्ष नैषधके चौदहवें सर्गमें श्लेषके रूपमें 'भूरितरवारि' पदका प्रयोग करते हैं, जहाँ 'तरवारि' शब्द 'तलवार' के अर्थमें भी आया है। आगे जाकर वैद्यकवि लोलिम्बराजने तो 'पातशाह' शब्दको भी संस्कृत पदावलीमें समाविष्ट कर "लोलिम्बराजःकविपातशाहः" की खिचड़ी पकाई थी। हिन्दी शब्द 'खिड़की' का प्राकृत रूप'खडक्किआ' या 'खिडक्किआ' रहा होगा। मैंने इसका लौकिक संस्कृत साहित्यमें 'खिडक्किका'[2] प्रयोग भी देखा है। वैसे बादमें कई अँगरेजी, फारसी आदि शब्दोंके नये संस्कृत शब्द गढ़ लिये गये हैं, पर वे

१. मइरेय वस्तुतः मइरेअका ही य-श्रुति [y-glide]वाला रूप है।

२. पं० भट्ट मथुरानाथका साहित्यवैभव नामक काव्यग्रन्थ।

थे। इन्हींको वैदिक साहित्यमें 'व्रात्य' नामसे अभिहित किया गया है। इन लोगोंको वैदिक ध्वनियोंमें प्रायः ऋ, ऐ, औ, र, स, ष ध्वनियोंके उच्चारण में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती थी। ठीक इसी तरह संयुक्त ध्वनियोंके उच्चारण करनेमें भी ये असमर्थ थे, विशेषकर तब, जब कि संयुक्त ध्वनियाँ दो भिन्न प्रकृतिकी होती थी।

ब्राह्मण कालकी प्राकृतोंको मोटे तौर पर तीन तरहकी माना जाता है :—[१] उदीच्य, [२] मध्यदेशीय तथा [३] प्राच्य। उत्तरवैदिक कालमें विकसित प्राकृतोंमें उदीच्य विभाषा [प्राकृत] संस्कृतके अत्यधिक समीप थी। इसी उदीच्य विभाषाके आधारपर महर्षि पाणिनिने साहित्यिक तथा परिष्कृत रूप देनेके लिए व्याकरण [अष्टाध्यायी] सूत्रोंका निबन्धन किया था। मध्यदेशीय प्राकृत अन्तर्वेदकी विभाषा थी, तथा प्राच्य प्राकृत मगधके आसपासकी। कुछ लोगोंके मतानुसार दाक्षिणात्य जैसा चौथा वैभाषिक रूप भी उस कालमें रहा होगा। किन्तु बहुत बाद तक दक्षिणकी आर्य विभाषा मध्यदेशीयके ही अन्तर्गत रही है। यहाँ तक कि महाराष्ट्री तथा शौरसेनीको विद्वानोंने एक ही प्राकृतकी दो शैलियाँ माना है, जिसमें प्रथम पद्यमें पाई जाती है तथा द्वितीय गद्यमें।

तो, अशोकके पूर्वकी प्राकृतें मोटे तौर पर तीन तरहकी मानी जा सकती है। अशोकके समयकी वैभाषिक प्रवृत्तियोंको हम तत्प्रदेशके शिलालेखकी भाषामें देख सकते हैं। उदाहरणके लिए जहाँ लिख् का णिजन्त रूप गिरनारके शिलालेखमें 'लेखापिता' मिलता है, वहाँ शहबाजगढ़ीवाले लेखमें लिखपितु, जौगढ़वाले लेखमें लिखापिता, तथा मानसेरके लेखमें लिखपित पाया जाता है। अशोकके गिरनार शिलालेखमें इसका भविष्यत् रूप लिखापयिसम् पाया जाता है, जब कि बादमें मागधीमें यह 'लिहाबइस्सम्' [मृच्छकटिक पृ० १३६] हो गया है।

ईसासे २०० वर्ष पूर्वके लगभग ये विभाषाएँ कुछ निश्चित भाषाओंके रूपमें विकसित हो गईं। इस समय ये विभाषाएँ मोटे तौर पर चार

प्राकृतोंमें—पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा मागधीमें—विभक्त मानी गई है। प्राकृत वैयाकरणोंने इन सब प्राकृतोंमें साहित्यिक दृष्टिसे महाराष्ट्रीको परिनिष्ठित प्राकृत माना है। यद्यपि इन सभी प्राकृतोंमें कई ध्वन्यात्मक तथा पदरचनात्मक तत्त्व समान रहे हैं, पर अपनी निजी विशेषताओंके आधारपर यह वर्गीकरण किया गया है। 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें पण्डितोंके दो मत हैं। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते आये हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृतसे निकली हैं। इसी आधारपर वे 'प्राकृत' शब्दकी व्युत्पत्ति यों करते हैं।

प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं ततः आगतं वा प्राकृतम्। [हेमचन्द्र १।१]
प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते॥ [मार्कण्डेय पृ० १]
प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्। [धनिक दशरूपकवृत्ति २।६०]
प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्। [प्राकृतचन्द्रिका]
प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतं योनिः। [वासुदेव-कर्पूरमञ्जरीटीका]

इस प्रकार सभी प्राकृत वैयाकरणों या प्राचीन पण्डितोंके मतानुसार प्राकृतकी उत्पत्ति संस्कृतसे मानी जाती है। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान इस मतसे संतुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि प्राकृत संस्कृतसे उत्पन्न न होकर वैदिक कालकी बोलियोंसे विकसित हुई है। यदि हम संस्कृत शब्दका रूढ अर्थ न लेकर वैदिक कालकी समस्त विभाषिक प्रवृत्तियोंके अन्तस्में निहित एकरूपता वाला अर्थ लें, तो सारी समस्या सुलझ जायगी। वैसे पाणिनिवाली लौकिक संस्कृतसे तो प्राकृतें उत्पन्न नहीं हुई हैं, यह निश्चित है किन्तु वैदिक [संस्कृत] भाषाका परवर्ती विकास तो ये निःसंदेह हैं ही। पुराने पण्डितोंके मतमें जो त्रुटि थी वह यही कि वे इन्हें प्रायः लौकिक संस्कृतसे उत्पन्न मानते थे।

प्राकृतोंके द्वितीय विकास काल [२०० ई० पू०—६०० ई०] में शौरसेनी प्राकृत विशेष महत्त्वपूर्ण थी। महाराष्ट्री इसीकी एक विशेष शैली थी। पर प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्य प्राचीन पण्डितोंने महाराष्ट्रीको ही

'स्टैण्डर्ड' तथा उत्तम प्राकृत माना। दण्डीने अपने काव्यादर्शमें इसी बातका संकेत करते कहा था, "महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्टप्राकृत विदुः।"[1] दण्डीके बहुत पहले ही प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण वररुचिने शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची प्राकृतोंकी विशेषताओंका उल्लेख करनेसे पहले महाराष्ट्री प्राकृतके नियमोंका निबंधन किया है तथा उससे जो विभिन्नताएँ इन दूसरी प्राकृतोंमें पाई जाती हैं, वे बताकर "शेष महाराष्ट्रीवत्"[2] लिख दिया है। इसी कालमें आकर प्राकृत भी साहित्यिक रूप लेने लगी। इस कालके अंतिम दिनोंसे लेकर १० वीं शती तक महाराष्ट्रीमें सेतुबन्ध, गउडवहो जैसे काव्य लिखे गये। वैसे हालकी 'सत्तसई' का रचना काल बहुत पुराना माना जाता है, किन्तु 'गाहा-सत्तसई' किसी कविकी रचना है या लोक-काव्योंके रूपमें प्रचलित गाथाओंका संग्रह, जिनका विकास ईसाकी प्रथम शताब्दीके आसपास हुआ होगा, यह प्रश्न समस्या ही है। अनुमान ऐसा होता है कि हाल इसके संग्राहक थे और सत्तसईका यह संग्रह ईसाकी दूसरी या तीसरी शतीके लगभग हुआ होगा। संभवतः हालने इन लोक-काव्योंको कुछ परिष्कृत रूप भी दिया हो, पर यह निश्चित है कि यह परम्परा लोककाव्योंकी ही रही होगी।

प्राकृतोंके इस द्वितीय विकास कालमें हमारे सामने एक समृद्ध धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा आती है, वह है पालि। पालिमें बौद्धोंका 'थेरवादी' साहित्य तथा हीनयान शाखाका साहित्य मिलता है। पालि कहाँकी विभाषा रही है, तथा इसका विकास कैसे हुआ, इस विषयमें विद्वानोंके दो मत थे, किन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि पालि मूलतः मध्यदेशकी प्राकृत [शौरसेनी] से विकसित हुई थी[3], यद्यपि इसमें कई मागधी तत्त्व भी

---

१ काव्यादर्श १।३४।

२. प्राकृतप्रकाश १२।३२।

३ Dr Chatterjea : Origin and Development of Bengali Language P. 57 Vol I [Intro.]

स० घोटक [काश्मीरी, गुड्], स० सड्ग [का० सड्क]।[1] हम देखते हैं कि पैशाची प्राकृतने उदीच्य प्राकृतको प्रभावित कर कई मिश्रित विभाषाओंको जन्म दिया था। यही कारण है, इस तरहके कुछ प्रभाव हम लहँदा तथा पंजाबीमें भी देखते हैं। सम्भवत व्राचड अपभ्रंश जिससे लहँदा और सिन्धी विकसित हुई पैशाचीसे प्रभावित मध्यदेशीय प्राकृतका विकसित रूप थी।

गाथा सप्तशतीके संग्रहकालमें ही प्राकृत साहित्यिक रूप ले चुकी थी। और प्राकृतके बोलचालवाले कालके समाप्त होनेके बहुत बाद तक यह साहित्यिक भाषा बनी रही। इसी कालमें कुछ प्राकृत कवियोंने प्राकृत भाषाकी मधुरताकी महत्ता घोषित की तथा संस्कृतसे अधिक प्राकृतकी प्रशंसा की।

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहं ण लज्जन्ति॥ [गा० स० २]

[जो लोग अमृतके समान मधुर प्राकृत काव्यको पढना और सुनना [समझना] नहीं जानते, वे लोग कामकी तत्त्वचिन्ताको करते हुए भी लज्जित क्यों नहीं होते ?]

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सुउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिय मिहंतरं तेत्तियमिमाणं॥ [कर्पूरमञ्जरी सट्टक]

[संस्कृतके काव्य परुष होते हैं, किन्तु प्राकृतके काव्य अत्यधिक कोमल होते हैं। इन दोनोंमें ठीक वही अन्तर है, जो पुरुषों व रमणियोंमें।]

अपभ्रंश काल—ईसाकी छठी शतीसे ईसाकी दसवीं शती तक, भारतीय आर्य भाषाओंका जो विकास पाया जाता है, उसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओंकी तीसरी स्थिति कह सकते हैं। संस्कृत तथा प्राकृत दोनोंसे भिन्न बतानेके लिए उसे 'अपभ्रंश' संज्ञा दी जाती है, जिसका अर्थ

---

१. The Linguistic conception of Kashmiri [Sir G. A. Grierson] [Indian Antiquity] Nov. -Dec. 1915

है "बिगडी हुई", अर्थात् यह "बिगडी हुई भाषा" थी। अपभ्रंश शब्दका सर्वप्रथम प्रयोग पातञ्जल महाभाष्यमें मिलता है :—"एकस्यैव हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा तद् यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः।"[1] [एक ही शब्दके बहुतसे अपभ्रंश रूप मिलते हैं, जैसे एक [शुद्ध] शब्द 'गौः' के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि बहुत अपभ्रंश रूप होते हैं।] पर यहाँ पतञ्जलि 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग किसी भाषा-विशेषके अर्थमें नहीं करते। उनके मतानुसार अपभ्रंश शब्द वे हैं, जो पाणिनीय व्याकरणके विरुद्ध तथा असंस्कृत हैं, किन्तु लोकमें प्रचलित हैं। पतञ्जलि वाला यही मत बादके संस्कृत वैयाकरणोंमें, यथा वाक्यपदीयकार भर्तृहरिमें भी देखा जा सकता है[2]। इसके बाद 'अपभ्रंश' शब्दका भाषाके अर्थमें प्रयोग दण्डीमें मिलता है। दण्डीके मतानुसार 'अपभ्रंश' भाषा [बोली] आभीर आदि जातियोंके द्वारा व्यवहृत होती थी [आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः —काव्यादर्श १।३६]। भरतके नाट्यशास्त्रमें 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु आभीर आदि जातियोंकी भाषाको भरतने माना है[3]। इस प्रकार अपभ्रंशके आभीरोंके साथ सम्बन्धवाले संकेतोंको हम नाट्यशास्त्रमें ही ढूँढ सकते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी कह दिया जाय कि भरतने हिमवत्, सिन्धु, सौवीर आदि देशोंके वासियोंकी भाषाकी प्रमुख विशेषता उकार-बहुलत्व बताई है[4], जो अपभ्रंशमें पाई जाती है। इस प्रकार अपभ्रंश

---

१. महाभाष्यः [पस्पशाह्निक]

२. शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥
—वा० प० प्रथमकाण्ड का० १४८

३ नाट्यशास्त्र १७।४४ [पृ० २१८]।

४. हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्॥
वही १८।४६ [पृ० २१८]

तरहके उच्चारणको व्यक्त करते हैं। यहाँ प्रथम उच्चारण शून्य-श्रुति [zero-glide] वाला या साधारण उच्चारण है, द्वितीय य-श्रुतिवाला है, तृतीय व-श्रुतिवाला।

शून्य-श्रुति	य-श्रुति	व-श्रुति
खाए [kha·e]	खाये [kha^{y}e]	खावे [kha^{w}e]
पीए [pi·e]	पीये [pi·^{y}e]	पीवे [pi·^{w}e]
जाए [ja e]	जाये [ja^{y}e]	जावे [ja^{w}e]
कुई [kui]	कुयी [ku^{y}i][1]	कुवी [ku^{w}i][1]
सुई [sui]	सुयी [su^{y}i]	सुवी [su^{w}i][1]

इस परिच्छेदमें हम केवल उन्हीं परवर्ती विशेषताओंका संकेत कर रहे हैं, जो विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है, संस्कृत व्यञ्जनध्वनियोंके विकासको हम बड़े संक्षेपमें लेंगे। इसके पहले कि हम व्यञ्जनोंके विकासपर दो शब्द कहें भा० भा० आ० 'अनुनासिकीकरण' पर कुछ कह देना जरूरी होगा। स्वरोंके नासिक्य रूपको ऐतिहासिक दृष्टिसे दो तरहका माना गया है, १. पराश्रय या सकारण अनुनासिकता, तथा २ निराश्रय या अकारण अनुनासिकता। जहाँ किसी प्रत्यक्ष कारणसे स्वरकी अनुनासिकता पाई जाती है, उसे प्रथम कोटिमें माना जाता है, जैसे राम, हनुमान्त, जाम्बवत के राँम, हनुमाँता, जाँमवंत इन रूपोंमें। दूसरे ढंगकी सानुनासिकता वह है जहाँ प्रत्यक्ष रूपमें कोई अनुनासिक ध्वनि उस पदमें नहीं है, जिसका प्रभाव अनुनासिकीकरणके रूपमें हो। जहाँ अनुनासिकीकरणका कोई कारण विद्यमान न हो, ऐसे निराश्रय अनुनासिकीकरणको ब्लॉख तथा

---

१. कुआँ शब्दके स्त्रीलिंग रूपका उच्चारण य तथा व श्रुतिवाला भी सुना जाता है। ठीक यही बात सुईके विषयमें है, पर इसका व वाला उच्चारण बहुत कम सुना जाता है—राजस्थानीकी पूरबी बोलीमें ये व-श्रुतिवाले रूप यत्र तत्र सुने जा सकते हैं।

टर्नर "स्पोन्टेनियस नेज़ेलाइज़ेशन" कहते हैं।[1] इसके उदाहरण कंकर, आँख, साँप आदि दिये जा सकते हैं, जहाँ संस्कृत रूपोंमें या इनके प्राकृत रूपोंमें भी अनुनासिक तत्त्व नहीं है :—कर्कर [कक्कर], अक्षि [अक्खि], सर्प [सप्प]। अनुनासिकीकरणका विशेष विवेचन डॉ० सिद्धेश्वर वर्माके निबन्ध 'नेज़ेलाइज़ेशन इन हिंदी लिटररी वर्क्स' में देखा जा सकता है, जो कलकत्ता विश्वविद्यालयके डिपार्टमेंट आव् लेटर्स के १९२९ वाले जर्नलमें प्रकाशित हुआ है। मैंने इस विषयपर विस्तारसे अपने अन्य निबंध "भारतीय आर्य भाषाएँ तथा अनुनासिक ध्वनियाँ" में विचार किया है, अतः वहाँ द्रष्टव्य है। यह निबंध शोधपत्रिका [२००९] में प्रकाशित हुआ है। यहाँ संकेत मात्र दिया गया है।

संस्कृत व्यञ्जन ध्वनियोंका परवर्ती विकास :—

१. प्राकृतकालीन विकास :—[१] संस्कृत न, य, श के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत कालमें शब्दोंके आदिमें अपरिवर्तित रही हैं। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते हैं। जधा, णअरं, सेज्जा [यथा, नगरं, शैय्या]

[२] संस्कृतके पदादि क, प कभी-कभी ख, फ हो जाते हैं, खुज्ज [कुब्ज], फणस [पनस] [हि० फालसा]

[३] संस्कृत श, ष, स तीनों शौरसेनी-महाराष्ट्रीमें स तथा मागधीमें श के रूपमें विकसित हुए हैं। सेसो [शेषः]; मागधी, शूपेण [सूपेन]।

[४] पदमध्यवर्ती संस्कृत क, ग, ज, च, त, द, प, य, व का प्राकृतमें

---

१. Bloch : La formation de la langue Marath § 70
साथ ही Prof. Turner : Gujerati Phonology [RAS]. 1916].

प्रायः लोप हो जाता है।[1] लोग्र [लोक], सग्रल [सकल], ग्रणुराग्र [ग्रनुराग], जुग्रल [युगल], णग्रर [नगर], पउर [प्रचुर], भोग्रण [भोजन], रसाग्रल [रसातल], हिग्रग्र [हृदय], रूग्र [रूप], दिग्रह [दिवस]।

[५] पदमध्यवर्ती ख, घ, थ, ध, फ, भ प्राकृतमें प्रायः ह के रूपमें विकसित हुए हैं।[2] मुह [मुख], सही [सखी], मेह [मेघ], लहुग्र [लघुक], रुहिर [रुधिर], वहू [वधू], सहर [शफर], ग्रहिणव [ग्रभिनव], णह [नभ, नख]।

[६] कहीं-कहीं स्वरमध्यगत व्यञ्जनका द्वित्व भी हो जाता है, उज्ज [ऋजु], एक्क [एक]।

[७] स्वरमध्यगत ट, ठ क्रमशः ड, ढ हो जाते हैं,[3] पड [पट], कुडिल [कुटिल], कुडुम्ब [कुटुम्ब], वड [वट], पढण [पठन]।

---

१. कगचजतदपयवां प्रायो लोपः—प्राकृतप्रकाश २।२ [साथ ही प्रायः कगजतदपयवां लोप.—प्राकृतसर्वस्व २।२ इस संबंधमें इतना संकेत कर दिया जाय कि संस्कृत ग्रघोष-सघोष ग्रल्पप्राण क, ग, च, ज, त, द लुप्त होनेके पूर्व एक और विकास स्थितिसे गुजरे होंगे। संभवतः इनमेंसे ग्रघोष ग्रल्पप्राण पहले सघोष ग्रल्पप्राण हुए होंगे, बादमें सभी सघोष ग्रल्पप्राण 'ग, ज, द' सोष्म 'ग़, ज़, द़ होकर तब लुप्त हुए होंगे।' इस प्रकार इनका विकास क्रम यों रहा होगा।

लोक > लोग > लोग़ [loɣa] > लोग्र,

ग्रनुराग > ग्रणुराग [anuraɣa] > ग्रणुराग्र

प्रचुर > पजुर > पज़ुर [pazura] ∠ पउर

रसातल > रसादल > रसाद़ल [rasaðala] ∠ रसाग्रल

[दे० डॉ० चाटुर्ज्या : भारतीय ग्रार्यभाषा ग्रौर हिन्दी पृ० ६१]

२. खघथधभां हः—प्रा० प्र० २।२७

३. टो डः। [२।२०] ठो ढः [२।२४]—प्राकृत प्रकाश।

[८] स्वरमध्यगत प यदि लुप्त नहीं होता, तो वह व के रूपमें विकसित होता है।[1] रूव [रूप], दीव [दीप], उवरि [उपरि], उवअरण [उपकरण], अवर [अपर] [हि० और]।

[९] संयुक्त व्यंजन ध्वनियोंके परवर्ती विकासकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं —

[क] क, ग, ड, त, द, प, ब, य, स संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि होनेपर परवर्ती ध्वनिके समान हो जाते हैं, अर्थात् प्रथम ध्वनिमें समीकरण हो जाता है। जुत्त [युक्त], मुद्ध [मुग्ध], खग्गो [खड्ग] उक्कण्ठा [उत्कण्ठा], उप्पल [उत्पल], मुग्गो [मुद्‌ग], सुत्तो [सुप्त] सद्दो [शब्द], खुज्जो [कुब्ज] छट्‌ठो [षष्ठ],

[ख] ल, व, र संयुक्त ध्वनिमें होनेपर सदा [लुप्त होकर] समीकृत हो जाते हैं —वक्कल, [वल्कल], सुक्को [शुक्ल], बेल्ल [विल्व] सक्को [शक्र], अक्को [अर्क]।

[ग] ष्क स्क, ष्ठ, ष्प [स्प], स्त [स्थ], स्प [स्फ] क्रमश प्राकृतमें क्ख, ट्ठ, प्फ, त्थ, प्फ के रूपमें विकसित हुए हैं —

पोक्खर [पुष्कर], मुक्ख [मुष्क], दिट्‌ठि [दृष्टि], सुट्‌ठु [सुष्ठु], पुप्फ [पुष्प], निप्फल [निष्फल], हत्थ [हस्त], अवत्था [अवस्था], फलिह [स्फटिक], फुसइ [स्पृशति]।

[घ] क्ष, द्य, ह्म, क्रमश क्ख, ज्ज, म्ह होते हैं —अक्खि [अक्षि], वेज्जो [वैद्य], विज्जा [विद्या] बम्हणो [ब्राह्मण]।

[१०] शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्राय ध्वनिपरिवर्तनकी दृष्टिसे

---

१. पो व —प्रा० प्रकाश २।१५।

समानता ही है।[1] मागधी प्राकृतमें कुछ निजी विशेषताएँ हैं; उनका संकेत यहाँ किया जाता है।

[क] मागधीमें श, ष, स तीनोंके स्थानोंपर श का विकास हुआ है।—शमल [समर], शुश्क [शुष्क], पुलिशे [पुरुषः]।

[ख] मागधीमें र, स दोनोंका विकास ल के रूपमें पाया जाता है। लाजा [राजा], शमल [समर], पुलिशे [पुरुषः]।

[ग] शौरसेनीकी तरह यहाँ भी स्वरमध्यगत द पाया जाता है—भविश्शदि [भविष्यति]।

प्राकृत-पद-रचना

प्राकृतमें संस्कृतकी पदरचना सरलताकी ओर बढ़ी। यह सारल्यप्रवृत्ति शब्दों तथा धातुओं दोनोंके रूपोंमें दिखाई पड़ती है। संस्कृतके तीन वचन प्राकृतमें आकर केवल दो ही रह गये हैं। प्राकृतमें केवल एकवचन तथा बहुवचन ही है, द्विवचनका अभाव है। प्राकृतकी इसी परम्पराका निर्वाह अपभ्रंश तथा आ० भारतीय आर्य भाषाओंमें पाया जाता है।

प्राकृतके प्रातिपदिक अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, आकारान्त, ईकारान्त, ऊकारान्त [स्त्रीलिंग] अधिक है। संस्कृतके हलन्त प्रातिपदिक यहाँ आकर प्रायः अदन्त हो गये है। यही हाल संस्कृतके ऋकारान्त शब्दोंका हुआ है। भत्तार [सं० भर्तृ] माआ [सं० मातृ] संस्कृत हलन्त

---

१. शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीमें प्रमुख भेद यह है कि शौरसेनीमें स्वरमध्यगत द लुप्त नहीं होता, आगदो [महा० आगओ, सं० आगत.]। इसी तरह शौरसेनीमें स्वरमध्यगत ध [सं० थ] सुरक्षित रहता है, वह ह नहीं होता। जैसे अध [महा० अह सं० अथ], कधम्. [महा० कहम्, सं० कथम्], णाध [महा० णाह, सं० नाथ]।

शब्दोंका विकास अदन्तोंमें हो गया है :—राआ [राजन्], अप्पा, अत्ता, [आत्मन्], बह्मा [ब्रह्मन्]।

प्राकृत कालमें आकर संस्कृत लिंग सुरक्षित रहे हैं। पुंल्लिग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग तीनों प्रकारके रूप वहाँ पाये जाते हैं। किन्तु नपुंसकलिंगके रूपोंको देखनेपर पता चलता है कि संस्कृतमें ही इनके रूपोंकी बहुत कमी है। प्रथमा-द्वितीया विभक्तिवाले रूपोंको छोड़कर बाकी विभक्तियोंमें ये पुंल्लिग रूपोंमें ही समाहित रहे हैं। प्राकृतने इन नपुंसक शब्दोंके प्रथमा द्वितीया [कर्ता-कर्म] के एकवचन तथा बहुवचनके रूपोंको सुरक्षित रक्खा है :—वणं, कुसुमं [कर्ता-कर्म एकवचन रूप], वणाइं, वणाइ, वणाणि, कुसुमाइं, कुसुमाइ, कुसुमाणि [कर्ता-कर्म बहुवचन रूप], सिवाय इन दो रूपोंके अन्य सभी रूप पुंल्लिग जैसे पाये जाते हैं। यही कारण है कि अपभ्रंशमें आकर ये नपुंसकलिंग रूप भी लुप्त हो गये हैं। इनमेंसे अधिकतर पुंल्लिग रूप बन गये हैं।

प्राकृत कालमें आकर विभक्तियोंकी भी सरलता पाई जाती है। संस्कृतमें आठ विभक्तियाँ पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ चतुर्थीका लोप हो गया है, वह षष्ठीमें सम्मिलित हो गई है। इस प्रकार प्राकृतमें प्रथमा [कर्ता], द्वितीया [कर्म], तृतीया [करण], चतुर्थी-षष्ठी [सम्प्रदान-सम्बन्ध], पञ्चमी [अपादान], सप्तमी [अधिकरण] तथा सम्बोधन ये सात ही विभक्तियाँ पाई जाती हैं। यही नहीं रूपों तथा सुप् विभक्तियोंमें भी बड़ी सरलता हो गई है, तथा सभी पुंल्लिग शब्दोंके रूप प्रायः अकारान्त शब्दोंके रूपोंसे प्रभावित हुए हैं। अकारान्त तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंके षष्ठी ए० व० रूपोंमें जो भेद था, वह लुप्त हो गया, तथा इकारान्त-उकारान्त शब्दोंमें ये रूप भी सम्मिलित हो गये—वच्छस्स [वत्सस्य], अग्गिस्स [अग्ने], अग्गिणो [अग्नेः], वाउस्स [वायोः], वाउणो [वायोः]। इसी तरह अकारान्त पुंल्लिग शब्दोंके तृतीया ए० व० के रूप अन्य शब्दोंकी भाँति हो गये —वच्छेहिं-वच्छेहि [वत्सैः], अग्गीहिं-अग्गीहि [अग्निभिः], वाऊहिं वाऊहि [वायुभिः]।

इसी प्रकार हलन्त शब्दोंके अपभ्रंश प्राकृत शब्दोंके रूप भी अकारान्त पुल्लिंग शब्दके रूपोंसे प्रभावित हुए। करेन्तो [कुर्वन्], पुलोअन्तो [प्रलोकयन्]।

स्त्रीलिंग आ, ई, ऊ अन्तवाले शब्दोंमें रूपोंकी समानता पाई जाती है। प्रथमा [कर्ता] बहुवचनमें सभोंमें तीन तरहके रूप पाये जाते हैं, [१] शून्य अविकारी रूप, [२] ओ-विभक्ति चिह्नवाला रूप; [३] उ विभक्ति चिह्नवाला रूप, यथा माला, मालाओ, मालाउ, नई, नईओ, नईउ, बहू, बहूओ, बहूउ; माआ, माआओ, माआउ, [संस्कृत माला, नद्यः, बध्व, मातरः]। स्त्रीलिंग शब्दोंके सुप् विभक्ति चिह्न दो-तीन रूपोंको छोड़कर प्राय वे ही हैं, जो पुल्लिंग रूपोंके प्रथमा-द्वितीया बहुवचनके रूपों [जिनका उदाहरण अभी-अभी दिया गया है] के अतिरिक्त षष्ठी [सम्बन्ध-सम्प्रदान] ए० व० के रूप भी स्त्रीलिंग शब्दोंमें भिन्न है। सबध कारक ए० व० में स्त्रीलिंग रूपोंके चिह्न इ, ए, उ, अ, आ कई देखे जा सकते है,—बहूइ, बहूए, बहूउ, बहूअ, बहूआ [स० बध्वा]। स्त्रीलिंग शब्दोंके तृतीया [करण] ए० व०, तथा सप्तमी [अधिकरण] ए० व० के रूप भी प्राय ये ही होते हैं। यही कारण है कि स्त्रीलिंग रूपोंमें करण, सम्प्रदान, सम्बन्ध तथा अधिकरण चारोंके एकवचन एक ही हैं। द्वितीया [कर्म] ए० व० के रूपोंमें प्रातिपदिककी अन्तिम स्वरध्वनिको ह्रस्व बनाकर 'म' विभक्तिचिह्न प्रयुक्त होता है —मालं [स० मालां], नइं [स० नदीं], बहुं [स० वधूं]।

संस्कृतके सर्वनाम रूपोंमें अस्मत् युष्मत् शब्दोंके रूपोंमें कई तरहके परवर्ती विकास देखे जाते हैं। अहंका विकास हं, अहं, अहअ, तथा त्वं का विकास तं, तुम, तु इन वैकल्पिक रूपोंमें देखा जाता है। कर्ता बहुवचन में क्रमशः अम्हे [और० वअ], तुज्झे–तुम्हे रूप पाये जाते हैं। अन्य कारकोंके ए० व० तथा बहुव० में इन दोनों शब्दोंमें अनेक वैकल्पिक रूप पाये जाते हैं। इनमें कई तो संस्कृतका प्रभाव हैं, कई अकारान्त पुल्लिंग

शब्दोंका प्रभाव है, यथा—मइ, मए, ममम्मि, ममंसि [सं० मयि], मत्तो, मइत्तो, ममादो, ममादु, ममाहि, [सं० मत्]। इसी तरह युष्मत् शब्दके रूपोंका भी वैकल्पिक विकास देखा जा सकता है।

संज्ञा तथा सर्वनाम रूपोंकी अपेक्षा प्राकृत क्रियारूपोंमें अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। जिस प्रकार प्रातिपदिक रूपोंके अन्तमें एकरूपता लानेकी प्रवृत्ति पाई जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। संस्कृत धातुओंमें अन्तमें व्यञ्जन ध्वनियाँ भी पाई जाती है। प्राकृतमें आकर ये सभी धातु स्वरान्त हो गये हैं। "इस प्रकार संस्कृतके दस गणोंका भेद यहाँ आकर लुप्त होने लगा है, और अपभ्रंशमें आकर तो केवल एक ही गण रह गया है। बादमें प्राय सभी धातु रूप भ्वादिगणी बन गये है। शब्दरूपोंके साथ-ही-साथ धातुरूपोंमें भी द्विवचन लुप्त हो गया है। आत्मनेपदी रूपोंका प्राय अभाव हो गया है। इसी प्रकार लिट् तथा लङ् भी धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं, तथा उनके लिए प्राय कृदन्त रूपोंका प्रयोग होने लगा है। इस प्रकार मोटे तौरपर प्राकृतमें लट् [वर्तमान काल], लोट् [आज्ञात्मक], लृट् [भविष्यत्] रूपा तथा यत्र-कदा लिङ् [विधिरूप] का अस्तित्व पाया जाता है। इसके साथ ही प्राकृतमें कर्मवाच्य भी रूप देखे जा सकते है, जिनका विकास संस्कृतमें 'य' वाले रूपोंसे माना जा सकता है। ये कर्मवाच्य रूप भी प्राकृतमें आकर प्राय. परस्मैपदी हो गये है —दिज्जइ-दिज्जहि [सं० दीयते], गमीअदि [शौ०] गच्छीअदि [शौ०], [सं० गम्यते] प्राकृत धातुरूपोंमें संस्कृत णिजन्त रूपोंके –अय–का विकास –ए–रूपमें देखा जाता है, हासेइ [हासयति] णिव्वावेदि [निर्वापयति]।

प्राकृत वर्तमान काल तथा भविष्यत् कालके तिङ् चिह्न एकसे ही है। ठीक यही बात संस्कृतमें पाई जाती है। वैसे भविष्यत्के रूप उसीके स्य विकरणवाले रूप है। यह स्य प्राकृतमें आकर स्स हो गया है। वर्तमानके पढति-पढइ, पढसि, पढामि, पढन्ति, पढथ, पढामो तथा

भविष्यत्के पढिस्सदि-पढिस्सइ, पढिस्संति, पढिस्सामि, पढिस्सन्ति, पढिस्सध, पढिस्सामो रूप बनते हैं। लोट्में पढदु, पढ, [पढाबु], पढन्तु, पढध, पढम्ह रूप पाये जाते हैं।

संस्कृतके शतृ प्रत्ययान्त रूप प्राकृतमें आकर '–न्तो–' वाले रूप बन गये हैं:—पुच्छन्तो, पढन्ता। इसी तरह संस्कृतके शानच् वाले रूप प्राकृतमें पुच्छमाणो, पुच्छिस्समाणो [स्यमान] हो गये हैं। संस्कृतके तुमुन्का विकास उं [दुं] के रूपमें पाया जाता है। कहिउं-कहिदुं [कथयितुं]। संस्कृत त्वाका विकास प्राकृतमें नहीं पाया जाता। यहाँ अनुपसर्ग तथा सोपसर्ग दोनोंमें शौरसेनीमें अ तथा महाराष्ट्रीमें ऊण प्रत्यय पाया जाता है। शौरसेनी अ संस्कृत 'य' [ल्यप्] का ही विकास है। संस्कृत पृष्ट्वा, गृहीत्वा के प्राकृत रूप पुच्छिअ-पुच्छिऊण [महाराष्ट्री]; घेत्तूण होते हैं।

भूतकालके लिए प्राकृतमें कृदन्त रूपोंसे भी काम लिया जाता है। प्राकृतप्रकाशके सप्तम परिच्छेदमें प्राकृत धातुके भूतकालिक आदेशोंका संकेत मिलता है :—

१. ईअ भूते॥ [भूतकालमें धातुमें तिङ् प्रत्ययको ईअ आदेश होता है]।

२. एकाचो हीअ॥ [एक स्वर धातुमें भूतकालके तिङ् प्रत्ययको हीअ आदेश होता है]।

३. अस्तेरासिः॥[1] [अस् धातुका भूतकालिक रूप आसि होता है।] स्पष्ट रूपसे देखनेपर पता चलता है कि ये वस्तुतः क्त प्रत्ययान्त रूपोंके ही विकास हैं। हुवीअ [अभवत्], हसीअ [अहसत्], होहीअ [अभूत्] को वस्तुतः भूत., हसितः, भूतः का ही विकास माना जा सकता है। इसी तरह आसि को भी अस्तः [*असित.] का विकसित रूप माना जा सकता है पर इसे आसीत् से भी विकसित समझा जा सकता है—आसीत्-आसी [आसि]।

---

१. प्राकृतप्रकाश ७।२३; ७।२४; ७।२५।

अपभ्रंश कालकी प्रमुख विशेषताएँ—

अपभ्रंश कालमें स्वरध्वनियाँ प्रायः अविकृत रही हैं। यदि उनमें विकार हुआ है, तो वह प्रातिपदिकोंके अन्तमें स्थित स्वरोंमें पाया जाता है, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। यही कारण है, हेमचन्द्रने यह कहा है कि स्वरोंके स्थानपर प्राकृतमें प्रायः स्वर ही पाये जाते हैं।[1] स्वरध्वनियोंमें अपभ्रंशमें भी प्राकृतकी भाँति ही संस्कृत ऋ, ऐ, औ ध्वनियोंका सर्वथा अभाव है। तथा ये क्रमशः अ-इ-उ, ए, ओ के रूपमें विकसित हो गये हैं। वैसे वैयाकरणोंने अपभ्रंशमें ऋ ध्वनिका अस्तित्व माना है। प्राकृतवाले ह्रस्व एँ, ओँ का विकास अपभ्रंशमें भी पाया जाता है। व्यंजन ध्वनियोंमें अपभ्रंशमें संस्कृतकी ङ, ञ, श, ष ध्वनिके अतिरिक्त अन्य सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। इस भाषाके ध्वनिगत विकासकी खास विशेषता स्वरमध्यग सं० म का वँ वाला विकास है:—कवँल [कमल], गवँण [गमन]। वँ का विकास हम अपभ्रंशसे परवर्ती रूपोंमें प्राचीन हिन्दीमें भी देख सकते हैं, राजस्थानीमें यह वँ ध्वनि अभी भी पाई जाती है।

अपभ्रंश तक आकर प्रातिपदिकोंका लिंगविधान और सरल हो गया। यहाँ पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग रूपोंका बाहुल्य है, नपुंसकलिंग रूपोंका प्रायः लोप हो गया। इसी तरह स्त्रीलिंग रूपोंके पदान्त आ के ह्रस्व अ होनेसे वे रूपोंकी दृष्टिसे वे पुंल्लिंग अकारात शब्दोंका अनुकरण करने लगे। अपभ्रंशमें आकर सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गये। इस प्रवृत्तिका आधिक्य प्राकृतकालमें ही हो चला था, जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं, अपभ्रंशमें आकर प्रातिपदिकोंके पदान्त आ, ए, ओ क्रमशः अ, इ, उ हो गये। माअ [प्राकृत माआ, संस्कृत माता], कण्हु [प्राकृत कण्हो, संस्कृत कृष्णः]। अपभ्रंशमें कर्ता कर्म ए० व० में उ प्रयुक्त होता है जो अपभ्रंश-की खास विशेषता बन बैठा। इसीलिए अपभ्रंश 'उकार-बहुला भाषा' कहलाने

---

१. स्वराणां स्वराः प्रायोपभ्रंशे। ८।४।३२९ [हैम व्याकरण]।

लगी। कर्ता-कर्म कारक ए० व० में इस प्रकारके रूपोंका संकेत हेमचन्द्रने भी किया है—दहमुहु, सकरु, चउमुहु, छमुहु [दशमुख, शंकर[1], चतुर्मुख., षण्मुख.]।

अपभ्रंश तक आते-आते संस्कृतकी सुप् विभक्तियाँ परसर्गोंका रूप लेने लगी और अपभ्रंशमें कई विभक्ति रूप समाप्त हो गये। संबंध कारकके लिए केरक, केर, केरा, करण कारकके लिए सो, सजो, सहुँ, सम्प्रदानके लिए केहि, तथा अधिकरणके लिए मांझ, उप्परि जैसे परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। अन्य विभक्तियोंमें पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंगके रूपोंमें भी समानता सी हो चली। कर्ता कर्म एकवचन, कर्ता-कर्म बहुवचनमें दोनों जगह कहीं-कहीं उ विभक्ति चिह्न प्रयुक्त होने लगा, तथा कभी-कभी कर्ता कारक ए० व० में केवल प्रातिपदिक रूप [शून्य विभक्तिवाले रूप] का प्रयोग होने लगा, जो हिन्दी आदि आ० भा० आ० भाषाओंके अविकारी [direct] रूपोंके रूपमें विकसित हुआ। अन्य कारकोंमें एण, एँ, [करण], हे, हे [अपादान] हे, हो, सु, स्स [संबंध], हि [अधिकरण] सुप् चिह्न एकवचन रूपोंमें तथा हं [सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण], हो [संबोधन] बहुवचन रूपोंमें पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश तक आते-आते बहुवचनके रूप बहुत सरल हो गये।

संस्कृतके तिङन्त रूप जिनका थोडा-बहुत शेष प्राकृतकालमें बच गया था, अपभ्रंश कालमें और लुप्त हो गया। तिङन्तोंके भाव बोधनके लिए अपभ्रंशमें कृदन्त-प्रत्यय प्रयुक्त होने लगे। वर्तमान तथा भविष्यत्‌के तिङन्त शुद्ध रूपोंको थोडा-बहुत सुरक्षित रक्खा बाकीमें कृदन्तोंसे काम लिया जाने लगा। संस्कृत धातुओंमेंसे कईके लिए नये आदेश हो गये, यथा, बोल्ल [√वद्], मुक्क-मुग्ग [√मुच्], चय [√शक्]।

अपभ्रंशमें परस्मैपद ही पाया जाता है। हम प्राकृतमें ही आत्मनेपदका अभाव देखा चुके हैं। उत्तम पुरुष एकवचन तथा बहुवचनमें

१. हैमव्याकरण ८।४।३३१।

अपभ्रंशमें 'उं' तथा 'हुं' तिङ् विभक्ति पाई जाती है[1] :—'हउं भणउं' [अहं भणामि], अम्हे भणहुं [वयं भणामः]। अन्यरूपोंमें प्रायः वे ही तिङ् चिह्न पाये जाते हैं जो प्राकृतमें हैं—सि-हि [मध्यम पुरुष], इ, अंति, अइं [अन्य पुरुष]। भविष्यत् कालके रूप वर्तमान कालके तिङ् चिह्नोंवाले ही होते हैं :—जाहि [यास्यसि], फलहि [फलिष्यन्ति], कुर्णहि [करिष्यन्ति], होसि [भविष्यसि]। भूतकालके रूपोंमें केवल आसी[आसीत्] को छोडकर प्रायः सभी भूतकालिक रूप कृदन्तोंसे विकसित हैं[2]।

जैसा कि हम देख चुके हैं प्राकृत कालमें संस्कृतके विभक्तिरूप किसी सीमा तक सुरक्षित रहे। यही कारण है कि प्राकृतकालमें वाक्यरचनाके सम्बन्धमें संस्कृतकी परिपाटीका प्रयोग पाया जाता है। अपभ्रंश कालमें आकर शब्दोंके विभक्तिज रूप बहुत कम काममें आने लगे तथा संबन्ध-बोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग किया जाने लगा। फलतः वाक्यमें कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके लिए एक निश्चित स्थान रह गया। हिंदी आदि आ० भा० आ० भाषाओंकी निश्चित वाक्यरचनाके विकासके चिह्न हम अपभ्रंश कालमें ही देख सकते हैं।

आ० भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ

संस्कृतकी स्वर तथा व्यंजन ध्वनियोंका परवर्ती विकास हम देख चुके हैं। प्रायः वे ही ध्वनियाँ परवर्ती भाषाओंमें विकसित पाई जाती हैं। फिर भी कुछ विशेषताएँ पाई जाती हैं। स्वरोंके उच्चारणमें बंगालीमें अ का उच्चारण लुंठित निम्न-मध्य-पश्च प्रकृतिका पाया जाता है। अन्य भाषाओंमें इनका उच्चारण प्रायः उदासीन स्वर [ə] सा पाया जाता है। इसके भी अग्र तथा पश्च दो रूप पाये जाते हैं। हिन्दीके द्व्यक्षर या अधिक

---

१. मार्कण्डेय : प्राकृत सर्वस्व १७।२७[पृष्ठ ११८]

२. डॉ० हीरालाल जैन : सावयधम्म दोहा [भूमिका], पृष्ठ ३६।

अक्षरवाले [monosylqlblic] शब्दोंमें इस स्वरका अग्ररूप प्राय एक ही [अधिकतर पहले अक्षरमें ही] अक्षरमें पाया जाता है, अन्य अक्षरमें उसका पश्च रूप ही पाया जाता है। उदाहरणके लिए **कमर, कसर, करवट, करम** में प्रथम उदासीन स्वरका उच्चारण अग्र प्रकृतिका [ə] है, जब कि बादके अक्षरवाले स्वरका उच्चारण पश्च प्रकृति [ʌ] का है। त्र्यक्षर शब्द करवटका उच्चारण द्व्यक्षर रूपमें कर्वट् भी होता है। प्रथम उच्चारण करनेपर र तथा व दोनोंका परवर्ती स्वर पश्च प्रकृतिका [ʌ] ही है। यही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि जहाँ संस्कृतमें अन्तमें 'अ' ध्वनि पाई जाती है, वहाँ हिन्दीमें उसका उच्चारण नहीं होता। **राम, ग्राम, काम** का हिन्दीमें राम्, ग्राम्, काम् रूप देखा जाता है। वैसे जिन भाषा-ओंमें पदान्तमें ल, ड, ण ध्वनि पाई जाती है, वहाँ उसके बाद 'अ' श्रुति [e-glide] का उच्चारण पाया जाता है। राजस्थानीमें इस श्रुतिका प्रयोग **काल, हाड, काण** जैसे शब्दोंके उच्चारणमें होता है। पश्चिमी हिन्दी तथा राजस्थानीमें ध्वन्यात्मक समानताएँ अधिकतर पाई जाती हैं। व्यञ्जन ध्वनियोंमें पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी तथा मागधी वर्ग [उड़ियाको छोड़-कर] में केवल दो ही अनुनासिक ध्वनियाँ [न, म] पाई जाती हैं, जब कि राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, मराठी, पहाड़ी तथा उड़ियामें ण ध्वनि भी पाई जाती है। राजस्थानी, गुजराती, मराठीकी भाँति उड़ियामें ल [उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित ल] का स्वरमध्यगत रूप भी पाया जाता है[1]। पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजरातीमें, तथा पूर्वी हिन्दी [मैथिलीमें भी] 'ड' का स्वर मध्यगत 'ड़' रूप भी पाया जाता है। चवर्ग ध्वनियोंका उच्चारण सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें सोष्म स्पर्श या घर्ष स्पर्शके रूपमें होता है। इनका उच्चारण कुछ त्श्, द्श्, त्श्ह्, द्श्ह् जैसा होता है। मराठीमें इनका उच्चारण इस तरहका वर्त्स्य घर्ष [alveolar affricate] न होकर दन्त्य घर्ष [dental affricate] त्स्, द्ज़्, जैसा होता है। मराठीका

१. क्या उड़ियापर यह मराठीका प्रभाव तो नहीं।

यह प्रभाव राजस्थानकी डूंगरपुर, बाँसवाडा, प्रतापगढ़की मालवीमें तथा मेवाड़ीकी कुछ बोलियोंमें देखा जाता है। भीलीमें भी च, छ का उच्चारण दन्त्य घर्ष ही होता है।

प्राकृत तथा अपभ्रंशके द्वित्ववाले रूपोंमें आ० भा० आ० भाषाओंमें पूर्ववर्ती स्वरको दीर्घ बनाकर अक्षर-भारकी रक्षा की जाती है। सं० **कर्म, मद्य, मष्ट** के हिंदी रूप काम [∠ कम्म], माज [∠ मज्ज], माठ [∠ मट्ठ] पाये जाते हैं। पंजाबीमें इनके रूप **कम्म, मज्ज, मट्ठ** ही पाये जाते हैं। इसी तरह सं० बुभुक्षा का हिंदी रूप भूख [∠ बुभुक्खा—भुक्खा—भुक्ख] होता है, जब कि पंजाबीमें यह भुंक्ख [भुक्ख] मिलता है। हम बता चुके हैं कि सिंधी, लहँदा तथा पंजाबीपर पैशाचीका कुछ-कुछ प्रभाव पाया जाता है। काश्मीरीमें संस्कृतकी सघोष महाप्राण ध्वनियोंका सघोष अल्पप्राणरूप देखा जाता है। पंजाबीके लिए अब तक विद्वानोंका यह मत है कि सं० हिं० घ, झ, ढ, ध, भ ध्वनियाँ वहाँ क, च, ट, त, प हो जाती हैं, यथा **घोड़ा, झूठ, भाइ, भरम** वहाँ को'ड़ा, चूं'ठ, पा'ई, प'रम हो जाते हैं। पर कुछ नवीन पाश्चात्य विद्वानों[1] का यह मत है कि असलमें संस्कृत या हिन्दी सघोष महाप्राण ध्वनियाँ पंजाबीमें शुद्ध अघोष अल्पप्राण नहीं होतीं। वस्तुतः वे सघोष अल्पप्राण ही होती हैं, तथा महाप्राण रूपोंके कारण उनका **अघोषीभूत** [devoiced] रूप देखा जा सकता है। यही कारण है, वे ऊपरकी क, च, प ध्वनियोंको ग, ज, ब का ही अघोषीभूत रूप मानते हैं, तथा ग़, ज़, ब़ [g̥, j̥, b̥] लिखना ज्यादा ठीक समझते हैं।

संस्कृतमें जहाँ संयुक्त ध्वनियोंमें प्रथम ध्वनि नासिक्य व्यञ्जन तथा द्वितीय केवल व्यञ्जन होती है, वहाँ सिंधी-पंजाबीको छोड़कर सभी आ० भा० आ० भाषाओंमें नासिक्य व्यंजन ध्वनि लुप्त हो जाती है, तथा पूर्ववर्ती

---

1. लन्दन विश्वविद्यालयके स्कूल ऑव् ओरियन्टल स्टडीजमें भाषा-विज्ञानके प्राध्यापक डॉ० डब्ल्यु० एस० एलनका यही मत है।

स्वरध्वनि दीर्घ सानुनासिक बना दी जाती है:—दन्त [हि० दांत], कण्टक [हि० कांटा], √कम्प् [हि० कांपना]। सिंधी-पंजाबीमें इनके दन्द, कंडो, कम्ब रूप मिलते हैं।

आ० भा० आ० भाषाओंमें ध्वनियोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन पदरचनामें हुआ। हम देख चुके हैं कि प्राकृतसे भी अधिक पदरचनात्मक सरलता अपभ्रंशमें पाई जाती है। अपभ्रंशकी इसी विशेषताको आ० भा० आ० भाषाओंने ग्रहण किया है। आ० भा० आ० भाषाओंमें नपुंसक लिंग सर्वथा लुप्त हो गया। यदि कहीं इसके कुछ चिह्न मिलते हैं, तो गुजराती व मराठीमें। गुजरातीमें इसका चिह्न उँ है, यथा घरुँ, खादुं में नपुंसक रूप ही है। नपुंसकलिंगके सर्वथा लुप्त होनेसे कई नपुंसक शब्द जो एक भाषामें पुल्लिंग बने हैं, दूसरी भाषामें स्त्रीलिंग बन गये। पुस्तक शब्द बँगलामें पुल्लिंग है, तो पश्चिमी हिंदीमें स्त्रीलिंग। किंतु *पुल्लिंग-स्त्रीलिंगमें भी संस्कृतवाला लिंग-विचार नहीं रहा है।* हिंदीमें तो अकारान्त पुल्लिंग है, आ-ई, उ अन्तवाले प्राय. स्त्रीलिंग माने जाते हैं, वैसे इस नियमके कई अपवाद भी देखे जा सकते हैं। अग्नि, आत्मा, मृत्यु जैसे पुल्लिंग शब्द भी हिंदीके रूपोंमें स्त्रीलिंग आग, मौत, आत्मा बन गये हैं।

अपभ्रंशमें ही संबंधबोधनके लिए परसर्गोंका प्रयोग होने लगा था, फिर भी वहाँ कुछ तिङ् चिह्न बचे रह गये थे। आ० भा० आ० भाषाओंमें उनका भी लोप हो गया। इस तरह संस्कृतकी आठ विभक्तियाँ यहाँ आकर केवल दो ही रूपोंमें रह गईं:—

[१] प्रातिपदिक रूप [direct form] या कर्ता कारकके रूप।

[२] तिर्यक् रूप [oblique form] या अप्रधान कारक रूप।

आ० भा० आ० भाषाओंमें परसर्ग इन्हीं तिर्यक् रूपोंके साथ प्रयुक्त होते हैं। कर्ता कारक एकवचन तथा बहुवचनके रूप पूर्वी भाषाओंमें एक ही हैं, और इस प्रकार उनके साथ बहुवचन वाचक जन, सकल जैसे शब्द

जोडकर या फिर षष्ठी बहुवचनसे बने परसर्ग 'अन' 'अनि' [सं० ∠ अनाम्] जोडकर बहुवचनका बोध कराया जाता है, लोगनि, घोडवन [भोजपुरी]। पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, सिंधी, मराठीने संस्कृत बहुवचन रूपोंका सर्वथा लोप न कर निजी विकास किया है :—रात् [रात्रिः], रातों [रात्रयः]; बात् [वार्ता], बातें [∠ *वार्तानि] [रा० वार्ता ∠ *वार्तानि]। बाकी रूपोंमें पश्चिमी हिंदी [खड़ी बोली तथा उसकी विभाषाओं] में ने, को, से, का [के, की], में इत्यादि परसर्गोंका प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमी राजस्थानीमें का के स्थानपर रो [रा, री], पञ्जाबीमें दा [दे, दी], गुजरातीमें नो, [ना, नी] तथा मराठीमें चा [चे, ची] पाया जाता है। पूर्वी भाषाओंमें संबंध कारकके लिए क, केर, एर का प्रयोग होता है।

आ० भा० आ० भाषाओंके क्रिया रूप सीधे संस्कृत तिङन्तोंसे नहीं आये हैं। इनके विकासमें संस्कृत कृदन्तोंका बहुत हाथ रहा है। हिन्दीके वर्तमानकालिक क्रिया रूप कृदन्त "अन्त" [अत्] से विकसित हुए हैं। कृदन्त रूपोंके साथ सहायक क्रिया "है" जोडकर वर्तमानकालका बोध कराया जाता है। हिन्दीका वह खाता है संस्कृतके स खादन् [खादन्त*] भवति से विकसित कहा जा सकता है। इसी तरह हिन्दीके भूतकालके रूप संस्कृतके ■ [इत] वाले निष्ठाप्रत्यय रूपोंसे विकसित हुए हैं। यही कारण है कि हिंदीमें जहाँ संस्कृतके कर्मवाच्य रूपोंका विकास हुआ है, वहाँ कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग पाया जाता है, जब कि भाववाच्यसे विकसित रूपोंमें इस परसर्गका प्रयोग नहीं होता—उसने रोटी खाई [तेन रोटिका खादिता], वह सोया [स शयित]। हिंदीके भविष्यत् रूपोंमें 'गा' [गे, गी] वस्तुतः संस्कृत √गम् के क्तप्रत्ययान्त रूप गतः का विकास है। पश्चिमी आ० भा० आ० में से कुछका संस्कृतके भविष्यत् रूपोंसे भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। राजस्थानीमें तीन तरहके भविष्यत् रूप पाये जाते हैं। पढँगो [phɔdɔ. gɔ], पढसी, पढँलो [phɔdɔ: lo], इनमें द्वितीय रूपका विकास पठिष्यति—पढिस्सइ->पढसी [गु० पढशे] यों माना जा सकता है। तीसरा भविष्यत्

रूप ग्रियर्सनके मतानुसार राजस्थानीको विदेशी जातियों [गुर्जरों] की देन है। पूरबकी आ० आ० भाषाओंमें से कईमें वर्तमान रूप सीधे संस्कृत-प्राकृतसे विकसित किये हैं। वैसे भूतकालके रूप वहाँ भी कृदन्तरूपोंसे ही विकसित हुए हैं। किन्तु वहाँ ये 'ल' प्रत्ययसे युक्त पाये जाते हैं। बिहारी तथा भोजपुरीमें 'ल' वाले भूतकालिक कृदंतोंका भूतकालिक प्रयोग देखा जाता है। वैसे भोजपुरीमें–ल् रहित रूप भी पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० १६७ §३१६]। इस प्रवृत्तिका प्रभाव अवधीमें भी देखा जाता है। डॉ० सक्सेनाने नूरमुहम्मदमें कतिपय –ल वाले भूतकालिक रूपोंका संकेत किया है :—'तापस रहइ'; 'गइल सखी तहँ बहिल बयारा' [दे० डॉ० सक्सेना : इवोल्यूशन आव् अवधी पृ० २४६]।

भविष्यत्के बोधनके लिए पूरबी भाषाओंमें संस्कृतके कर्मवाच्य भविष्यत्कालिक कृदन्त '–तव्य' से विकसित '–ब' प्रत्ययवाले रूप देखे जाते हैं। ये रूप बंगला, उड़िया, असमिया और बिहारी तथा भोजपुरीमें क्रमशः –इब तथा –अबके रूपमें पाये जाते हैं। [दे० डॉ० तिवारी §५२७ पृ० २७२] ये –ब वाले रूप पूरबी हिंदीको प्रायः सभी बोलियोंमें मिलते हैं। अवधीमें भी इनका अस्तित्व पाया जाता है। 'घर कइसइ पइठब मइँ छूँछे' [जायसी], 'हरि मानब मइँ करि निज माया' [तुलसी], 'करब मइँ सेवा' [नूरमुहम्मद]। [दे० डॉ० सक्सेना §३०४ पृ० २६१-६२]।

संस्कृतके इस भावी विकासपर विहंगमदृष्टि डालनेसे यह ज्ञात होता है कि चाहे आजकी भारतीय आर्य भाषाओंकी प्रवृत्ति सरलताकी ओर बढ़नेके कारण, इनका रूप व्यवहित हो गया है, फिर भी संस्कृतकी परम्परा अविच्छिन्न रूपमें आज तक पाई जाती है।

———

परिशिष्ट क

[१] वैदिक संस्कृत [ई० पू० १५००]

अग्निमीळे पुरोहितम्,
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥

[मैं पुरोहित [सामने स्थित], यज्ञके ऋत्विक् रूप, देव [प्रकाशशील], देदीप्यमान तेजवाले, होता [देवताओंको बुलानेवाले] अग्नि देवताकी स्तुति करता हूँ ।]

[२] अवेस्ता [ई० पू० ८००]

आ अइर्यमा इश्यो रफ़ड्राइ जन्तू
नर्ब्यइश्चा नइरिब्यश्च जरथुश्त्राहे ।
वङ्हउश् रफ़ड्राइ मनङ्हो । [यस्न ५४।४]

[आ अर्यमा इष्य रब्धु गच्छतु [*गन्तु]
नृभ्यश्च नारीभ्यश्च जरथुत्रस्य ।
वर्मणः रब्धुं मनस] ।

[अभीष्ट अर्यमा पुरुषों तथा स्त्रियोंको प्रसन्न करनेके लिए पधारें, वे जरथुस्त्रकी तथा उन्नत मनकी प्रसन्नताके लिए आयें ।]

[३] पाणिनीय संस्कृत [ई० पू० ६०० के बाद]

अस्ति त्रिदिवतरंगिणी वाराणसी । तत्र प्रतापमुकुटो नाम राजा बभूव । तस्य महादेवी सोमप्रभा नाम । तस्यामनेन राजा वज्रमुकुटो नाम तनयः समुत्पादित । तस्य वज्रमुकुटस्य प्राणसमः सखा सागरेश्वरस्य

साधिविग्रहिकस्य तनयो बुद्धिशरीरो बभूव। तेन मित्रवरेण सह नानाशास्त्राभ्यासङ्कुर्वाणो विविधसुखमनुभवन् कालं नयमानस्तस्थौ।

[स्वर्गङ्गाके समान [पवित्र] वाराणसी नगरी है। वहाँ प्रतापमुकुट नामक राजा था। उसकी महारानी सोमप्रभा थी। उसमें इस राजाने वज्रमुकुट नामवाले पुत्रको उत्पन्न किया। उस वज्रमुकुटका प्राणोंके समान प्यारा मित्र, साधिविग्रहिक सागरेश्वरका पुत्र बुद्धिशरीर था। उस मित्रके साथ नाना शास्त्रोंका अभ्यास करते हुए वह अनेक सुखका अनुभव करता हुआ समय बिताता था।

[४] गाथा संस्कृत [ईसा की द्वितीय-तृतीय शती] या बौद्ध संकर संस्कृत [बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत]

[1]ज्वलित त्रिभव जरव्याधिदुखैं मरणाग्निप्रदीप्तमनाथमिदम्।
गिरिनद्यसम लघुशीघ्रगम व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे॥
सभया सुपिना सद वैरकरा बहुशोकउपद्रव कामगुणा।
असिधारसमा विषपत्रनिभा क्षणिका अलिका विदितार्यजनै॥

[ये तीनों लोक जरा, व्याधि तथा दुःखसे ज्वलित हैं, मृत्यु रूपी अग्निसे जल रहे हैं, तथा अनाथ हैं। संसारमें आयु बड़ी छोटी तथा शीघ्रगामी है, ठीक वैसे ही जैसे पर्वतकी नदी और आकाशमें बिजली। आर्य लोगोंने कामगुणोंको भयंकर, स्वप्नतुल्य, सदा वैर करानेवाले, अनेक शोक व उपद्रववाले, असिधारके समान, जहरीले तीरके समान, तथा क्षणिक और झूठे समझ लिया है।]

---

१ इसमें जरव्याधिदुखैं, आयु, जगे, यथ, विद्यु, नभे, सुपिना, सभया, सद, शोकउपद्रव, अलिका, विदितार्यजनै जैसे रूप शुद्ध संस्कृत नहीं हैं। इनके शुद्ध संस्कृत रूप जराव्याधिदुःखैः, आयु [आयुर्], जगति, यथा, विद्युत्, नभसि, स्वप्ना, सभया, सदा, शोकोपद्रवा, अलीका, विदिता [:], आर्यजनैः होंगे।

[५] अशोक कालकी प्राकृत [ई० पू० तीसरी शती]

देवानप्रियो पियदसि राजा एव आह, कलाए दुकर, ये अदिकरे कलाणेम सो दुकर करोति, त मया बहु कलाण कत।

[गिरनार लेख क ५]

[देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा एवमाह, कल्याण दुष्कर, य आदिकर कल्याणस्य स दुष्कर करोति, तत् मया बहुकल्याण कृत।]

[देवताओके प्रिय प्रियदर्शी राजाने यह कहा है। कल्याण दुष्कर [है]। जो सर्वप्रथम कल्याणका करनेवाला होता है, वह दुष्कर [कामको] करता है। इसलिए मैंने बहुत कल्याण किया है।]

[६] पालि प्राकृत [ईसाकी दूसरी शती]

अतीते बाराणसिय ब्रह्मदत्ते रज्ज कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनिय निब्बत्तित्वा बुद्धि अन्वाय अस्सपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदीतीरे विहरति।

[अतीते वाराणस्या ब्रह्मदत्ते राज्य कुर्वति बोधिसत्त्व कपियोन्या निर्वर्त्य बुद्धिमन्वेत्य अश्वपोतप्रमाण स्थामसम्पन्न एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति]।

[प्राचीनकालमे, जब वाराणसीमें ब्रह्मदत्त राज्य करते थे, बोधिसत्त्व बन्दरकी योनिमे जन्म लेकर बुद्धिसे युक्त होकर, घाडेके बच्चेके समान शरीरवाले तथा बलवाले होकर अकेले नदी तीरपर घूमते थे।]

[७] महाराष्ट्री प्राकृत [ईसाकी प्रथम शतीसे षष्ठ शती]

[१] जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअह णीसहेहि अगेहि।

णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडिव्व[1] कि सुवसि ॥ [गाहासत्तसई]

---

१. पाडो शब्द देशी है। यह शब्द आज भी गुजराती व राजस्थानीमे पाया जाता है, जिसका अर्थ है "भैंसको बच्चो"। इसीका पुंल्लिग रूप पाडो भी प्रचलित है।

[यदि भवसि न तस्य प्रिया अनुदिवस नि सहैरङ्गैः।
नवसूतपीनपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]

[हे सखी, अगर तू उसकी प्यारी नहीं है, तो अलसाये अंगोंमें नये दूधको पीकर मस्त नवप्रसूत पाडीकी तरह दिन भर क्या सोती रहती है ।]

(२) णमह अ जस्स फुडरव कण्ठच्छायाघडन्तणअ णग्गिसिहम् ।
फुरइ फुरिअट्टहास उद्धपडिप्ततिमिर विअ दिसाअक्कम् ॥
[सतुबध]

(नमत च यस्य स्फुटरव कण्ठच्छायाघटमाननयनाग्निशिखम् ।
स्फुरति स्फुरिताट्टहास ऊर्ध्वप्रदीप्ततिमिरमिव दिक्चक्रम् ॥)

[जिन महादेवके कण्ठकी नीली छायासे सबद्ध अग्निशिखावाला, तथा उनके शब्दायमान अट्टहासवाला दिशाओंका चक्रवाल, इसी तरह सुशोभित होता है, मानो अँधेरेके ऊपर प्रकाश प्रदीप्त हो रहा हो, उन महादेवको प्रणाम करो ।]

[८] शौरसेनी प्राकृत [१०० ई० से ६०० ई० तक]

अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्व एव पेक्खसि । को णाम अण्णो धम्म-कचुअ-ववदेसिणो तण-च्छण्ण-कूवोवमस्स तुह अनुकारी भविस्सदि ।
[शाकुन्तल पचम अक]

(अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वमेतत् पश्यसि । को नाम अन्य-धर्मकचुक-व्यपदेशिन तृणच्छायाकूपोपमस्य तव अनुकारी भविष्यति ।)

[अनार्य, तू सभी वस्तुको अपने हृदयके अनुमानसे देखता है । धर्मका कचुक धारण करनेवाले [धर्मका ढोंग करनेवाले], तिनकोंसे ढँके हुए कुएँके समान तेरे जैसे मनुष्यका सहकारी [समानधर्मा] कौन होगा ।]

[९] मागधी [१०० ई० से ६०० तक]

(१) कध अपावे चालुदत्ते वावादीअदि । हगे णिअलेण शामिणा वधिदे । भोदु आक्कन्दामि । शुणध, अय्या, शुणध । अस्ति दाणि मए पावेण पवहण-पलिवत्तेण पुष्फ-कलण्ड-यिण्णुय्याणं वशन्तशेणा णीदा ।

[कथमपाप चारुदत्तो व्यापाद्यते। अये निगडेन स्वामिना बद्ध। भवतु आक्रदामि। शृणुत, आर्याः शृणुत। अस्ति इदानीं मया पापेन प्रवहणप्रतिवृत्तेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यान वसन्तसेना नीता।]

[क्या चारुदत्तको बिना अपराध ही दण्ड दिया [मारा] जा रहा है। अरे, राजाने [स्वामीने] इसे बेडियासे बांध दिया है। अच्छा, चिल्लाता हूँ। सुनो, आर्य, सुनो। अभी अभी गाडीसे लौटे हुए मैंने वसन्तसेना पुष्प करडक जीर्णोद्यानको ओर पहुँचाई है।]

[२] एशे शे शायभलीशल शिबिल-निवेशे। एदश्शि अलक्खिज्जमाण-पय्यन्दे कघ [ला] उल याणिदव्वम्। वयश्श एशे के वि चले व्व दीशदि ता इमावो एदश्श शिबिलश्श शरूव लाउल च याणिश्शम्ह।

[एष स शाकभरीश्वरशिबिरनिवेश। एतस्मिन् अलक्ष्यमाणपर्यन्ते कथ राजकुल ज्ञातव्यम्। वयस्य एष कोऽपि चर इव दृश्यते। तत् अस्मात् अस्य शिबिरस्य स्वरूप राजकुल च ज्ञास्याम।]

[यही तो शाकभरीश्वरकी सेनाका पडाव है। यहाँ आसपासके बारेमें कुछ भी पता नही लगता, अब राजकुलका ज्ञान कैसे होगा? मित्र यह कोई चर [जासूस] सा दिखलाई देता है। तो इससे इस शिबिरके स्वरूपके बारेम तथा राजकुलके विषयमें पता लगालें।]

[१०] अपभ्रंश [पूर्वी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

आगमवेद पुराणें पण्डिआ माण वहति।
पक्क सिरिफले अलिअ जिमि बाहेरीअ भमति॥ [कण्हपा]

---

१ यह द्वितीय उदाहरण उस कालका है, जब प्राकृतका साहित्यिक रूप ही प्रचलित था। अत. प्राकृतकालका शुद्ध उदाहरण पहलावाला ही कहा जा सकता है। उसकी व्याकरणसम्मत विशेषताओंको दृष्टिसे दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है।

[आगमवेदपुराणेषु पण्डिता मान वहन्ति।
पक्वश्रीफले अलय यथा बहिरेव भ्रमन्ति]

[पंडित लोग आगम, वेद तथा पुराणोंके अध्ययनसे ही मानो हो जाते हैं। पर यह तो वैसे है, जैसे भँवर पके बेलके फलके बाहर ही घूमा करते हैं।]

पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ।
देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ
अवणागमण ण तेण विखण्डिअ
सो वि णिलज्ज भणइ हउ पण्डिअ॥ [सरहपा]

[पण्डित सकलानि शास्त्राणि वर्णयति [*वदयति]
देहे बुद्ध वसन्त न जानाति
गमनागमन न तेन विखण्डित
सऽपि निर्लज्जो भणति अहं पण्डित।]

[पंडित समस्त शास्त्रोंका बखान करता है, पर देहमें ही स्थित बुद्ध [आत्मा, ईश्वर] को नहीं जानता। अपने जन्म मरणको वह खंडित न कर सका, फिर भी निलज्ज कहता है—मैं पंडित हूँ।]

[११] अपभ्रंश [पश्चिमी] [६०० ई० से ११०० ई० तक]

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥

[भद्र भूत यत् मारित भगिनि मम कांत
लज्जेय तु वयस्याभ्य यदि भग्नो[1] गृह एत[2]]

[हे सखी, मेरा पति मारा गया, यह अच्छा हुआ। अगर कहीं भगा हुआ घर आता, तो मुझे सखियोंसे लजाना पड़ता।]

---

१ भग्न —भागा।
२ [आ + इत = एत]

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भूंहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥
[पुत्रे जाते कः पुनर्गुणः, अवगुणः कः पुनर्मृतेन ।
यत् पितुः [*वस्तु.] भूमिः आक्रम्यते अपरेण ॥]

[ऐसे पुत्रके पैदा होनेसे क्या लाभ, और मरनेसे क्या हानि, [जिसके रहते हुए] पिताकी भूमि दूसरा चाँप ले।]

[१२] अवहट्ट [प्राकृतपैंगलंकी परवर्ती अपभ्रंश]

[११०० ई० से १३०० ई० तक]

पअभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ
कमठ पिट्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ
कोहे चलिअ हम्मीर बीर गअजूहसंजुत्ते
किअउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छहके पुत्ते ॥

[पादभरेण दलिता धरणी तरणिरथः धूलिभिः छादितः
कमठपृष्ठं [स्फुटितं] मेरुमंदरशिरः कंपितं
क्रोधेन चलित हमीरवीरः गजयूथसंयुक्तः
कृतः कष्टं हाक्रन्दः मूर्छित्वा म्लेच्छानां पुत्रैः ।

[जब वीरहमीर हाथियोंकी सेनासे युक्त होकर क्रोधके साथ चला, तो पृथ्वी पैरोंके बोझसे दब गई, सूर्यका रथ धूलसे ढँक गया, कमठकी पीठ तड़क गई और सुमेरु तथा मंदरकी चोटी हिल गई; म्लेच्छोंके पुत्रोंने [अर्ध] मूर्छित होकर कष्टके साथ आक्रंद किया ।]

परिशिष्ट ख

संस्कृत, ग्रीक तथा लैतिनके समानान्तर शब्द रूप

[१] सं० अकारान्त [ग्रीक लै० ओकारान्त] शब्द
[पुंलिंग तथा नपुंसक]

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
प्रातिपदिक	अश्व [पु०]	हिप्पो [पु०]	एक्वो [पु०]
	युग [नपु०]	जुगो [नपु०]	जुगो [नपु०]
ए० व०			
कर्ता	अश्व-स् [अश्व]	हिप्पो-म्	एक्वोस् [एक्वूस्]
	युग-म्	जुगो-न्	जुगु-म् [जुगोम्]
कर्म	अश्व-म्	हिप्पोन्	एक्वो-म्
	युग म्	जुगो न्	जुगु-म्
करण	अश्वेन [वै० अश्वा]	[पोन्तोफि]	×
सम्प्रदान	अश्वाय	हिप्पो-ओइ, हिप्पो	एक्वोइ = एक्वो-ओइ एक्वो
अपादान	अश्वात्	हिप्पो-ओ, हिप्पोउ	एक्वोइ, एक्वी, एक्वो [द्]
सम्बन्ध	अश्वस्य	हिप्पो-[स्] इओ	एक्वो-इस्
अधिकरण	अश्वे [अश्व-इ]	[ओइको-इ, ओइकोइ]	[दोमि = दोमो-इ?] [= सं० दमे]
सम्बोधन	अश्व [युगम्]	हिप्पे [= हिप्पो-] जुगो-न्	एक्वे [एक्वो] जुगु-म्

	संस्कृत	ग्रीक	लैतिन
द्वि० व०			
कर्ता-कर्म	अश्वा-अश्वौ	हिप्पो-ऐ, हिप्पो	×
करण, सम्प्रदान, अपादान	अश्वाभ्याम्	हिप्पो इन्	×
संबंध-अधिकरण	अश्वयो	×	×
ब० व०			
कर्ता	अश्वा-स् [अश्वा] [वै० अश्वास] युगानि [नपुं०] [वै० युगा]	हिप्पो-इ जुगा [नपुं०]	[ऐक्वी ऐस्, ऐक्वेइस्] ऐक्वी जुग्-अ = जुग
कर्म	अश्वान् [= अश्वान्-स्]	हिप्पोउस् = हिप्पोन्-स्	ऐक्वोस् = ऐक्वोम्-स्
	युगानि	जुगा	जुग
	स०	ग्री०	लै०
करण	अश्वै [वै० अश्वेभि.]	[थेओ-फिन्]	×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वे-भ्य [-भ्यस्]	×	×
सम्बन्ध	अश्वानाम् [= अश्वा न्-आम्]	[हिप्पो-ओन्] हिप्पोन्	एक्वो-रुम् ऐक्वूम् = एक्वो-ओम्

अधिकरण	अश्वेषु	हिप्पॅाइ-सि हिप्पॅाइ-म्	[एक्वॅा, इस्] एक्वीस्

[२] सं० आकारान्त [ग्रीक, लै० अकारान्त] शब्द [स्त्रीलिंग]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अश्वा	खोर– [देश]	ऍक्व– [घोड़ी]
एक वचन			
कर्ता	अश्वा	खोर	ऍक्व
कर्म	अश्वाम्	खोर-न्	ऍक्व-म्
करण	अश्वया [वै० अश्वा]	[बिए-फि]	×
सम्प्रदान	अश्वायै [वै० अश्वाइ]	खोरइ [खोर-अइ]	ऍक्वऍ
अपादान-सबंध	अश्वाया	खोर-स् [जेनेटिव] × [एब्लेटिव]	[ऍक्व-इस्- एक्वास्] ऍक्वइ, एक्वऍ [जेने०] ऍक्वा [द्] [एब्ले०]
अधिकरण	अश्वायाम्	[खमा-इ]	[रोमए = रोम- ? = रोममें]
द्वि० व०			
कर्ता	अश्वे	खोरा	×
करण, सम्प्रदान, अपादान	अश्वाभ्याम्	खोर-इन्	×
सबंध, अधिकरण	अश्वयो [–योस्]	×	×

ब० व०			
कर्ता	अश्वास् [अश्वाः]	ख़ोरइ	एक्व-ऐस्, ऐक्वास्
कर्म	अश्वास् [अश्वाः]	ख़ोरास् [—न्स्]	ऐक्वास् [—स्म्]
करण	अश्वाभि. [—भिम्] [—फिन्]		×
सम्प्रदान-अपादान	अश्वाभ्यः [—भ्यस्]	×	ऐक्व-बुस्
संबन्ध	अश्वानाम् [वै० अश्वाम्]	ख़ोरोन्	ऐक्व-रम्
अधिकरण	अश्वेषु	ख़ोरइ-सि ख़ोरइ-स्	[ऐक्व-इस्] ऐक्विस्

[२] इकारान्त रूप [पु०, स्त्री०, नपुं०]

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	अवि [पु० स्त्री०]	पोलि [स्त्री०] [=नगर]	ओवि
	वारि [नपुं०]	इद्रि [विशेषण]	मरि [नपुं०]
ए० व०			
कर्ता	अवि-स्, वारि [न०]	पोलिस्, इद्रि [न०]	ओवि-स्, मरे [न०]
कर्म	अवि-म्, वारि [न०]	पोलिन्, इद्रि	ओवे-म्, मरे
करण	अविना [पु०]	×	×
	अव्या [स्त्री०]		
	वारिणा [नपु०]	×	×
सम्प्रदान	अवये [पु०], अव्यै	×	ओवी
	[स्त्री०], वारिणे [न०]	×	×

अपादान	अवे, अव्या [स्त्री०]	×	ऑवि [द्]
	वारिण [न०]	×	मरि-[द्]
सम्बन्ध	अवेः, अव्याः [स्त्री०] ओस्, वारिण. [न०]	पोलि-ओम्, पोले-ओस्, पोलेयोस्	ऑविम् ×
अधिकरण	अवौ, अव्याम् [स्त्री०], वारिणि [न०]	× पोले-ई, पोलेइ, पोले-ई	
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	अवी, वारिणी	पोलि-ए, पोलेए	×
करण, सम्प्र०, अपा०	अविभ्याम्	पोलि-ओ-इन्	×
सबध अधिकरण	अव्यो., वारिणो	×	
ब० व०			
कर्ता	अवय, वारीणि	पोले-एस्, [=पोलेयेस्] पोलि-एस्, पोलेइस् इद्रि-अ [न०]	ऑवेस् मरि-अ [न०]
कर्म	अवीन् [पु०], अवी [स्त्री०] वारीणि [न०]	पोले-अम्, पोले-इस् इद्रि-अ	ऑवेस् मरिअ
करण	अविभिः [-भिस्]	×	×
सम्प्र०, अपा०	अविभ्य [-भ्यस्]	×	ऑवि बुस्
सबध	अवीनाम्	पोलि ओन्, पोले-ओन्	ऑवि-उम्

अधिकरण	अविषु	पोलि-सि, पोले-सि, पोलि ऐ-स्सि	×

नोट :—यहाँ हमने स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग शब्दोंके उन्हीं रूपोंका संकेत किया है, जो पुल्लिंग शब्दोंके तत्तत् विभक्तिके तत्तत् वचनान्त रूपोंसे भिन्न होते हैं। अन्यरूप पुलिंग रूपोंके समान होनेसे उनका संकेत अनावश्यक समझा गया है, यही कारण है, यहाँ वारिभि., वारिभ्य, वारिषु जैसे रूपोंका कोई संकेत नहीं है, क्योंकि उनका संकेत अविभि, अविभ्य, अविषु जैसे रूपोंसे मिल जाता है।

[४] ध्वनियुग्मान्त शब्दों [Diphthongal stems] के रूप

	संस्कृत	ग्रीक	लै०
प्रातिपदिक	१ नौ	नाउ	[नवि]
	२. गो	बोउ	बोउ [बो-वि]
ए० व०			
कर्ता	नौ-स् [नौ]	नाउस्	नवि-स्
	गौ	बोउस्	बोस् [बोउस्]
कर्म	नावम्	नेव, नऽ-न्	नवेम्
	गावम्	बोउ-न्	बोवेम्
करण	नावा	नाउफि	×
	गवा	×	×
सम्प्रदान	नावे	×	×
	गवे	×	बोवि
अपादान	नाव. [—आस्]	×	नावे [द्]
	गो [—स्]	×	बोवे [द्]
संबध	नाव.	नेवोस् नेओस्	नविस्
	गोः	बोवोस्	बोविस्

सम्प्र० अपा०	वाग्भ्य [=*वाच्भ्यः]	×	वोकिवुस्
सम्बन्ध	वाचाम्	ओपोन्	वोकुम्
अधिकरण	वाक्षु	ओप् सि [द्वित्व]	×

प्रातिपदिक

[२] सं० भरत् [भरन्त्] [पुं० नपुं०], ग्रीक फेरोन्त् [पुं० नपुं०] लैं० फेरेन्त् [पुं० स्त्री० नपुं०]

	सं०	ग्रो०	लैं०
ए० व०			
कर्ता	भरन्, भरत् [नपुं०]	फेरोन् [-ओन्त् स्]	फेरेन् [त्] स्
कर्म	भरन्तम्, भरत् [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त् अ]	फेरेन्तम्
करण	भरता	×	×
सम्प्रदान	भरते	×	फेरेन्ति
अपादान	भरतः [भरत्-अस्]	×	फेरेन्ते [द्]
सम्बन्ध	भरतः	फेरोन्तोस् [०न्त्-ओस्]	फेरेन्तिस्
अधिकरण	भरति	फेरोन्ति	×
द्वि० व०			
कर्ता कर्म	भरन्ता, भरन्तौ भरन्ती [नपुं०]	फेरोन्ते [०न्त् ए]	×
करण, सम्प्र० अपादान	भरद्भ्याम् [=*भरत्भ्याम्]	फेरोन्तोइन्	×
सम्बन्ध, अधिकरण	भरतोः	×	×

कर्ता	भरन्त- [भरन्त्-अस्]	फेरोन्तस्, फेरेन्तस् [-फेरेन्तिएस्]
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
कर्म	भरतः	फेरोन्तस् [०न्त्-अस्] फेरेन्तस्
	भरन्ति [नपुं०]	फेरोन्त [०न्त्-अ]
करण	भरद्भिः	[–फिन्]
सम्प्र०-अपा०	भरद्भ्य-	× फेरेन्ति-बुस्
संबंध	भरताम्	फेरोन्तोन् फेरेन्तिम् [फेरेन्तुम्]
अधिकरण	भरत्सु	फेरोन्त्सि [–फेरोउसि] ×

नोट:—संस्कृतमें 'भरन्त्'के स्त्रीलिंग रूपोंमें 'ई' प्रत्यय जुड़कर 'भरन्ती' बनता है, जिसके रूप वृकी, देवी जैसे ईकारान्त स्त्री० शब्दोंकी तरह चलते हैं। ग्रीकमें स्त्रीलिंगमें 'य' प्रत्यय जुड़ता है। ग्रीकमें सं० भरन्तीके समानान्तर प्रातिपदिक 'फेरोन्त्य' तथा 'फेरोउस' हैं, जिनके रूप अकारान्त स्त्रीलिंग शब्द 'खोर' [Xora] की तरह चलते हैं। लैतिनमें पु०, स्त्री०, नपुं० तीनोंमें ये एकसे बने रहते हैं।

सं० मनस् [न०], दुर्मनस् [पु० स्त्री०], ग्रीक मेनोस् [न०], दुस्मेनेस् [पु० स्त्री०]

	सं०	ग्रीक
ए० व०		
कर्ता	मनस् [मन] [न०]	मेनोस्
	दुर्मनाः [दुर्मनाम्] [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्
कर्म	मनस् [मन]	मेनोस्
	दुर्मनसं [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेस्-अ [०स], दुस्मेनेसअ, [०से]

करण	मनसा [दुर्मनसा]	[–फि]
सम्प्रदान	मनसे [दुर्मनसे]	×
अपादान	मनसः [दुर्मनसः]	×
सम्बंध	मनसः [दुर्मनस.]	मेनेस्,मेनोस्, मेनोओास्, मेनेउस्
अधिकरण	मनसि [दुर्मनसि]	मेनेसि, मेनेइ
सबोधन	मनः [दुर्मनाः]	मेनोम्, दुस्मेनेस् [पु० स्त्री०]
द्वि० व०		
कर्ता-कर्म	मनसी	[मेनेसे], मेने
	दुर्मनसा-दुर्मनसी	दुस्मेनेसे, दुस्मेने
करण, सम्प्र० अपा०	मनोभ्याम् [दुर्मनोभ्याम्]	मेनेसोाइन्, मेनेसोाएरिन्
संबंध, अधिकरण	मनसोः [दुर्मनसोः]	×
ब० व०		
कर्ता	मनांसि [न०]	मेनेस [स-अ], मनेसेअ, मेने
	दुर्मनसः [पु० स्त्री०]	दुस्मेनेसेस्
कर्म	मनांसि	मेनेस [स्-अ], मेने
	दुर्मनस.	दुस्मेनेसस् [०स्-अस्]
करण	मनोभिः [दुर्मनोभि.]	[मेनेस्-फि]
सम्प्र०-अपा०	मनोभ्यः [दुर्मनोभ्यः]	×
संबंध	मनसा [दुर्मनसा]	मेनेसोन् [मनस्-ओन्],
अधिकरण	मनःसु [दुर्मनःसु]	मेनेस्-सि, मेनेसि

सर्वनाम शब्दोंके रूपोंका तुलनात्मक परिचय

[१] उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम

	सं०	ग्रीक	लैटिन
ए० व०			
कर्ता	अहम्	ऐगोन्, ऐगो	ऐगो
कर्म	माम्, मा	ऐ-मे, मे	मे
करण	मया	×	×
सम्प्रदान	मह्यं, [मे]	ऐमिन् [ऐमे-फिन्]	मि-हइ, मिहि
अपादान	मत्	×	मेद्
संबंध	मम, [मे]	ऐमेइओ, ऐमोउ, मोउ, ऐमोउस् [मइ ?]	
अधिकरण	मयि	ऐमो-इ, मो-इ	मइ
द्विवचन			
कर्ता, कर्म	आवाम्; आवाम्, नौ	नोइ, नो	×
करण, सम्प्र०, अपादान	आवाभ्याम्; नौ [सम्प्र०]	नो-इन्, नोइन्	×
सम्बन्ध, अधिकरण	आवयोः, नौ [संबंध]	×	×
बहुवचन			
कर्ता	वयं, अस्मे [वैदिक]	अम्मेस् [अस्मिस्] हेमे-ऐस् [हेमिस्] हेमेइस्	नोस् [?नोस्]
कर्म	अस्मान्, नः	अम्मे, हेमेअस्, हेमस्	नोस्
करण	अस्माभिः	×	×

सम्प्रदान	अस्मभ्यं, नः	अस्मिन् [अम्मि-फिन्] हेमिन्	नो-बिस्
अपादान	अस्मात्	×	नो-बिस् [देतिव]
संबंध	अस्माकं, नः	हेमेइओन्, हेमे-ओन् हेमोन्	नास्त्रि, नोस्त्रुम्
अधिकरण	अस्मासु	×	×

[२] मध्यम पुरुष वाचक सर्वनाम

	स०	ग्री०	लै०
एक वचन			
कर्ता	त्वम्	तु, सु,	तु
कर्म	त्वाम्, त्वा	ते, से [= त्व]	ते = त्वे–म्
करण	त्वया	×	×
सम्प्रदान	तुभ्यं [ते]	तेइन् [तेइ-फिन्]	तिब्धेइ, तिबि
अपादान	त्वत्	×	तेद् [= तेइ-द्]
संबंध	तव [ते]	तेओइओ [= तेवोस्यो] सेइओ, सेओ, सोउ, सेउ, तेओउस्	[तुई ?]
अधिकरण	त्वयि	सोइ [त्व-इ]	तुइ [मूलतः जेनेतिव]
द्वि० व०			
कर्ता	युवाम्	स्फोइ, स्फो	×
कर्म	युवाम्, वाम्		×
करण, सम्प्र० अपा०	युवाभ्याम् वाम् [सम्प्र०]	स्फो-इन् [स्फोइ-फिन्] स्फोइन्	×
संबंध, अधि०	युवयोः वाम् [संबंध]	×	×

ब० व०			
कर्ता	यूयम्, युष्मे [वैदिक]	उम्मेस्, ह्युमेऐस्, ह्युमेइम्	वोम्
कर्म	युष्मान्, व	उम्मे, ह्युमेअस्, ह्युमइस्	थांस्
करण	युष्माभिः	×	×
सम्प्रदान	युष्मभ्यं, वः	उम्मि [म्मि-फिन्] ह्युमिन्	वो-बिस्
अपादान	युष्मा	×	वो-बिस् [मूलतः देतिव]
संबंध	युष्माकं		वोस्त्रुम्
	वः	ह्युमेइओन्, ह्युमेओन्, ह्युमोन्	वोस्त्रि
अधिकरण	युष्मासु	×	×

[३] अन्य पुरुष वाचक सर्वनाम

[क] पुल्लिंग तथा नपुंसकलिंग

	सं०	ग्रीक	लैटिन
प्रातिपदिक	त–	तो–	इस्-तो–[इ + म + त]
ए० व०			
कर्ता	स, तत् [न०]	हो [स], तो [न०]	इस्तुम्, ईस्ते, इस्तुद् [न०]
कर्म	तम्, तत् [न०]	तोन्, तो [न०]	इस्तुम्, इस्तुद् [न०]
करण	तेन	×	×
सम्प्र०	तस्मै	तोअइ = तो-ओइ	*इस्ति ? = इस्ताएइ क्वोइएइ

अपादान	तस्मात्	[तोस्=तोन्]	इस्तो-द्
संबंध	तस्य	तोइओ, तोउ	इस्तिउस् [इस्तो-इ-ओस्]
अधिकरण	तस्मिन्	[होइ=हो-इ]	*इस्ति ? = इस्तोइ = हुमि, बवोइ
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	तौ [ता], ते [न०]	तो	
करण, संप्र० अपा०	ताभ्याम्	तोइन्	
संबंध, अधिकरण	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ते, तानि [न०]	तोइ, होइ, त [न०]	इस्तो, इस्त, [न०]
कर्म	तान्, तानि [न०]	तोन्स्, तोउस्, त [न०]	इस्तास् इस्त [न०]
करण	तैः	×	×
सम्प्र०, अपा०	तेभ्यः	×	[बिस-बुस्, हि-बुस्, हाइ-बुस्]
संबंध	तेषाम्	तोन्	इस्तो-रुम्
अधिकरण	तेषु	तोइ-सि, तोइस्	इस्तिस् [बवइस]

[ख] स्त्रीलिंग रूप

	सं०	ग्रीक	लैतिन
ए० व०			
कर्ता	सा	हे	इस्त, बव-इ [बवए]
कर्म	ताम्	तेन्	इस्तम्
करण	तया	[हेफि]	×

सम्प्र०	तस्यै	तेइ	इस्ति
अपादान	तस्याः	×	इस्ता-[द्]
संबध	तस्याः	तेस्	इस्तीउस्
अधिकरण	तस्याम्	तेइ	इस्ति
द्वि० व०			
कर्ता, कर्म	ते	त	×
करण, सम्प्र० अपादान	ताभ्याम्	त-इन्	×
संबंध, अधि०	तयोः	×	×
ब० व०			
कर्ता	ताः	तइ	इहस्तऍ
कर्म	ताः	तस्	इस्तास्
करण	ताभिः	×	×
सम्प्र०, अपा०	ताभ्यः	×	×
संबन्ध	तासाम्	त-ओन्, तोन्	इस्ता-रुम्
अधिकरण	तासु	तेइ-सि, तइस्	इस्तीम्

संस्कृत, ग्रीक तथा लैटिन तिङ् विभक्तियाँ

[१] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ :—परस्मैपदी

उ० पु० ए० व० सं०—मि, ग्री०—मि, ओ, लै०—म्, –ओ
[भरामि, ददामि], [दिदोमि, फेरो], [सुम्, सं० अस्मि], फेरो]

द्वि० व० सं०—वः × ×
[भराव, दद्वः] × ×

ब० व० सं०—मः ग्री० मेस् [दोदिरिक], लै० मुस्
मेन् [इतिक],

[भरामः, दद्मः]	[फेरोमेन्, दिदोमेन्]	[सुमुस्, फेरिमुस्]
म० पु० ए० व० सं०—सि,	ग्री०—सि, एइस्	लै०—स्
[भरसि, ददासि]	[दिदोसि, फेरेइस्]	[फेर्स]
द्वि० व० सं०—थः	ग्री०—तोन्	×
[भरथः, दत्थः]	[फेरेतोन्, दिदोतोन्]	×
ब० व० सं०—थ	ग्री०—ते	लै०—तिस्
[भरथ, दत्थ]	[फेरेते, देदोते]	[फेर्तिस्]
प्र० पु० ए० व० सं०—ति,	ग्री०—ति, –सि,	लै०—त्
[भरति, ददाति]	[एस्ति, तिथेति, फेरेसि] [दोरिक, दिदोति, एतिक, दिदोसि]	[इस्त्, फेर्त]
द्वि० व० सं०—तः	ग्री०—तोन्	×
[भरतः, दत्तः]	[फेरेतोन्, दिदोतोन्]	×
ब० व० सं०—न्ति,	ग्री०—न्ति [दोरिक], –उसि [एतिक]	लै०—न्त्
[भरन्ति, ददति]	[फेरोन्ति [दो०] फेरोउसि [ए०] दिदोउसि]	[फेरन्त्]

[२] मुख्य तिङ् विभक्तियाँ : आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०—ए [भरे]	ग्रीक —मइ [फेरोमइ]	×

द्वि० व० सं०–वहे [भरावहे], ग्रीक–मेथॅान् [जा मूलत व० व० रूप ही है] [फ़ेरोमॅथान्]

ब० व० सं०–महे [भरामहे], ग्रीक–मथ [फ़ेरोमथ] ∠*मधइ

म० पु० ए० व० सं०–से [∠*सइ] [भरसे], ग्रीक–सइ,–एइ [फ़ेरॅइ ∠*फ़ेरसइ]

द्वि० व० सं०–एथे [भरेथे], ग्रीक–स्थॅान्, –स्थेन् [फ़ेरॅस्थान्, फ़ेरॅस्थेन्]

ब० व० सं०–ध्वे [भरध्वे], ग्रीक–स्थे [फ़ेरॅस्थे]

प्र० पु० ए० व० सं०–ते [भरते], ग्रीक–तइ [फ़ेरॅतइ]

द्वि० व० सं०–एते [भरेते], ग्रीक–स्थॅान्, स्थेन् [फ़ेरॅस्थॅान् फ़ेरॅस्थन्]

ब० व० सं०–अन्ते [भरन्ते], ग्रीक–न्तइ, –ग्रतइ [फ़ेरॅान्तइ, [ग्रासते] हॅग्रतइ]

लैतिनमें स्वतन्त्र आत्मनेपदी तिङ् चिह्न नहीं होते, वहाँ 'र्' जोड़ दिया जाता है, जैसे, ग्रमोर्, ग्रमरिस्, ग्रमतुर्, ग्रमगुर्, ग्रमन्तुर्। [दे० Papillon: Comparative philology applied to Greek and Latin p. 178]

[२] गौण तिङ् चिह्न : परस्मैपदी :—

उ० पु० ए० व० सं०–म् [अ-भ-रम्] ग्रीक–न् [ऍ-फ़ेरॅा न्]

द्वि० व० ,,–आव [अ भराव] ×

ब० व० ,,–आम [अ-भराम] ग्रीक–मॅन् [ऍ-फ़ेरॅा-मॅन्]

म० पु० ए० व० सं०–स् [ ] [अ-भर-: [स्]],–स [ऍ-फ़ेरॅ-स]

द्वि० व० ,,–तम् [अ-भर-तम्] ग्रीक–तॅान [ऍ-फ़ेरॅ तॅान्]

ब० व० ,,–त [अ-भर-त] ,,–तॅ [ऍ-फ़ेरॅ-तॅ]

प्र० पु० ए० व० सं०–त् [अ-भर-त्] ग्रीक–त् [ऍ-फॅरॅ-त्]

द्वि० व० ,,–तताम् [अ-भर-तम्], ,,–तान् [ऍ-फॅरॅ-तेन्]

ब० व० ,,–न् [अ-भर-न्] ,,–न् [∠ *न्त],-सन् [∠ *सन्त्]

[ऍ-फॅरो-न् ; ऍ-लुस-सन्]

लैतिनमें गौण चिह्न तथा मुख्य चिह्नोंमें कोई भेद नही रहा है, क्योंकि यहाँ आकर मुख्य चिह्न-म्,-स्,-त् हो गये हैं। लैतिनमें भूतकालका द्योतक अगम [augment] 'अ' [ग्रीक तथा प्रा० भा० यू० *ऍ] प्रायः लुप्त हो गया है, इसके अवशेष केवल उन चार क्रियारूपोंमें पाये जाते हैं, जिनके आदिमें स्वरध्वनि पाई जाती है'—एगि [egi], एपि [epi], एमि [emi], -एपि [-epi, in co epi]। [दे० King and Cockson p. 156].

[४] गौण तिङ् चिह्न, आत्मनेपदी :—

उ० पु० ए० व० सं–ए [अ-भरे] ग्रीक–मेन् [-मेत्] [ऍफॅरॅमेन्]

द्वि० व० ,,–वहि [अ-भरावहि] ,,–मॅथोन् [ऍ-फॅर-मॅथोन्]

ब० व० ,,–महि [अ-भरामहि],,–मॅथ [ऍ-फॅरॅमॅथ]

म० पु० ए० व० सं०–था: [अ-भर-था:] ग्रीक–सो [ऍ फॅरॅ-सो]

द्वि० व० ,,–एथाम् [अ-भरेथाम्] ,,–स्थोन् [ऍ-फॅरॅ-स्थोन्]

ब० व० ,,–ध्वम् [अ-भर-ध्वम्] ,,–थॅ [-स्थॅ] [ऍ-फॅरॅ-स्थॅ]

प्र० पु० ए० व० सं०–त [अ-भर-त] ग्रीक–तो [ऍ-फॅरॅ-तो]

द्वि० व० ,,–एताम् [अ-भरे-ताम्] ,,–स्थेन् [ऍ-फॅरॅ-स्थेन्]

ब० व० ,,–न्त [अ-भर-न्त] ,,–न्तो,-अतो [ऍ-फॅरो-न्तो]

–अत [आसत] [हॅ़अतो]

संग्राह्य पुस्तक-सूची

१. Otto Jespersen : Language its Origin, Development and Nature.

२ Bloomfield : Language.

३. Marcel Cohen ; Le Langage.

४. Saussure : Cours de Linguistique Generale.

५. Otto Jespersen : The Philosophy of Grammar.

६. Daniel Jones : An outline of English Phonetics.

७. Bloch : L'Indo-Aryen

८ A. Meillet : Introduction a l'etude Comparative des langues Indo-europeenes.

९. A. Thumb : Handbuch des Sanskrit.

१०. Wackernagel : Altindische Grammatik. (Vol. I, II, III).

११ Ghosh : Linguistic Introduction to Sanskrit.

१२. T. Burrow : Sanskrit Language.

१३. Edgerton : Phonology of Indo-European.

१४. Sturtevant : Indo-Hittite Laryngeals.

१५ Hudson-Williams : Introduction to the study of Comparative Grammar.

१६. Atkinson : Greek Language.

१७ Buck : Comparative Grammar of Greek and Latin

१८ King and Cockson : Comparative Grammar of Greek and Latin.

१९ Papillon : Comparative Philology applied to Greek and Latin.

२० Pischel : Prakrit Sprachen.
२१ Woolner Introduction to Prakrit.
२२ Macdonell Vedic Grammar.
२३ Dr. Chatterjea : Origin and Development of Bengali Language.
२४. " : Indo-Aryen and Hindi.
२५ Dr Saksena : Evolution of Awadhi.
२६. Dr Tagare A Historical Grammar of Apabhramsa.
२७. Dr Allen Indo-European primary affix 'Bh' (Trans of Philological Society of Great Britain 1950)
२८. Mathews Soviet Contribution to Linguistic thought (Archivum Linguisticum Vol 2 pt. I-II)
२९ डॉ० तिवारी भोजपुरी भाषा और साहित्य
३० शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य
३१. शुक्लयजु प्रातिशाख्य (उव्वट भाष्य सहित)
३२ तैत्तरीयप्रातिशाख्य
३३. अथर्वप्रातिशाख्य
३४. पाणिनिशिक्षा
३५ माध्यन्दिनीशिक्षा
३६ केशवीशिक्षा
३७. सिद्धांतकौमुदी
३८. वररुचि प्राकृतप्रकाश
३९ मार्कण्डेय प्राकृतसर्वस्व
४०. हेमचन्द्र शब्दानुशासन (अष्टम अध्याय)
४१. चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी